जैनश्रमण

स्वरूप और समीक्षा

पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि
दुक्ख परिमोक्खं

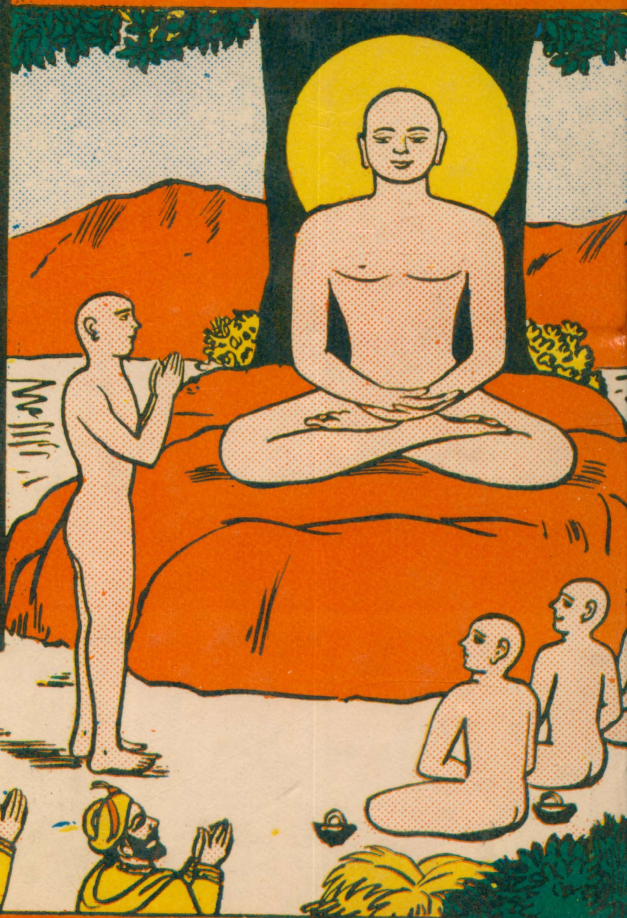

लेखक - डॉ० योगेश चन्द्र जैन

जैन श्रमण : स्वरूप और समीक्षा

लेखक

डॉ. योगेशचन्द्र जैन

शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य (गोल्डमेडलिस्ट)

धर्मालंकार, एम.ए., पी-एच.डी.

भूमिका-लेखक

पं. श्री फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री

वर्तमान में हस्तिनापुर।

प्रकाशक

मुक्ति प्रकाशन

अलीगंज (एटा) उ.प्र.

प्रथम संस्करण : 3200 महावीर निर्वाणोत्सव, 18 अक्टुबर, 1990.

© सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य : तीस रुपये मात्र

मुद्रक : राजेश्वरी फोटोसेटर्स (प्रा.) लि.,
२/१२, पंजाबी बाग, नई दिल्ली—२६

प्रकाशकीय :-

मुक्ति हमें नहीं चाहिए, क्योंकि हम मुक्त स्वभावी हैं। बस, हमें इस बात की श्रद्धा अन्तर में समानी है जाग्रत करनी है, और यहीं से मुक्ति की शुरूआत होती है। इसकी पूर्णता ही मुक्ति है, जो मुक्त स्वभाव का प्रकाशन मात्र है। वस्तु स्वातन्त्र्य के इस तथ्य को जन हित में प्रचारित करते हुए लोकोपकारी साहित्य को प्रकाशित करते रहना ही "मुक्ति प्रकाशन" का मुख्य लक्ष्य है, और हम उसकी ओर अग्रसर हुए हैं। जिसके प्रयास रूप में इस संस्थान का यह पुष्प है। उस मुक्ति पथ पर चलते हुए "मुक्तिदूत" के व्यक्तित्व पर हुए इस शोध कार्य को प्रकाशित हुए हम अत्यधिक गौरव व प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं।

डॉ. योगेश चन्द्र जैन दर्शन के उदीयमान विद्वान लेखक व वक्ता हैं, साथ ही समन्वयवाणी के सह-सम्पादक भी हैं। इनके लगभग 15 शोध-निबन्ध विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। इनके कुशल सम्पादन में सज्जनचित्त वल्लभ, अध्यात्म अमृत, कुन्दकुन्द सूक्तिसुधा, (हिन्दी, गुजराती, कन्नड़) चर्चा संग्रह आदि ग्रन्थ विभिन्न प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं। और " जैन दर्शन में बन्ध-मोक्ष" इनकी अत्यधिक प्रशंसित कृति है। इस तरह पंच पुष्पों के रूप में चौतीस हजार प्रतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। जो इनकी लोकप्रियता का प्रमाण है। अब हमें इनकी कृति "जैन श्रमण : स्वरूप और समीक्षा" को प्रकाशित करते हुए प्रसन्नता हो रही है। हमारे आग्रह पर इसको और अधिक परिवर्धित व परिष्कृत किया गया है, जिससे यह एक नये रूप में प्रस्तुत हो रहा है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में हमें अनेक लोगों ने सहयोग दिया है। जिसमें श्री जयन्तीलाल जी दोशी बम्बई द्वारा दस हजार रूपये का सहयोग प्रकाशनार्थ प्राप्त हुआ है। अतः हम उनके आभारी हैं। इसके अलावा इसकी कीमत कम करने में भी जिन लोगों ने सहयोग दिया है, उनके भी हम आभारी हैं। उनकी सूची पृथक से ही अन्यत्र दी जा रही है।

अन्त में, इस पुस्तक के प्रकाशन में संस्था को जिन-जिन लोगों ने प्रत्यक्ष परोक्ष रूप से सहयोग दिया है, उनके प्रति आभार व्यक्त करते हैं, तथा भविष्य में भी इसी तरह "मुक्ति प्रकाशन" को सहयोग करते रहेंगे, ऐसी आशा और अपेक्षा के साथ --------।

निदेशक
राजेश चन्द्र जैन
एम.ए.
मुक्ति प्रकाशन, अलीगंज, (एटा)
(उ.प्र.) 207247

प्रकाशन में सहयोग देने वालों की सूची

15000/- श्री हुकमचन्द्र जी जैन, जैन मैटल वर्क्स, इटावा उ.प्र.
10000/- श्री जयन्ती भाई दोशी दादर, बम्बई

कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

2000/- श्री जयन्ती भाई जी दोशी, बम्बई
1500/- स्व. श्रीमती रतनबेन पदमशी, घाटकोपर बम्बई
1000/- श्रीमती सरला देवी जैन W/o स्व. श्री सुखपाल जी जैन, कानपुर
501/- भाईलाल ईश्वरलाल शाह, रूपरेखा स्टोर्स, मेहसाणा
501/- मणिभाई भोलाभाई शाह मुनई, भीलोडा, उ. गुजरात
201/- हीरालालचन्दूलाल जी, मेहसाणा (गुजरात)
151/- मिश्रीलाल जी विलाला, किशनपोल बाजार, जयपुर
101/- नेमीचंद जी जैन, शाखा प्रबन्धक, बैंक ऑफ बडौदा, रामगढ़ (राज.)

समर्पण

परमादरणीय पिताश्री

पण्डित श्रीमान् गम्भीरचन्द्र जी जैन वैद्य

एवं

माताश्री

श्रीमती प्रकाशवती जैन

को

सादर समर्पित

जिनके गम्भीर प्रकाशयुक्त सुसंस्कारों ने

मुझे

योगेशों पर आस्थावान बनाया।

भूमिका

सम्पूर्ण जिनागम चार अनुयोगों में विभक्त है। उनके नाम हैं (1) प्रथमानुयोग, (2) करणानुयोग, (3) चरणानुयोग, (4) और द्रव्यानुयोग। उनमें से चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग में निकट का सम्बन्ध है, क्योंकि बाह्यदृष्टि से विचार करने पर शरीर और आत्मा का एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध होने से शारीराश्रित क्रिया के साथ आत्मा के उपयोग में विषय और कषाय के प्रति रुचि और अरुचि होना सम्भव है। करणानुयोग उनके रुचि और अरूचिरूप तारतम्य अवस्था का प्रतिपादन करता है। इसलिए जीवन निर्माण की दिशा में इन तीनों अनुयोग द्वारों का अत्यन्त उपयोग है। जो प्रथमानुयोग है वह मात्र उदाहरण स्वरूप है। उसके द्वारा हमें इतना ही ज्ञान होता है कि संसार के विरुद्ध प्रवृत्ति करने वालों की क्या-क्या अवस्थाएँ होती हैं, और संसार के अनुकूल प्रवृत्ति करने वालों की क्या-क्या अवस्थाएँ होती हैं।

यह निबन्ध मुख्यतः चरणानुयोग के आधार पर ही लिखा गया है। इसलिए इस निबन्ध की जीवन में क्या उपयोगिता है। इसके आधार से हम यहाँ विचार करेंगे। चरणानुयोग का मूलसूत्र है, कि कैसे चलें? कैसे खड़े रहें? कैसे बैठें? कैसे सोवें? कैसे भोजन करें? और कैसे बोलें? जिससे यह जीव पाप से लिप्त न हो। चरणानुयोग शास्त्र में इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि देख कर चलें, आजू-बाजू की परिस्थिति को देखकर खड़े रहें, समझकर अनुकूल स्थान पर बैठें, अनुकूल भोजन लें, उचित स्थान पर सोवें, और हित, मित, प्रिय वचन बोलें, जिससे यह जीव पाप से लिप्त न होवे।

इस आधार पर जब हम चरणानुयोग आगम के अनुसार विचार करते हैं, तो हमें मोक्षमार्ग के अनुकूल बाह्य जीवन का निर्माण करने में सहायता (अनुकूलता) मिलती हैं, क्योंकि सर्वार्थसिद्धि में सम्यक् चारित्र का लक्षण करते हुए कहा है कि संसार के कारणों से निवृत्त होने के लिए जो उद्यत ज्ञानी है उसकी ज्ञानावरणादि कर्मों के ग्रहण करने में निमित्तभूत क्रिया का उपरम होना सम्यक् चारित्र है। इसमें शरीराश्रित जो बाह्य क्रिया होती है,

उससे अभिप्राय है, और जो योग और कषाय को निमित्त कर आत्म प्रदेशों के परिस्पंद रूप आभ्यन्तर क्रिया होती है, उससे अभिप्राय है। ज्ञानी के इन दोनों प्रकार की क्रियाओं का निरोध होने पर ही मोक्ष होता है। इसलिए सम्यक्चारित्र में बाह्य और आभ्यन्तर क्रिया का निरोध विवक्षित है। केवल आभ्यन्तर क्रिया का निरोध किसी के नहीं होता, बाह्य क्रिया का निरोध होने पर ही आभ्यन्तर क्रिया का निरोध होना सम्भव है। गुणस्थान प्रक्रिया के अनुसार बाह्य क्रिया का निरोध दसवें गुणस्थान के अन्त में हो जाता है, और आभ्यन्तर क्रिया का निरोध 13 वें गुणस्थान के अन्तिम समय में होकर 14 वें गुणस्थान में अयोगकेवली की अवस्था में अन्तर्मुहूर्त रहकर यह जीव मोक्ष का पात्र बनता है। इसलिए चरणानुयोग आगम में बाह्य क्रिया के निरोध पर बहुत बल दिया गया है।

जो मिथ्यादृष्टि हैं, वे भले ही बाह्य चारित्र का पालन करें मुनि वेश लेकर उग्र तप करें, फिर भी सम्यग्दृष्टि अर्थात् स्वावलम्बन की दृष्टि वाले न होने के कारण वे द्रव्यलिंगी ही बने रहते हैं, और मोक्ष के पात्र नहीं हो पाते इसलिए चरणानुयोग के आगम में भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक चारित्र का लक्षण बाँधते हुए कहा है कि-"मोह (मिथ्यात्व) रूपी अंधकार के विनाश होने पर सम्यग्दर्शन पूर्वक सम्यग्ज्ञानी के राग द्वेष की निवृत्ति के अभिप्राय से सम्यग्चारित्र होता है।[1]

मोक्षमार्गी बनने का यह एक मात्र उपाय है। इसके बिना कोई भी राग द्वेष का अभाव करके मोक्ष का पात्र नहीं हो सकता है। इसलिए जिनागम में बाह्य चारित्र पर उतना ही बल दिया गया है, जितना कि आत्मस्थ होने के लिये बल दिया जाता है।

---

1. मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभदवाप्त संज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ।।2 ।। र.श्रा. 46

इस दृष्टि से विचार करने पर बाह्य क्रियाओं की सार्थकता हमारे अभिप्राय में आ जाती है। जो बाह्य क्रियाओं की उपेक्षा करके राग-द्वेष का अभावपूर्वक आत्मस्थ होना चाहता है, उसके लिए बाह्य क्रियाओं का विचार होना ही चाहिए। बाह्य क्रियाओं में उठना-बैठना, खाना-पीना, बोलना-चालना ये सब आ जाते हैं। आजकल यद्यपि यह सब देखा जाता है कि द्रव्यानुयोग के अनुसार सुन्दर से सुन्दर चर्चाएं की जाती हैं, परन्तु यदि खान-पान, उठने-बैठने में सुधार न होवे तो वे ज्ञानी नहीं बन पाते हैं। नियम यह है कि सर्वप्रथम शय्या छोड़ने के बाद पंच नमस्कार मंत्र का पाठ करें, अनन्तर स्नानादि करके जिनमन्दिर जाते समय ईर्यापथ की विधि पूर्वक तीन बार निःसहि शब्द का उच्चारण करते हुए जिनमन्दिर में प्रवेश कर जिनदेव के समक्ष जो जिनपूजा की विधि है उसे सम्पन्न कर, स्वाध्याय आदि करें। अनन्तर अन्याय, अभक्ष्य का त्याग कर नित्य कर्म को सम्पन्न करें। यह दैनन्दिन की क्रिया का सामान्य विचार है। क्योंकि ऐसा न होने पर सच्चा जैन कहलाने का अधिकारी नहीं हो पाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द देव ने जो सम्यक्त्वाचरण चारित्र का निर्देश किया है, उसमें सम्यग्दर्शन पूर्वक यह सब विधि सम्मिलित हो जाती है। समन्तभद्र ने अपने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में पंचपरमेष्ठी, जिनालय, जिनदेव, जिनशास्त्र, व जिनधर्म ये नव प्रकार के देवता बतलाये हैं। ये ही जिनशासन के देवता हैं, अन्य नहीं है। इसीलिए चरणानुयोग आगम में सम्यग्दर्शन के लक्षण का निर्देश करते समय छह अनायतन, और तीन मूढ़ता के निषेधपूर्वक आठ मद का त्याग करते हुए सम्यग्दर्शन के शंकादि आठ दोषों को छोड़कर आठ अंग के धारण करने का निर्देश किया गया है[2]

यह श्रावकाचार की सबसे पहली क्रिया है, इसके बाद यदि श्रावक में सामर्थ्य है, तो वह मुनि पद के योग्य भूमिका बनाने के लिए क्रमशः 11 प्रतिमाओं को स्वीकार करता है। सबसे अन्तिम प्रतिमा में जो ऐलक होता है, उसके केवल लंगोटी- मात्र परिग्रह रह जाता है, अन्य सब परिग्रहों का उसके त्याग हो जाता है।

---

2. श्रृद्धानं परमार्थानामप्तागम तपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टांग सम्यग्दर्शनमस्मयम्।। र.श्रा. 4।।

मुनिपद को अंगीकार करते समय उस लंगोटीमात्र परिग्रह का भी त्याग हो जाता है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि आगम में "मूर्च्छा को ही परिग्रह[3] कहा है। उसके बाह्य परिग्रह हो या न हो, मूर्च्छा छूटनी चाहिए। समाधान यह है कि मूर्च्छा में निमित्त कौन है, बाह्य परिग्रह निमित्त है या नहीं, यदि निमित्त है तो उसको निमित्त कर मूर्च्छा होगी ही। जो भाई बाह्य परिग्रह को स्वीकारते हैं उनके उस स्वीकार में बुद्धिपूर्वक मूर्च्छा निमित्त स्वयं हो जाती है। अन्यथा, बाह्य परिग्रह का स्वीकार हो नहीं सकता। गृहस्थ ऐलक की अपेक्षा विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है। जब तक परिग्रह में अहंकार और ममकार भाव नहीं होता है, तब तक परिग्रह का संचय, परिग्रह की उठा-धरी, लेना-देना आदि व्यवहार नहीं बन सकता। इससे मालूम पड़ता है कि उसके परिग्रह में मूर्च्छा है। इसी प्रकार जो मुनि पद अंगीकार करके सीमित परिग्रह को भी रखता है, उसके मूर्च्छा के बिना परिग्रह का ग्रहण-त्याग नहीं हो सकता है। अतः आगम में बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से परिग्रह का दो प्रकार से निर्देश करके क्रमशः उन दोनों के त्याग का निर्देश किया गया है। चरणानुयोग की पद्धति को स्वीकार कर जीवन यापन करना इसी से निश्चित होता है।

साधारण गृहस्थ यदि बाजार में खाता-पीता है, तो विवेकी पुरुष उसे समझाते हैं कि तुम समझदार हो, जिनमार्ग के अनुयायी हो, तुम्हें बाजार में खाना-पीना छोड़ देना चाहिए। यदि वह मान लेता है, तो चरणानुयोग की पद्धति के अनुसार उसका ऐसा करना स्वयं त्याग में गर्भित हो जाता है, और लोक में वह प्रशंसा का पात्र माना गया है। इसलिए चरणानुयोग आगम में रागद्वेष की निवृत्ति के लिए बाह्य त्याग का मुख्यता से विवेचन किया गया है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए समयसार 283 से 285 तक की गाथाओं में आचार्य अमृतचन्द्र देव ने टीका लिखते समय कहा है कि[4] "परमार्थ से यह जीव अपने रागादिक भावों का अकारक ही है, अन्यथा अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का उपदेश दो प्रकार से नहीं बन सकता है। अप्रतिक्रमण और

---

3. "मूर्च्छाः परिग्रहः" - त.सू. 7।
4. आत्मात्मना रागादीनामकारक एव अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्वैविध्योपदेशान्यथानुपपत्तेः। यः खलु अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोदव्यभावभेदेन द्विविधोपदेशः स द्रव्यभावयोनिमित्त नैमित्तिक प्रथयन अकर्त्तार्हत्वमात्मनो ज्ञापयति। ततः एतत् स्थितं परद्रव्यं निमित्तं नैमित्तिकात्मनो रागादिभावः सं.सा. गा 283-285 की का आ. ख्याति टीका।

अप्रत्याख्यान का द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का उपदेश आगमों में पाया जाता है। वह द्रव्य और भाव के निमित्त नैमित्तिक भाव को सिद्ध करता हुआ आत्मा परमार्थ से रागादि भावों का अकर्ता है, इसका ज्ञापन करता है। इससे यह सिद्ध हुआ है कि परद्रव्य निमित्त है, और आत्मा के अज्ञान और रागादिक भाव नैमित्तिक हैं। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर आचार्य समन्तभद्र देव ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र को मोक्ष के कारणों में परिगणित कर मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को संसार के कारणों में परिगणित किया है।[5]

मिथ्यादर्शन का लक्षण है अतत्व श्रद्धान और परमार्थ रूप देव गुरू शास्त्र में अश्रद्धा। अतः तत् पूर्वक मिथ्याज्ञान होता है और इन दोनों के साथ होने वाले चारित्र को मिथ्याचारित्र कहते हैं। यह मोक्षमार्ग की सामान्य व्यवस्था है। फिर भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के होने पर भी अविरत सम्यग्दृष्टि के चारित्र को अचारित्र ही कहा जाएगा। अचारित्र मैं इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि तत्वतः देखा जाए, तो अविरत सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्वाचरण चारित्र का सद्भाव आगम में स्वीकार किया गया है, और सम्यक्त्वाचरण चारित्र के साथ स्वरूप रमणता रूप स्वरूपाचरण चारित्र के स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति दिखायी नहीं देती, क्योंकि स्वभावभूत आत्मा को उपयोग में स्वीकार किये बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती। चतुर्थ गुणस्थान में अविरत सम्यग्दृष्टि के सराग सम्यक्त्व ही होता है, ऐसा नहीं है। वह तो औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के सद्भाव को सूचित करता है। अतः उक्त प्रकार से सम्यग्दर्शन का सराग सम्यग्दर्शन ज्ञापक कारण ही है। क्योंकि जैसे व्यवहार रत्नत्रय परमार्थ स्वरूप रत्नत्रय का ज्ञापक निमित्त होने के कारण रत्नत्रय पद्वी को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही सराग सम्यग्दर्शन स्वभावभूत सम्यग्दर्शन के साथ रहने के कारण व्यवहार से सम्यग्दर्शन पद्वी को प्राप्त हो जाता है।

यहाँ मुख्य रूप से विचारणीय है कि बाह्य संयोग का अभाव उसके त्याग में निमित्त है तो वर्तमान में मुनि अवस्था में उसके साथ परिग्रह क्यों देखा जाता है ? और हाँ ! यदि यह कहो कि कालदोष इसका कारण है ?

---

5. सद्दृष्ठि ज्ञान वृत्तानि धर्म धर्मेश्वराविदुः।
यदीय प्रत्यनीकानि भवन्ति भव पद्धतिः।। र.श्रा.अ.1, श्लोक 3।।

तो यह कथन बन नहीं सकता। क्योंकि यदि यह स्थिति होती तो आगम में इसका निर्देश अवश्य ही देखने को मिलता। अतः यह तो सिद्ध है कि आगम में रत्नत्रय सम्बन्धी जो भी व्यवस्था की गयी है। वह तीनों कालों को ध्यान में रखकर की गयी है। तभी वह वीतराग सर्वज्ञदेव की वाणी कही जा सकती है।

प्रायः जब हम जैन धर्म के इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं तो यह दिखायी देता है कि मुनियों की भूमिका में जो परिग्रह का संचार हुआ उसमें गृहस्थ मुख्य कारण हैं। अन्यथा, मुनिधर्म को विकृत करने में उनका हाथ न होता तो झूठे मनुष्य मुनिधर्म को अंगीकार करते ही नहीं।

सबसे पहले तो श्रुतकेवली भद्रबाहु के काल में गृहस्थों का योगदान मिलने पर मुनिधर्म में भ्रष्टाचार आया। उसके बाद उसके देखा-देखी श्वेताम्बर समाज का अनुकरण कर भट्टारक परम्परा का उदय हुआ। अतः समाज की अनुज्ञापूर्वक मुनि ही भट्टारक बन जाते हैं। यह परम्परा लगभग एक हजार वर्ष से चली आ रही है। इसलिए जो वर्तमान में परिग्रह धारी मुनि दिखलायी देते हैं। वे यथार्थ मुनि न होकर उनकी परिगणना भट्टारकों में ही की जानी चाहिए।

इस शोध प्रबन्ध में नग्नता की दृष्टि से अन्य सम्प्रदायों के जो उद्धरण दिये गये हैं। उन्होंने तात्विक दृष्टि से नग्नता को स्वीकार नहीं किया था। इसलिए उत्तर-काल में उन सम्प्रदायों में नग्नता की परम्परा का लगभग विच्छेद सा हो गया।

नियम यह है कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को ध्यान में रखकर जो स्वावलम्बन को स्वीकार करता है, वही परावलम्बन के त्याग करने का अधिकारी होता है। स्वावलम्बन में स्व का अर्थ आत्मा है। आगम में यह लिखा मिलता है कि यह आत्मा न कभी मरता है न कभी जन्म धारण करता है, वह अनादि अनन्त है। यह कथन पर्याय को गौण किये बिना बन नहीं सकता। अतः स्वावलम्बन को स्वीकार करने वाले व्यक्ति को यह ध्यान में लेना ही चाहिए कि वह पर्याय को गौण करे और स्वभावभूत आत्मा को मुख्य करके उसका

अवलंबन लेवे, अन्यथा वह व्यक्ति भ्रष्ट होगा या उसमें शिथिलता आ जावेगी।

जैन सम्प्रदाय में आज भी जो नग्नता को मुख्यता दी गयी है। वह उक्त प्रकार के स्वावलम्बन की दृष्टि से ही दी गयी है। इस अर्थ को अन्य सम्प्रदायों ने समझा नहीं। इसलिए वे साधुपद को स्वीकार करके भी नग्नता को छोड़ बैठे।

आगम में साधु के 28 मूलगुण होने चाहिए, यह उल्लेख देखने को मिलता है। उसमें यह भाव निहित है कि तत्वतः पर का हम न कुछ बिगाड़ कर सकते हैं और न सुधार कर सकते हैं। जो कुछ भी पर का हित-अहित होता है, वह उनकी योग्यता के अनुसार ही होता है। परमार्थतः कर्म भी उसमें कारण नहीं है, निमित्त मात्र है। यही कारण है कि जो मुनि होता है उसको नियम से इन 28 मूलगुणों को अंगीकार करना कर्तव्य हो जाता है। अट्ठाइस मूलगुणों में शेष सात गुण जो बतलाये हैं, उनके द्वारा व्यावहारिक स्वावलम्बन की शिक्षा दी गयी है।

यह कहना कि सच्चे-झूठे मुनि का विचार न करके जो वर्तमान में मुनि बने हैं, श्रावक उन्हें उनका संगोपंग (भरण-पोषण) करे। किन्तु विचार कर देखा जाए तो, जो मुनिपद को अंगीकार करके उससे भ्रष्ट हो जाते हैं, उनका भी यदि श्रावक संगोपंग करे तो मुनिधर्म पूर्वक मोक्षमार्ग के ही समाप्त होने का प्रसंग आ जावेगा। इसलिए गृहस्थ का कर्तव्य है कि मूलाचार के अनुसार उनकी आचार-विचार की क्रिया में अन्तर देखे, तो सबसे पहले उसे समझावे, यदि समझाने पर भी वह हठ न छोड़े, तो मोक्षमार्ग की परम्परा में विकृति आ जाना सम्भव है। इसलिए गृहस्थ की यह जिम्मेवारी है कि वह मोक्षमार्ग की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखे। जो भाई उसका उल्लंघन कर मोक्षमार्ग की परम्परा में दोष का प्रवेश करते हुए देखकर अपने कर्तव्य को भूल जाते हैं। वे वस्तुतः गृहस्थ धर्म के अधिकारी नहीं बन पाते हैं।

इस प्रकार कई दृष्टियों से यह शोध प्रबन्ध बहुत उपयोगी सूचनाओं से भरा हुआ है। निर्भीक होकर, अथक परिश्रम से सम्पन्न इस स्तरीय शोध कार्य में इसके लेखक ने मुनिधर्म के ऊपर सर्वांग विचार किया है। उसकी हम प्रशंसा करते हैं, और इसके लिए डॉ. योगेश चन्द्र जैन हमारी तरफ से स्तुति के पात्र हैं। यदि समाज में ऐसे निबन्धों का सिलसिला चल जाये, तो सम्भव है कि समाज में कुछ बदलाव आएगा, और मुनिधर्म में विकृति का अभाव होना सम्भव हो सकेगा। हम उसकी प्रतीक्षा में हैं।

फूलचन्द्र शास्त्री
हाल-हस्तिनापुर क्षेत्र
12-6-88.

प्राक्कथन

भारतीय धार्मिक विचारधारा मुख्य रूप से दो भागों में विभक्त है। श्रमण विचारधारा एवं ब्राह्मण विचारधारा "ब्रह्मा" के ईर्द-गिर्द घूमती रहती है, जहाँ ईश्वर को सृष्टि का कर्ता-हर्ता-धर्ता तथा व्यक्ति के भाग्य का निर्णायक माना गया है। दूसरी श्रमण विचारधारा व्यक्ति के स्वयं के पुरुषार्थ पर टिकी हुयी है, जहाँ ईश्वर का उपर्युक्त कोई रूप नहीं मिलता अपितु प्रत्येक प्राणी को सर्वोच्च अवस्था प्राप्त करने का नैसर्गिक अधिकार प्राप्त है। ये दोनों विचारधाराएँ भारत के प्राचीनतम वांगमय से लेकर आज तक परिलक्षित हो रही हैं।

"श्रमण" शब्द सम, शम, और श्रमण का द्योतक है। जैन श्रमणधर्म इन तीनों सिद्धान्तों पर टिका हुआ है। प्राचीन साहित्य को देखने से यह स्पष्ट आभास होता है कि इस श्रमण विचारधारा के परिपोषक कुछ अन्य सम्प्रदाय भी हुए हैं। बौद्ध धर्म इस श्रेणी में समाहित है, परन्तु इनमें जैन श्रमण सम्प्रदाय निःसन्देह प्राचीनतम कहा जा सकता है। प्राचीनतम वैदिक साहित्य में उपलब्ध प्रमाण इस कथन के समर्थन में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इस धर्म की परम्परा सामान्यतः ऋषभदेव से कही जा सकती है और महावीर के पश्चात् अविच्छिन्न रूप से अद्यावधि जीवित है। इस कालावधि में यह दिगम्बर और श्वेताम्बर के रूप में भी विभाजित हुआ, उनकी अपनी-अपनी परम्पराएँ भी पुष्पित एवं फलित हुयी हैं।

यहाँ पर यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि "श्रमण" शब्द का प्रयोग मूल रूप से मुनि/साधु के सन्दर्भ में हुआ है। कालान्तर में यह शब्द जैन और बौद्ध विचारधारा का पर्यायवाची बन गया। यद्यपि "परिव्राजक" शब्द का प्रयोग भी इस सन्दर्भ में हुआ है, परन्तु वह अधिकांशतः वैदिक सम्प्रदाय के साथ जुड़ा हुआ है। मुनि, साधु, यति, व्रती, निर्ग्रन्थ आदि शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। परन्तु श्रमण शब्द का जितना अधिक प्रयोग हुआ है उतना दूसरे शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ है। अतः अपनी इस कृति में "श्रमण" शब्द को ही रखना उचित समझा। साथ ही बौद्ध श्रमण विचारधारा से पार्थक्य द्योतित करने के लिए "जैन श्रमण" शब्द को नियोजित किया है।

जैन श्रमण की आचार-विचार परम्परा प्राचीनतम साहित्य से लेकर अधुनातम विविध भाषागत जैन साहित्य में उपलब्ध होती है। परन्तु इस विषय पर अभी तक कोई विशेष सांगोपांग विश्वविद्यालयी स्तर पर अध्ययन प्रस्तुत नहीं हुआ है। जबकि जैन श्रावकाचार पर पर्याप्त अध्ययन किया जा चुका है और हो भी रहा है। यद्यपि श्रमणाचार पर आंशिक रूपों में बाबू कामता प्रसाद जी ने " दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि" लिखकर इनका ऐतिहासिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, तो आर्यिका ज्ञानमती जी ने "दिगम्बर मुनि" लिखकर स्वरूप पर कुछ लिखा है। डॉ. एस.व्ही. देव ने "हिस्ट्री ऑफ जैन मोनाकिज्म"

लिखकर इस आवश्यकता की ओर कदम उठाया था। परन्तु अभी तक जैन श्रमण के स्वरूप पर समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत नहीं हुआ था, वर्तमान काल में इसकी बहुत आवश्यकता महसूस की जा रही थी। मेरा जैन दर्शन/धर्म में पारम्परिक अध्ययन था, और इस क्षेत्र में मेरी तीव्र रुचि भी थी। अतः मैं इस विषय पर शोध कार्य हेतु आकृष्ट हुआ।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर मैंने डॉ. श्री भागचन्द्र जी भास्कर भू.पू. निदेशक, जैन अनुशीलन केन्द्र, राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर, के समक्ष "जैन श्रमण : स्वरूप एवं मीमांसा" विषय पर शोध कार्य की योजना प्रस्तुत की; तदनुसार पिछले वर्षों में सतत अध्ययन-अनुसन्धान कार्य में दत्तचित्त रहकर जो उपलब्ध किया, उसे शोध प्रबन्ध के रूप में निम्न अध्यायों में प्रस्तुत किया गया था।

प्रथम अध्याय जैन श्रमण की पृष्ठभूमि पूर्वक उसका विभिन्न धार्मिक ऐतिहासिक, साहित्यिक परिप्रेक्ष्य में उनका इतिहास अर्थात् हिन्दु, मुस्लिम की दृष्टि में जैनश्रमण, भारतीय पुरातत्व में जैन श्रमणों के उल्लेख और उनका प्रभाव, भारत के विभिन्न साम्राज्यों में जैन श्रमण, संस्कृत, तमिल साहित्य में जैन श्रमण तथा जैन श्रमणों के विभिन्न संघों/सम्प्रदायों पर विचार विमर्श किया है।

द्वितीय अध्याय में श्रमण के स्वरूप और अध्ययन को प्रस्तुत किया है। इसमें सर्वप्रथम धर्म का स्वरूप तदुपरान्त श्रमण और उसका धर्म, पंचमहाव्रत, गुप्ति आदि और उनके अतिचार, समिति, इन्द्रियजय, षडावश्यक, एवं शेष सात गुण के रूप में 28 मूलगुणों पर विस्तृत विवेचन एवं उस पर समीक्षा प्रस्तुत की है तथा यहीं पर श्रमण दीक्षा की पात्रता, दीक्षा ग्रहण विधि, पिच्छि कमण्डलु एवं उत्सर्ग-अपवाद मार्ग पर पूर्ण रूप से विचार किया गया है।

तृतीय अध्याय में श्रमण की सम्पूर्ण आचार संहिता पर मीमांसा पूर्वक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसमें समाचार का अर्थ, भेद, आदि एवं षडावश्यकों पर विस्तृत समीक्षा व आहार चर्या को विश्लेषण सहित प्रस्तुत किया है एवं साथ ही एकल विहार, शरीर त्याग तथा अन्त में सदोष श्रमणों के स्वरूप पर विश्लेषण सहित समीक्षा प्रस्तुत है।

चतुर्थ अध्याय में श्रमणों के विभिन्न भेद प्रभेद हैं। इसमें आचार्य, उपाध्याय का स्वरूप, प्रवर्तक, स्थविर,गणधर, तीर्थंकर मुनि का स्वरूप प्रस्तुत किया है,तथा इस प्रकार से भेद प्रदर्शित करते हुए चारित्र के पांच *प्रकार के भेद, जिनकल्पी, स्थविर कल्पी का स्वरूप,* पुलाक आदि श्रमणों का स्वरूप तथा द्रव्यलिंग एवं भावलिंग *का समीक्षात्मक अध्ययन* प्रस्तुत किया है,और अन्त में श्रमणों का धार्मिक, दार्शनिक, आदि विभिन्न क्षेत्रों में अवदान प्रदर्शित किया है।

पंचम अध्याय में शोध प्रबन्ध का उपसंहार है। पूर्व के अध्यायों में श्रमणाचार की जो मीमांसा एवं समीक्षा प्रस्तुत की गयी है, उसका समाहार इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रकार प्रस्तुत अनुशीलन में जैन श्रमण के स्वरूप का आज के आलोक एवं उसमें उठने वाली शंकाओं का समाधान देते हुए जैनधर्म की मूल परम्परा के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषणात्मक, तुलनात्मक एवं समालोचनात्मक अध्ययन की दिशा में मेरा यह विनम्र प्रयास है।

इस प्रयास के प्रारम्भ में मैंने यह महसूस किया कि इसके लिए जीवन की पवित्रता निष्पक्षता व निर्भीकता अत्यधिक आवश्यक है, और मैंने इन तीनों गुणों के पालन करने का भरसक प्रयत्न किया है। दिगम्बर एवं श्वेताम्बर श्रमण स्वरूप की प्रसंगानुसार समीक्षा करते वक्त किसी पक्ष विशेष के आग्रह से ऊपर ही उठने का प्रयत्न किया है, ताकि विषय की प्रामाणिकता बनी रहे, और इसके लिए जैनधर्म के मूल प्राचीन आगम को देखने का विशेष प्रयत्न भी किया है। यद्यपि मुझे "जैन श्रमणःस्वरूप एवं मीमांसा" विषय पर सन् 88 में पी-एच.डी. उपाधि प्राप्त हो गयी थी। उस दौरान अनेकों लोगों ने शोध प्रबन्ध को पढ़ा था, तथा मुक्तकंठ से प्रशंसा व प्रकाशन की प्रेरणा भी दी थी। तभी से मैं इसके और अधिक से अधिक परिष्कार में जुट गया था। परिष्कार के इसी प्रलोभन के कारण सन् 88 के टाइप हुए "राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर" से पी-एच.डी. उपाधि हेतु स्वीकृत मूल शोध प्रबन्ध से इस प्रकाशित कृति में विविध दृष्टियों से पर्याप्त वैशिष्ट्य रहा है, और कई लोगों के अनुरोध पर थोड़े परिवर्तन के साथ इस पुस्तक का नाम **"जैन श्रमण : स्वरूप और समीक्षा"** रखा है।

इस कृति में श्रमणों के शिथिलाचार के प्रकरण में नामोल्लेख पूर्वक की गयी समीक्षा के सन्दर्भ में कतिपय विद्वानों का कहना था कि यह बात सही होते हुए भी नामोल्लेख नहीं होना चाहिए। इससे लेखक को जोखिम रहती है, श्रमणाचार बदनाम होता है, व पुस्तक आदरणीय नहीं हो पाती है। "यद्यपि सत्यं लोक विरुद्धं न करणीयं न आचरणीयं" - इस भावना को आंशिकतः स्वीकारते हुए, तथा उन सलाहदाता विद्वानों तथा पाठकों को यथायोग्य आदरते हुए भी उनके इन विचारों से मैं सहमत नहीं हो पा रहा हूँ। प्रश्न यदि जोखिम का उठाया जावे, तो वह प्रासंगिक नहीं है। आज के इस अर्थ प्रधान युग में जैनदर्शन की निरर्थक डिग्रियाँ लेकर पढ़ना ही आज की सबसे बड़ी जोखिम है। युद्ध के क्षेत्र में सैनिकों को शत्रु सैनिक से ही लड़ना होता है, साथी सैनिक ऐसा करने के लिए आपस में प्रोत्साहित भी करते हैं। परन्तु यहाँ तो एक निष्ठावान विद्वान को समाज में फैल रही अज्ञानता व अनाचार के विरुद्ध तो लड़ना ही होता है, और ऐसा करते हुए उसे तथाकथित विद्वानों से उपहास का पात्र भी बनना होता है। सत्य के प्रति निष्ठावान बने रहने हेतु

प्रोत्साहन के दो शब्द सुनना तो एक कल्पना मात्र है और मैं इस विषम परिस्थिति से गुजरा हूँ, अतः इस पुस्तक के प्रकाशन के पश्चात् आने वाले सामाजिक संकट मेरे लिए "ऊँट के मुँह में जीरा" की तरह ही होंगे। इस कारण यह प्रश्न ही मेरे लिए प्रासंगिक नहीं है।

नामोल्लेख पूर्वक की गयी समीक्षा-शैली में दूसरी प्रसिद्ध आपत्ति है कि इससे श्रमणाचार बदनाम होकर विवादास्पद हो जाता है। मेरी मान्यता है कि इस शैली से श्रमण का सत्य स्वरूप तो स्पष्ट रूप से उभर कर आता है, तथा श्रमण नामधारी का वह भ्रष्ट स्वरूप जिसकी ओर किसी का ध्यान नहीं गया, अथवा आँखे जानबूझकर मूंदे बैठे हैं, वह विचारणीय हो जाता है, और होना भी चाहिए, हमें वह इष्ट है। यदि यह सुझाव दिया जावे कि भ्रष्टाचार का विवेचन करते हुए "कुछ साधु आज ऐसे भी हैं" ऐसे कहा जावे, तो मुझे इस शैली में आपत्ति है। क्योंकि "कुछ है" यह कथन समारोप का विरोधी नहीं है (अर्थात् यह कथन अनध्यवसाय का विषय है, इससे यह तो मिथ्याज्ञान है)। इससे हानि यह होगी कि कुछ साधु भ्रष्ट हैं, यहाँ या तो सभी के साथ पूज्यता का व्यवहार होगा या फिर सभी अश्रद्धा के पात्र हो जाएंगे। तथा शिथिलाचार की वृत्ति हतोत्साहित नहीं होगी, जो भविष्य में बहुत खतरनाक सिद्ध होगी। इसके साथ ही यह बात भी है कि, जो वेशधारी तीर्थंकर जैसे महानपुरुष के द्वारा प्रतिपादित चारित्र को खुलेआम कलंकित करते शर्मिन्दा नहीं, हमारा उनसे कोई सम्बन्ध नहीं। उपगूहन अंग विकारों को सुरक्षित करने की ढाल नहीं बनाया जा सकता है। अतः ऐसों का नामोल्लेख पूर्वक ही उसके चारित्र की समीक्षा होना ही चाहिए, हमने वही किया, जो एक जागरूक को करना चाहिए। परन्तु हमने लोकमर्यादाओं का भी पालन किया है, सम्बन्धित प्रकरणों के प्रमाणरूप में प्रस्तुत करने योग्य मेरे पास उपलब्ध चित्रों को (फोटोज्) प्रस्तुत नहीं किया है।

तीसरा प्रश्न इस पुस्तक के लिए पाठकों से आदर का है। इसके लिए पहले हमें इस कृति की मूल आत्मा की ओर जाना चाहिए। मैं श्रमण स्वरूप की विवेचना में प्रवृत्त हुआ हूँ, अतः उसके प्रति निष्ठावान बने रहने की मेरी पहली नैतिक जिम्मेदारी है, और मैंने उसका ईमानदारी से पालन करने का प्रयास किया है। मैं समझ रहा हूँ कि प्रत्येक वह पाठक जिसका जीवन गौरवमय नैतिक व सदाचारमय होगा इस कृति के प्रति सदाशयता रखेगा; हाँ, जिन पाठकों का जीवन स्तर गौरवमय नहीं रहा है, उनको मैं दूर से ही प्रणाम करता हूँ, मुझे उनकी सम्भावित प्रतिक्रिया के प्रति चिन्तित होने की आदत नहीं है। मैं तो उनके प्रति क्षमाभाव रखता हूँ। साथ ही वे शिथिलाचारी श्रमण जो गौरवपूर्ण चर्या नहीं निभा रहे हैं, और मुझे इसी कारणवश उनकी समीक्षा करनी पड़ रही है, उनसे मानवीय दृष्टिकोण से क्षमायाचना भी करता हूँ, मेरा उनसे द्वेष नहीं, अपितु मेरी तो उनके उत्थान की सद्भावनाएँ हैं। उनके अगौरवपूर्ण जीवन चर्या से सम्पूर्ण समाज/धर्म शर्मिन्दा है, साथ ही मेरी लेखनी जिसने उनके चारित्र को रेखांकित किया है, कोई कम शर्मीली नहीं है,

परन्तु भविष्य की भयंकर चारित्रिक दुर्घटनाओं के प्रति सजगता के लिए यह अत्यन्त आवश्यक था। फिर भी यदि मेरा ही यह अपराध कहा जावे, तो मेरा वास्तविक अपराध यही है कि मैंने जानबूझ कर आँखों में न पट्टी बांधी है, और न ही अंधेपन को स्वीकारा है। जिसके परिणामस्वरूप मैंने सब कुछ देखा, महसूस किया, और अपने विवेक से उसे लिखा। **यदि सत्य लिखना और कहना अपराध है, तो समाज व देश को वे सभी ज्ञान के द्वार विद्यालय बन्द कर देना चाहिए, जिसमें हम जैसे लोगों को दृष्टि मिलती है,** साथ ही दृष्टि देने वाले वे सभी "आगम चक्खू" बेंधकर नष्टकर देना चाहिए, जिसके अध्ययन से मुझसे यह अपराध हुआ है। परन्तु ऐसा कोई भी करना/कहना न चाहेगा। यदि इस प्रबन्ध के प्रति कोई दुर्भावना रखता है, तो उससे करबद्ध निवेदन यह भी है कि वह उन लोगों के प्रति कुछ प्रस्ताव भी अवश्य पारित कराये कि ज़िनके सम्बन्ध में यह लिखा गया है। **यदि दोषों को कहना निंद्य हो, तो उन दोषों को निरन्तर करते रहना प्रशंसनीय व पूज्य कैसे हो सकता है ?** परन्तु आज यही हो रहा है। "उल्टी गंगा बहना" यह मुहावरा सुना तो था, परन्तु देखने को अब मिल मिल रहा है, शायद मिलता भी रहे। अस्तु, हमने अपना कर्तव्य निभाया, पाठक अपनी समझ से स्वयं का कर्तव्य निभायें।

मेरे इस प्रयत्न में मुझे कहाँ तक सफलता मिली, यह तो सम्माननीय विज्ञजन ही निर्णय करें, परन्तु मैं अपना यह अनुसन्धान अन्तिम तो नहीं, आंशिक कार्य अवश्य मानता हूँ। इसमें अभी अनेक बिन्दुओं पर शोध कार्य का अवकाश है। लेकिन यह प्रबन्ध भविष्य के अनुसन्धित्सुओं के लिए आधार-स्तम्भ अवश्य होगा-मेरा ऐसा विश्वास है।

कृतज्ञता ज्ञापन

नवजात शिशु को कुछ करने की शक्ति प्राप्त करने में काफी लोगों का सहयोग अपेक्षित होता है, और वह अपने पुण्यानुसार प्राप्त भी करता है। परन्तु वह शिशु जो अवैध है, निरन्तर तिरस्कृत ही रहता है, यद्यपि उसे भी जन्म की उसी प्रक्रिया से गुजरना पड़ता जिससे वैध सन्तानें गुजरा करती हैं, तथापि उसके साथ वैसा व्यवहार नहीं होता। शायद, इसमें यश/अपयशकीर्ति नामकर्म का उदय कारण हैं। यही स्थिति मेरी इस शोध-प्रबन्ध की प्रवृत्ति में रही है। इस विषय पर शोधात्मक अध्ययन की अभिलाषा शैशवावस्था से ही थी। एम.ए. करने के बाद अति उत्साह से जैनदर्शन के इस विषय पर यह सोचकर कि यह विषय उपयोगी व सरल तो रहेगा ही, सहयोग भी खूब मिलेगा। परन्तु संसार में वह सब प्रायः कहाँ होता है, जितना सोचा जाता है। संसार में ऐसे बहुत ही कम पुण्यशाली हैं कि जिनके चिंतन के समानांतर बाह्य संयोग का परिणमन दिखायी देता है, इसे पुण्य का उदय भले ही कहा जावे, परन्तु इससे मान्यता रूपी रथ गहन अंधकार की ओर ही तीव्र गति से बढ़ता है। मैं तो पुण्यशाली उसे कहूँगा कि जिसके चिंतन के समानांतर वस्तु का परिणमन परिणमित नहीं हो रहा है, और उससे संभावित पीड़ा से पीडित नहीं है। इससे उसका भ्रम पुष्ट नहीं होता। क्योंकि भ्रम ही संसार है। तथापि

अज्ञानीजन कहीं न कहीं से अपने भ्रम की खुराक ग्रहण कर ही लेते हैं, यही संसार का बहुत विचित्र आश्चर्य है। मुझे इस बात का गौरव है कि मैंने भी इस परम्परा को तोड़ा है। यद्यपि जैनदर्शन के अनुसन्धाता को परिश्रम किसी से कम नहीं करना पड़ता है, परन्तु वह आस्रव व बन्ध तत्व की तरह प्रायः हेय सा रहता है। अनुसन्धान का विगुल बजाने वाली संस्थाओं के पास जाने पर मैंने अपनी आवाज दबी ही पायी, शायद उनके तेज विगुल मेरी आवाज न सुन सके हों। खैर, शोध के इस विषय पर प्रवृत्ति एक अज्ञात अपराध बोध की तरह संकेत करती रही, और गुरूजनों के असहयोग व उपेक्षा की काकचेष्टा निरन्तर उस अपराधबोध को जाग्रत करती रही कि शायद जैनदर्शन पर शोध प्रवृत्ति एक गुमनाम अपराध हो।

जैन श्रमण की महिमा में एक कवि ने लिखा है कि "निःसंग हैं जो वायु सम, निर्लेप है आकाश से ----- कैसी अलौकिक शूरता। इस पंक्ति ने मेरे हृदय को झकझोर दिया, और नये उत्साह का संचार किया। फिर तो सहयोग/सहानुभूति के शब्दों की वैशाखियों को तोड़कर निःसंग व निर्लेप सा इस कार्य में जुट गया, जिसका परिणाम ही यह प्रबन्ध है। यदि मैं वैशाखियाँ नहीं तोड़ता तो शायद यह कार्य पूर्ण नहीं कर पाता। सम्भवतः श्रमण स्वरूप पर शोध प्रबन्ध लिखने के लिए उन जैसा श्रम भी करना होगा, गुरू के स्वरूप अनुसंधान में गुरू की भी वैशाखियाँ छोडनी होगी।

जैन दर्शन तो अनेकान्त को स्वीकारता है। अनेकान्त ही आदरणीय है। अतः इस कार्य की प्रवृत्ति में असहयोग व उपेक्षा रूप एकान्त वृत्ति का वर्चस्व स्थापित भी नहीं हो सका है। हमें भी अपने अवशेष पुण्योदय से दि. जैन संस्कृत कालेज जयपुर के पं. चैनसुखदास छात्रावास में इस पाँच फुट के शरीर को तेज गर्मी व वर्षात् से बचाने का अवसर प्राप्त हुआ, अतः हम इसलिए उनके आभारी हैं। साथ ही केन्द्रीय पुस्तकालय राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर, दि. जैन संस्कृत कॉलेज जयपुर, दि. जैन पंचायती बड़ा मंदिर पुस्तकालय जयपुर, सन्मति पुस्तकालय सेठी कॉलोनी जयपुर, के भी आभारी हैं, तथा दि. जैन अतिशय क्षेत्र महावीर जी का शोध पुस्तकालय तथा पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान वाराणसी के भी आभारी हैं कि जिन्होंने हमें सहयोग देकर 15-15 दिन तक आवासादि व्यवस्था के साथ पुस्तकालय सुविधा सुलभ करायी हैं।

शोध के प्रारम्भ में असहयोग के वातावरण को देखकर पुस्तक के रूप में प्रकाशन की कल्पना ज्यादा नहीं थी, परन्तु अनेकों लोगों ने शोध प्रबन्ध को पढ़ा तो उनके द्वारा प्रकाशन की प्रेरणा भी मिली। यहाँ तक कि अनेक लोगों ने तो पुस्तक की अनुमानित राशि भी अग्रिम रूप से देने की पेशकश भी की। मैंने तो कल्पना भी नहीं की थी कि लोग शोध प्रबन्ध को पढ़ने के बाद इसके प्रकाशन के लिए इतने अधीर हो उठेंगे। फिर वातावरण देखकर प्रकाशन का निर्णय ले लिया। इसकी भूमिका लिखाने के लिए पं. फूलचन्द्रजी

सिद्धान्तशास्त्री के पास जब हस्तिनापुर गये, क्योंकि वे इस विषय के अधिकारी विद्वान हैं तथा समाज के इस समय सबसे वयोवृद्ध व ज्ञान-वृद्ध विद्वान हैं, उन्होंने पन्द्रह दिन शोध-प्रबन्ध को अपने पास रखा तथा गम्भीरता से पढ़कर सुन्दर व उपयोगी भूमिका लिखकर दी है, जिसके लिए मैं उनका कृतज्ञ व हृदय से आभारी हूँ।

अन्त में मैं अपने पूज्य पिताजी श्री गम्भीर चन्द्र जी वैद्य व माताजी श्रीमती प्रकाशवती जैन का भी चिरऋणी हूँ कि जिनकी पावन प्रेरणा, उत्साह व हर प्रकार के सहयोग ने इस पुनीत कार्य में सम्बल प्रदान किया। यदि उनका धार्मिक व उसकी प्रेरणा नहीं होती, तो शायद ही इतना निश्चिन्त होकर निर्भीकता से यह कार्य कर पाता। क्योंकि कार्य करते समय तो किसी की प्रेरणा व सहयोग प्रायः लोगों को नहीं मिल पाता, परन्तु कार्य प्रकाशन के पश्चात् ही लोग सहयोग की भावनाएं प्रगट करते हैं, और कार्य की प्रशंसा भी करते हैं। यदि कार्य करते समय सहयोग मिले तो शायद वह द्विगुणित हो। परन्तु समस्या तो यह है कि पता कैसे चले कि वह कार्य कैसा करेगा ? अथवा कौन कर रहा है ? और किसको सहयोग की अपेक्षा है। जमीन के अन्दर पडे बीज के सम्बन्ध में यह कैसे पता चले कि वह कहाँ है उसकी गुणवत्ता कैसी है ? अतः उसके अंकुरित होने पर वातावरण के तीखे अंकुश प्रायः उसका अन्त कर दिया करते हैं, यदि कदाचित् पता चल भी जावे कि वह यहाँ है, तो सहयोग के उन्मुक्त खाद-पानी उसे सडा कर स्वरूप हीन कर देते हैं। मर्यादित संरक्षण ही श्रेयस्कर है। अतः उसे खुद अपने भरोसे निरपेक्ष भाव से बड़ा होना होगा, फल देना होगा, तो कोई फल का लोभी उसके संरक्षण के प्रति सजग होगा, वह लोगों को सहयोग देने के लिए बाध्य कर सकेगा। यह तो संसार के जीवों की व्यवहार शैली है। मेरा शोध कार्य भी इसी प्रक्रिया से गुजरा है, और उसके फल ने लोगों को प्रकाशन के लिए बाध्य किया है, जिसकी सिद्धि अत्यल्प काल में प्रकाशित प्रस्तुत कृति है।

इस श्रमण स्वरूप के अध्ययन ने मेरा जीवन परिवर्तित किया है, मेरे जीवन में सदाचार का प्रवर्तन हुआ है, तथा श्रमणों के प्रति पहले से भी कहीं ज्यादा सम्मान व पूज्यनीयता का भाव जाग्रत हुआ है। अतः पाठकगण भी इस पुस्तक को पढ़कर साधु स्वरूप के प्रति सच्ची श्रद्धा दृढ़तम करेगें, जो मेरे परिश्रम का वास्तविक उद्देश्य है। साथ ही इस कृति में सम्भावित अज्ञात त्रुटियों की ओर ध्यानाकर्षण प्रस्ताव भी मेरे समक्ष रखेंगे- इस भावना के साथ।

आपका

डॉ. योगेश चन्द्र जैन

संकेत सूची

1. ईशाद्य. - ईशादिविंशोत्तर शतोपनिषद
2. वं.वि.ओ.जै.स्मा. - बम्बई प्रान्त के जैन स्मारक
3. जै.सि.भा. - जैन सिद्धान्त भास्कर
4. सं.प्रा.जै.स्मा. - संयुक्त प्रान्तीय जैन स्मारक
5. प्र.सा. - प्रवचनसार
6. स.सा. - समयसार
7. भ.आ. - भगवती आराधना
8. अ.ध. - अनगार धर्मामृत
9. प.पं. - पद्मनन्दि पंचविंशति
10. प.प्र. - परमात्म प्रकाश
11. नि.सा. - नियमसार
12. जै.शि.सं. - जैन शिलालेख संग्रह
13. उ. - उत्तराध्ययन
14. उपा. - उपासकाध्ययन
15. गो.जी.गा. - गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा
16. मूला. - मूलाचार
17. त.सू. - तत्त्वार्थ सूत्र
18. पु.सि. - पुरुषार्थसिद्युपाय
19. मो.पा. - मोक्षपाहुड
20. मो.मा.प्र. - मोक्षमार्ग प्रकाशक
21. श्वे. - श्वेताम्बर
22. रा.वा. - राजवार्तिक
23. स.सि. - **सर्वार्थ सिद्धि**
24. भा.सं.जै.यो. - भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

जैन श्रमण : विभिन्न धार्मिक, ऐतिहासिक, साहित्यिक परिप्रेक्ष्य में तथा संघ और सम्प्रदाय

(क) श्रमण विचार धारा की पृष्ठभूमि 31 - 90

(i) जैन श्रमण के पर्यायवाचीनाम 33 (ii) श्रमण अग्रणी : श्रृषभदेव 35
(iii) जैन श्रमण और हिन्दु धर्म 36 (v) जैन श्रमण और वातरशना 41
(vi) जैन श्रमण और इस्लाम 45

(ख) भारतीय पुरातत्व और जैन श्रमण

(i) मोहनजोडरो का पुरातत्व 47 (ii) अशोक के शासन लेख में जैन श्रमण 48 (iii) अहिच्छेत्र के पुरातत्व 49 (iv) कौशाम्बी का पुरातत्व 49 (v) कुहाऊं गुप्तकालीन पुरातत्व 49 (vi) राजगृह का पुरातत्व 50 (vii) बंगाल का पुरातत्व 50 (viii) कादम्ब राजाओं के ताम्रपत्र में जैन श्रमण 50 (ix) एलोरा की गुफाएं 51

(ग) भारत के विभिन्न साम्राज्यों में जैन श्रमण

नन्द साम्राज्य 51 मौर्य साम्राज्य 52 सिकन्दर महान् और जैन श्रमण 52

(छ) भारतीय साहित्य में जैन श्रमण

(i) संस्कृत साहित्य में जैन श्रमण 54 (ii) तमिल साहित्य में जैन श्रमण 55

(ड.) संघ और संप्रदाय

(i) भेद : भूमिका 56 (ii) सम्प्रदाय भेद, उत्पत्ति 57
(iii) श्वेताम्बरीय मान्यता में दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति 69
(iv) दिगम्बर सम्प्रदाय और उसके भेद 75 (v) मूल संघ के गण, गच्छ और अन्वय 76 (vi) नन्दि संघ 78 (vii) सेन संघ 79
(ix) काष्ठा संघ एवं माथुर संघ 79 (x) यापनीय संघ 80
(xi) द्राविड़ संघ 81

श्वेताम्बर सम्प्रदाय और उसके भेद 82
(i) चैत्यवासी, 83 (ii) विविध गच्छ 83 (iii) तपागच्छ 83
(iv) पार्श्व गच्छ 84 (v) आंचल गच्छ 84 (vi) पूर्णिमा एवं सार्ध पूर्णिमिया गच्छ 84 (vii) आगमिक गच्छ 84 ।

सन्दर्भ सूची 85

द्वितीय अध्याय

श्रमण का स्वरूप/अट्ठाइस मूलगुण 91 - 171
धर्म का स्वरूप 91 श्रमण और उसका धर्म 93 मूलगुण 98

पंच महाव्रत
अहिंसा महाव्रत 100 सत्य महाव्रत 102 अचौर्य महाव्रत 103
ब्रह्मचर्य महाव्रत 105 श्रमण और महिला-वर्गव्यवहार 106
परिग्रह त्याग महाव्रत 108

गुप्ति स्वरूप
मनोगुप्ति आदि का विशेष लक्षण 113 गुप्तियों के अतिचार 114
मनोगुप्ति के अतिचार 114 वचन गुप्ति के अतिचार 114
कार्यगुप्ति के अतिचार 114

पंच समिति
ईर्या समिति 115 भाषा समिति 116 एषणा समिति 117
आदान-निक्षेपण समिति 117 उत्सर्ग समिति 117

पंच इन्द्रिय जय
स्पर्शन-इन्द्रिय निरोध 119 रसना-इन्द्रिय निरोध 119
घ्राणेन्द्रिय निरोध 119 चक्षु इन्द्रिय निरोध 119
कर्ण इन्द्रिय निरोध 119

षडावश्यक
समता 120 वन्दना 120 स्तुति 120 प्रतिक्रमण 120
प्रत्याख्यान 120 कायोत्सर्ग 121

केशलोच 121
आचेलक्य 123
अस्नानव्रत 128
भूमिशयन 129
अदन्त धोवन 130
एक भुक्ताहार 130
स्थिति भोजन 131
समीक्षा 131
श्रमण दीक्षा की पात्रता 133
दीक्षा अनुमति विधान 143
दीक्षा ग्रहण विधि 146
पिच्छि कमण्डलु 150
उत्सर्ग-अपवादमार्ग 156
सन्दर्भ सूची 164

तृतीय अध्याय

जैन श्रमण की आचार संहिता 172 - 278

समाचार का अर्थ 172 समाचार के भेद 172 औघिक समाचार 173
पदविभागिक समाचार 176

(क) षडावश्यक

(1) सामायिक 177 (2) चतुर्विंशतिस्तव 180 (3) वंदना 184
(4) प्रतिक्रमण 190 (5) प्रत्याख्यान 192 (6) कायोत्सर्ग 194
षडावश्यकोपसंहार 199
नित्य-नैमित्तिक क्रियाएं 199

(ख) आहार चर्या 201

आहार : स्वरूप एवं भेद 203 आहार ग्रहण का प्रयोजन, 204
भिक्षाचर्या के नाम 206 आहार का समय 208 आहारार्थ गमन विधि 210
संकल्पपूर्वक गमन का विधान 211 आहार ग्रहण के योग्य घर 214
आहार शुद्धि 216 आहार शुद्धि के भेद222उद्गम के भेद '223:
उत्पादन के भेद 224 ग्रहणेषणा विषयक दोष 225 संयोजनादि दोष 226

आहार के अन्तराय 227 आहार की मात्रा व काल 228
आहार ग्रहण विधि 229

(ग) विहार चर्या 232
एकल विहार 234 विश्राम चर्या 236 वसतिका के छ्यालीस दोष 239
वर्षाकाल/वर्षायोग ग्रहण-त्याग 241 संघ में आगन्तुक श्रमण 243

(घ) समाधिमरण 244
(ड.) सदोष श्रमण 250
सन्दर्भ सूची 278

चतुर्थ अध्याय

जैन श्रमण के भेद-प्रभेद और उनका अवदान 279 - 304
(क) जैन श्रमण के भेद प्रभेद 279
(1) आचार्य 280 (i) आचार्य पद के गुण 281
(ii) उत्तराधिकारी आचार्य व नियुक्ति विधि 283 (2) उपाध्याय 284
(3) प्रवर्तक 285 (4) स्थविर 285 (5) गणधर 285
(6) तीर्थंकर मुनि 285 (7) गणधर मुनि 286
अन्य भेद : (i) तपस्वी 286 (ii) शैक्ष्य 286 (iii) गण 286
(iv) कुल 287 (v) संघ 287 (vi) साधु 287 (viii) मनोज्ञ 287

(ख) चारित्र एवं गुणस्थान की अपेक्षा भेद
(i) सामायिक चारित्र 287 (ii) छेदोपस्थापना चारित्र 287
(iii) परिहार विशुद्धि 288 (iv) सूक्ष्म सांपराय 288
(v) यथाख्यात चारित्र 288

(ग) जिनकल्पी और स्थविरकल्पी
(i) जिनकल्पी 289 (ii) स्थविर कल्पी 289

(घ) पुलाक आदि मुनि 289
(i) पुलाक मुनि 290 (ii) बकुश 291 (iii) कुशील 292
(iv) निग्रन्थ 292 (v) स्नातक 292 (vi) अवान्तर भेद
1. संयम 292 2. श्रुत 292 3. प्रतिसेवना 292 4. तीर्थ 293

5. लिंग 293 6. लेश्या 293 7. उपपाद 293 8. स्थान 293

(ड.) भावलिंग/द्रव्यलिंग 294
भाव लिंग 295 द्रव्य लिंग 295

(च) श्रमण का अवदान
धार्मिक दार्शनिक अवदान 298 काव्य स्तोत्र आदि। 301

सन्दर्भ सूची 302

पंचम अध्याय

उपसंहार 305
परिशिष्ट 312 - 320
सन्दर्भ ग्रन्थ सूची 312

णमो लोए सव्व साहूणं

अनुसरतां पदमेतत् करम्बिताचार नित्यनिरभिमुखा।
एकान्तविरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः ।। 16 ।।

पु.सि.उ.

सिद्धों को, जिनवर वृषभों को तथा श्रमणों को बारम्बार प्रणाम करो और यदि दु:खों से छुटकारा पाने की इच्छा हो तो साधू दशा को स्वीकार करो।

एवं पणमिय सिद्धे जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे।
पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं ।।
201 प्रवचनसार ।।

लोक पापक्रियाओं में आसक्त होकर प्रवर्त्तन करता है, मुनि पापक्रियाओं का चिन्तवन भी नहीं करते।

लोक अनेक प्रकार से शरीर की संभाल और पोषण करता है, परन्तु मुनिराज अनेक प्रकार से शरीर को परीषह उत्पन्न करके उन्हें सहन करते हैं।

लोक को इन्द्रिय-विषय अत्यन्त मिष्ट लगते हैं जबकि मुनिराज विषयों को हलाहल विष समान जानते हैं।

लोक को अपने पास जन-समुदाय रूचिकर लगता है, जबकि मुनिराज दूसरों का संयोग होने पर खेद मानते हैं।

लोक को बस्ती सुहावनी लगती है, किन्तु मुनि को निर्जन स्थान ही प्रिय लगता है।

श्री १०८ उपाध्याय परमेष्ठी

"प्रथम अध्याय"

श्रमण विचारधारा की पृष्ठभूमि :

श्रमण का प्रचलित अर्थ साधु से लिया जाता है और साधु की साधुता अन्तरोन्मुखी वृत्ति की परिचायक है। यह श्रमण परम्परा भारतवर्ष की प्राचीनतम धार्मिक परम्परा है। इस काल में श्रमण परम्परा की नींव ऋषभदेव ने डाली थी, जिसका श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों में भी उल्लेख है।[1] वृहदारण्यक, उपनिषद् एवं वाल्मीकि रामायण में भी[2] श्रमण शब्द का प्रयोग हुआ है। महात्मा बुद्ध से पूर्व श्रमण परम्परा की सिद्धि विद्वत्समाज में की ही जा चुकी है। श्रमण परम्परा को पार्श्वनाथ से ही ऐक्यता स्थापन के विरोध में डॉ. हर्मन जेकोवी लिखते हैं - **"यह प्रमाणित करने के लिए कोई आधार नहीं है कि पार्श्वनाथ जैन धर्म के संस्थापक थे। जैन परम्परा ऋषभ को प्रथम तीर्थंकर मानने में सर्वसम्मति से एकमत है। इस पुष्ट परम्परा में कुछ ऐतिहासिकता भी हो सकती है जो आद्य तीर्थंकर मानने को बाध्य कर देती है।**[3]

मानव समुदाय दो वर्गों में विभक्त है- 1 गृहस्थ वर्ग, 2 श्रमण या साधु वर्ग।

"श्रमण" में पालि-प्राकृत का मूल शब्द समण है, जिसका संस्कृत रुपान्तर श्रमण, मागधी में "शमण", अपभ्रंश में सवणु, कन्नड में श्रवण, यूनानी में मेगस्थानीज "सरमनाई", चीनी यात्री हेनसांग ने श्रमणेरस कहा है।

श्रमण शब्द "श्रम" धातु से बना है, जिसका अर्थ है उद्योग करना, परिश्रम करना-ये अर्थ हमारे विचार बिन्दु हैं। परिश्रम होना चाहिए, परन्तु उस परिश्रम का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव क्या हो? यह उससे भी ज्यादा विचारणीय है। "श्रम" का भाव के सन्दर्भ में दार्शनिक क्षेत्र में दो प्रकार की मीमांसाएं मिलती हैं- एक तो वे जो किसी न किसी रुप में एक परमसत्ता की कल्पना करके उसमें ही अपना श्रम स्थापित कर सन्तुष्ट होते हैं, और द्वितीय वे जो किसी भी प्रकार की परमसत्ता की अकल्पना में स्वसत्ता से ही श्रम स्थापित करती हैं और इस द्वितीय प्रकार में जैन दर्शन की गणना है। जैन दर्शन ने श्रमण को आत्म सत्ता में ही उद्यमी बतलाया है। चूंकि यह दर्शन अकर्तावादी दर्शन है।[4] और इसके अनुसार एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता है-जैन दर्शन का

जब यह तथ्य सामने आता है तो यह निराशावादी दर्शन सा लगता है कि, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का भला बुरा नहीं कर सकता है अर्थात् दूसरे का कुछ भी नहीं कर सकते है। परन्तु यहाँ इस ओर भी ध्यान जाना चाहिए कि जब हम किसी का कुछ कर नहीं सकते हैं या करने की आवश्यकता नहीं है तो, जगत के अन्य सभी द्रव्य मिलकर मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते हैं, इसमें अपनी अनन्त शक्ति का बोध भी होना तो चाहिए।

वस्तुतः श्रम तो स्वसत्ता में ही होता है परन्तु उसे स्वाधीन होना चाहिए। कर्त्ता उसे ही कहते हैं जो कार्य की सम्पन्नता के लिए स्वतंत्र है।[5] उसे किसी भी प्रकार से दूसरे की अपेक्षा न रखनी पड़े तथा वह स्वयं उस कार्य रुप से परिणमित हो।[6] वही उस कार्य का कर्त्ता कहा जा सकता है और वही उसका श्रम उद्योग है। अतः श्रमण-धर्म आत्मद्रव्य में श्रम स्थापित करने के लिए स्वीकार किया जाता है न कि लोकोपकार आदि की भावना के वश होकर। भगवती आराधना में व्युत्पत्ति करते हुए कहा कि "श्राम्यति तपस्यतीति श्रमणः। श्रमण शब्दस्य पुंसि प्रवृत्ति निमित्त तपः क्रिया श्रामण्यं" अर्थात् जो तपस्या करता है वह श्रमण है, श्रमण शब्द की पुरुषत्व की प्रवृत्ति में निमित्त होने से तपः क्रिया श्रामण्य है।[7] श्वेता० आगम दशवैकालिक में तो कहा है कि जो दूसरों से सेवा नहीं लेता वही सच्चा श्रमण है।[8] श्रमण से लोकोपकार भी होता है इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं, परन्तु उनका चरम लक्ष्य यह नहीं होता है। श्रमण का चरम लक्ष्य तो आत्म साधना ही होता है। वही उनका उद्यम/व्यवसाय है। यह श्रमण शब्द का भाव है।

जैन दर्शन में चूंकि ईश्वर मार्ग द्रष्टा है, सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता नहीं इसीलिए उसे ऐसे भावों की आवश्यकता पड़ी कि जिसमें स्वावलम्बन की प्रवृत्ति जगे और वही सबका आधार स्तम्भ हो। अतः उसने श्रमण चर्या अपनायी जिससे स्वरुप में सतत सजगता एवं स्वावलम्बन का प्रस्फुटन होता रहे। श्रमण शब्द का प्रयोग बौद्ध और सांख्यों में भी हुआ है, परन्तु जैन धर्म के परिप्रेक्ष्य में प्रयुक्त यह श्रमण शब्द ज्यादा सार्थक है।

- शमन का अर्थ है-"शान्त करना"। अर्थात श्रमण अपने राग-द्वेष आदि चिद्विकारों को भेद विज्ञान के बल से शान्त कर अनन्त शक्तियों में मग्न रहता है, अतः उसे शमन कहते हैं।
- समण = सममणो "समणो" समणस्य भावो सामण्णं। क्वचिदप्यननुगत रागद्वेषता समता सामण्ण शब्देनोच्यते।[9] अर्थात जिसका मन सम है वह समण है। समण का भाव सामण्ण है। किसी भी वस्तु में राग द्वेष न करने रुप समता "सामण्ण" शब्द से कही जाती है।

श्रमणचर्या और उसकी संस्कृति की दृष्टि में सभी जीव समान हैं, उनमें वर्णादि जन्य ऊँच-नीच का भेदभाव अर्थात् असमानता नहीं होती। अतः समष्टि रुप में श्रमण शब्द का भावार्थ होगा कि, **वह प्राणी जो अपने श्रम के बल पर राग-द्वेष आदि विकृत भावों का**

शमन करते हुए सभी भावों एवं प्राणियों के प्रति समभाव रखता है वही श्रमण है। इस तरह श्रम, शम और समरुप त्रिरत्नों पर आधारित है श्रमण विचारधारा की पृष्ठ भूमि।

जैन श्रमण के पर्यायवाची नाम-

जैन श्रमण को जैन और जैनेतर साहित्य में अनेक सम्बोधनों से सम्बोधित किया गया है जो कि निम्न हैं-

1. **अनगार** - न अगारः इति अनगारः अर्थात् जिसके अगार/गृह नहीं वह गृहत्यागी साधु अनगार है। इस शब्द का प्रयोग मूलाचार[10] में अणयार महरिसीणं..... आदि गाथा रूप में हुआ है। इसकी "आचार वृत्ति" में स्पष्ट करते हुए कहा है "न विद्यते गारं गृहं वसस्त्यादिकंयेषां तेऽनगाराः। श्वेताम्बरीय आगमों[11] में भी तं वोसज्जवत्थमणगारे" मिलता है।
2. **आर्य** - आचार्य शिवार्य ने अपने गुरुओं का उल्लेख इसी नाम से किया है-"अज्जजिणणादिगणि-सव्वगुत्तगणि-अज्जमितणंदीण....."[12]
3. **अपरिग्रही** - तिलतुषमात्र परिग्रह रहित जैन श्रमण।
4. **अहीक** - लज्जाहीन, नग्न श्रमण। इस शब्द का प्रयोग जैनेतर साहित्यकारों ने नग्न श्रमणों के लिए घृणा प्रकट करने के उद्देश्य से लिखा है-जैसे बौद्धों के "दाठावंश" में[13] इसे अहिरिका सव्वे सद्धादि गुणवज्जिता।

यथा सठाच दुप्पन्चा सग्गमोक्ख बिबन्धका (88)

बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्ति और कमलशील ने भी अहीक नाम का उल्लेख जैनों के लिए किया है। वाचस्पति अभिधान कोष में भी "अहीक" को दिगम्बर श्रमण कहा है-"अहीक" क्षपणके तस्य दिगम्बरत्वेन लज्जाहीनत्वात् तथात्वम्। श्वे. आचार्य वादिदेवसूरि ने भी अपने "स्याद्वाद-रत्नाकर" पृष्ठ 230 में दिगम्बर साधु का उल्लेख "अहीक" शब्द से किया है।

5. **अकच्छ** - लंगोटी रहित जैन श्रमण[14]
6. **अतिथि** - जैन श्रमण के नाम के सन्दर्भ में ही सागार धर्मामृत में कहा है कि-"ज्ञानादिसिद्धयर्थं तनुस्थित्यर्थान्नाय यः स्वयमं, यत्नेनाताति गेहं वा न तिर्थियस्य सोऽतिथिः[15]
7. **अचेलक** - वस्त्र रहित श्रमण। इस शब्द का प्रयोग जैन एवं जैनेतर साहित्य में अधिकता से मिलता है। मूलाचार गा. 908 में "अच्चेलकं लोचो....." तथा श्वे. आगम आचारांगसूत्र में भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है। वहाँ पर, अजेले परिवुसिए तस्सणं भिक्खुस्सणो एवभवद।[16]
अचेलए ततो चाई, तं वोसज्ज वत्थमणगारे।[17]

ठाणांग सूत्र में "पंचेहित ठाणेहिं समणे णिग्गंथे अचेलए सचेलया हिणिग्गंथीहिं सद्धिं सेवसयाणे नाइक्कमई।" अर्थात् और भी पंचकारणों से वस्त्र रहित साधु वस्त्र सहित साध्वी के साथ रहकर जिनाज्ञा का उल्लंघन करते हैं।[18]

बौद्ध साहित्य में भी जैन श्रमणों को अचेलक से सम्बोधित किया है। जैसे पाटिलपुत्तो अचेलो।[19] चीनी त्रिपिटक में भी "अचेलक" शब्द जैन श्रमण के लिए प्रयुक्त हुआ है।[20] बौद्ध टीकाकार बुद्धघोष "अचेलक से नग्न" भाव ही लेते हैं।[21]

8. **ऋषि** - जैन श्रमण का एक नाम ऋषि भी हैं। परन्तु यह शब्द विशेष रुप से ऋद्धिधारी श्रमणों के लिए हुआ है। आ. कुन्दकुन्द के अनुसार-भय, राय, दोस, मोहो, कोहो, लोहो या जस्स आयत्ता।

पंच महव्वयधारा आयदणं महरिसी भणियं

अर्थात् मद, राग, दोष, मोह, क्रोध, लोभ, माया आदि से रहित जो पंचमहाव्रत धारी हैं, वे महाऋषि हैं।[22] मूलाचार में अनगारों में भी जो महान है वह ऋषि कहा है।[23]

9. **गणी** - श्रमणों के गण (समूह) में रहने के कारण अथवा गण के प्रमुख होने से "गणी" इस नाम से भी जाने जाते हैं। मूलाचार समाचार अधिकार की गा. 43 में "विस्समिदो तद्दिवसं मीमंसित्ता णिवेदयदि गणिणे में गणिणे अर्थात् आचार्य का उल्लेख है।
10. **गुरु** - धर्म क्षेत्र में महान होने के कारण "गुरु" नाम का भी उल्लेख मिलता है। "मूलाचार के समाचार अधिकार में गा. 25 में" एवं आपुच्छिता सगवर गुरुणा विसज्जिओ संतो....." का उल्लेख प्राप्त है।
11. **जिनलिंगी** - वीतरागी सर्वज्ञ भगवान द्वारा उपदिष्ट नग्न भेष का पालन करने के कारण दिगम्बर जैन श्रमण इस नाम से भी जाने जाते हैं।[24]
12. **तपस्वी** - विशेष रुप से तप में लीन होने के कारण समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में तपस्वी शब्द से भी सम्बोधित किया है-

"विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञान-ध्यान-तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते।।[25]

13. **दिगम्बर** - दिशायें ही उनके वस्त्र हैं अतः जैन श्रमण दिगम्बर भी कहलाते हैं। मुनि कनकामर अपने को दिगम्बर शब्द से ही प्रकट करते हैं-

"वइरायहं हुवइं दियंवरेण।
सुपसिद्ध णाम कणयामरेण।।[26]

हिन्दु पुराणादि[27] साहित्य में भी जैन श्रमण इसी नाम से उल्लिखित हुए हैं।

14. **दिग्वास** - विष्णुपुराण (5/10) में जैन श्रमण के लिए यह शब्द प्रयुक्त हैं-"दिग्वाससामयं धर्मः।"
15. **नग्न** - जैन श्रमण यथाजातरुप होते हैं अतः वे नग्न भी कहलाते हैं। आ. कुन्दकुन्द ने इस शब्द का प्रयोग निम्न रुप से किया है।

भावेण होई णग्गो, वाहिर लिंगेण किं च णग्गेण[28]

वराहमिहिर कहते है-"नग्नान् जिनानां विदुः[29]

16. **निर्ग्रन्थ** - अर्न्तवाह्य सर्वथा परिग्रह से रहित होने के कारण जैन श्रमण इस नाम से भी जाने जाते हैं। मूलाचार में "णिव्भूसण णिग्गंथं अच्चेलक्कं जगदि पूज्जं[30] भद्रबाहु चरित्र में-"निर्ग्रन्थ मार्गमृत्सृज्य-सग्रन्थत्वेन ये जड़ाः (श्लोक 95) इसी प्रकार "अहो निर्ग्रन्थता शून्यं किमिदं नौतनं मतम्।"..... (श्लोक 145) आदि नाम उल्लिखित है। इसी तरह णिच्चेल, निरागार, पाणिपात्र, भिक्षुक, महाव्रती, मुनि, माहण, यति, योगी, वातवसन, विवसन, संयमी, स्थविर, साधु, सन्यस्त, श्रमण और क्षपणक आदि नामान्तर जैन श्रमण के प्राप्त हैं।

श्रमण अग्रणी : ऋषभदेव

जैन दार्शनिकों एवं इतिहासज्ञों ने श्रमण विचार धारा के आद्य सूत्रधार के रुप में आद्य तीर्थंकर आदिनाथ को ही स्वीकृत किया, एवं अद्यावधि इस वैचारिक श्रृंखला के प्रेरक एवं समर्थक अन्य 23 तीर्थंकर रहे, जिनमें कि अन्तिम तीर्थंकर महावीर को इस विचारधारा का वर्तमान काल के प्रभावक के रुप में स्मरण किया जाता है।

जैन दर्शन ने एक वृहत्तर युग (कल्प काल) को 6 भागों में विभाजित किया है। इनके आदि के तीन कालों में भोगभूमि रहती है तथा चतुर्थ भाग में भोगभूमि का क्षय हो जाता है और तब एक युग पुरुष का जन्म होता है और वही असि-मसि, कृषि आदि जीवन वृत्तियों का उपदेश देता है,तथा वहीं से नरक-मोक्ष के प्रति लोगों की प्रवृत्ति भी होती है। इस चतुर्थ काल में एक सम्राट ऋषभदेव का जन्म हुआ, 83 लाख वर्ष पूर्व तक के शासन के उपरान्त उन्होंने श्रमण दीक्षा ली। "उस काल में यह प्रथम दीक्षा थी। वे पूर्ण दिगम्बर हो गये। न तो उन्होंने तन ढकने को कपड़ा रखा और न ही अन्य प्रकार का परिग्रह। दिशाएं ही उनका परिधान थी। उस समय मुनिधर्म के सम्बन्ध में लोगों को किंचित भी ज्ञान नहीं था, फिर भी ऋषभदेव के साथ ही अपनी स्वामिभक्ति बतलाने के लिए 4000 राजाओं ने भी दीक्षा ले ली। वे भी उन्हीं के साथ नग्न हो गये।"[31] चूंकि "ऋषभदेव जिनकल्पी साधु थे अतएव अकेले रहते हुए आत्मचिन्तन में लगे रहते थे।"[32] सह-दीक्षित राजाओं को मुनिधर्म के सम्बन्ध में कोई ज्ञान नहीं था, अतः ऋषभदेव की दीक्षा ही उस समय की प्रथम जिनदीक्षा (श्रमण) थी।

सम्राट ऋषभदेव के द्वारा गृहीत यह चर्या, रागादि विभाव को जीतने वाली, यथाजात श्रमण वृत्ति रुप में परिणत महामुनि ऋषभदेव की यह जीवन साधना उनकी अपनी कोई एकदम नवीन नहीं थी, क्योंकि प्रकृति के इस निष्कलंक रूप का उद्घाटन उनसे पूर्व भी अनेकों बार अवश्य हुआ होगा।

अतः जैन शास्त्र तो इस कल्पकाल में ऐसी वृत्यात्मक धर्म के आदि प्रचारक के रूप में ही ऋषभदेव को स्वीकृत करते हैं न कि इस वृत्ति के निर्माता के रूप में मानते हैं।

जैन श्रमण और हिन्दू धर्म :

मनु नाभिराय के पुत्र एवं इस कल्पकाल में आद्य श्रमण संस्कृति के उद्घाटक के रूप में प्रसिद्ध "ऋषभदेव को हिन्दु शास्त्रों में विष्णु के आठवें अवतार के रूप में स्वीकृत किया गया है।[33] वहाँ इन्हें दिगम्बरत्व का आदि प्रचारक के रूप में बतलाया गया है। भागवत् के अध्ययन उपरान्त विश्व विख्यात दार्शनिक सर राधाकृष्णन[34] तथा भागवत् के भाषा भाष्यकार पं. ज्वाला प्रसाद जी मिश्र[35] इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि भगवान ऋषभदेव आद्य जैन श्रमण थे।

जैनाचार्य इन्हें "योगी कल्पतरू के रूप में स्मरण करते हैं।[36]

श्रीमद्भागवत् में इन्हीं ऋषभदेव का परमहंस-दिगम्बर धर्म के प्रतिपादक के रूप में निम्न वर्णन मिलता है।

"एवमनुशास्यात्मजान् स्वयमनुशिष्टानपि लोकानुशासनार्थं महानुभावः परमसुहृद भगवान ऋषभोदेव उपशमशीलानामुपरतकर्मनाम् महामुनीनां भक्तिज्ञानवैराग्यलक्षणम् पारमहंस्य धर्ममुपशिक्ष्यमाणः स्वतनयशत् ज्येष्ठं परमभाववतं भगवज्जनपरायण भरतं धरणीपालनायाभिषिच्य स्वयं भवन एवोवारितं शरीरमात्र परिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधानः प्रकीर्णकेश आत्मन्यारो पिता हवनीयो ब्रह्मावर्तात प्रवव्राज।[37]

अर्थात् इस प्रकार महायशस्वी और सबके सुहृद् ऋषभ भगवान ने यद्यपि उनके पुत्र सभी तरह से चतुर थे, परन्तु मनुष्यों को उपदेश देने के हेतु, प्रशान्त और कर्मबन्धन से रहित महामुनियों को भक्तिज्ञान और वैराग्य को दिखाने वाले परमहंस आश्रम की शिक्षा देने के हेतु, अपने सौ पुत्रों में ज्येष्ठ परमभागवत हरिभक्तों के सेवक भरत को पृथिवी पालन के हेतु, राज्याभिषेक कर तत्काल ही संसार को छोड़ दिया और आत्मा में होमाग्नि का आरोप कर केश खोलकर उन्मत्त की भाँति नग्न हो, केवल शरीर को संग ले, ब्रह्मावर्त से सन्यास धारण कर चल निकले।

इसी ग्रन्थ के स्कन्ध 2, अध्याय 7, पृ. 76 में इन्हें "दिगम्बर और जैन मत का चलाने वाला" उसके टीकाकार ने लिखा है।"[38] इस ही ग्रन्थ के स्कन्ध 5, अध्याय 6, श्लोक 8-11 में यह भी लिखा है कि "इनकी ही शिक्षाओं को लेकर कलियुग में अमुक - अमुक व्यक्ति धर्म का प्रचार करेंगे। इससे यह तथ्य तो स्पष्ट है कि भगवान ऋषभ देव को विष्णु का अष्टम अवतार लिखने वाला भागवत ही जैनधर्म और भगवान ऋषभदेव की शिक्षाओं में भिन्नता नहीं मानता है। जिस महापुरुष ने जैनधर्म की शिक्षा एवं तीर्थ प्रवर्तन किया हो वही जैन तीर्थंकर है भले ही ऐसे महायुग पुरुष को कोई शास्त्र किसी नाम से सम्बोधित क्यों न करे। इससे यह तथ्य प्रगट है कि भारतीय साहित्य केवल भगवान ऋषभदेव के वंश परिचय के सम्बन्ध में ही एकमत नहीं है अपितु उनके तीर्थंकर होने के सम्बन्ध में भी एकमत हैं।

नारद परिव्राजकोपनिषद में छठवें उपदेश के 21 वें सूत्र में कहा है कि "मुमुक्षुः परमहंसाख्यः साक्षान्मोक्षैक साधनम्" इस वाक्य द्वारा परमहंस को साक्षात् मोक्ष का एकमात्र साधन बतलाया है। वस्तुतः जैनेतर शास्त्रों में जहाँ कहीं ऋषभदेव आदिनाथ का वर्णन आता है - उनको परमहंस मार्ग का प्रवर्तक बतलाया है।[39]

एक तथ्य यहाँ द्रष्टव्य है कि ऋषभदेव/आदिनाथ के सम्बन्ध में ही यह वर्णन जैन जैनेतर शास्त्रों में मिलता है, किसी और अन्य प्राचीन मत प्रवर्तक के सम्बन्ध में नहीं - कि वह स्वयं दिगम्बर रहा हो और उन्होंने दिगम्बर धर्म का उपदेश दिया हो। परमहंसोपनिषद के निम्न उद्धरण इस तथ्य का उद्घाटन करते हैं कि परमहंस धर्म के संस्थापक जैन संस्कृति से प्रभावित अवश्य रहे होंगे।

"तदेतद्विज्ञाय ब्राह्मणः पात्रकमण्डलुं कटिसूत्रं कौपीनं च तत्सर्वमप्सु विसृज्या जातरुपधरश्चरेदात्मानमन्विच्छेद यथाजातरुपधरो निर्द्वन्दो निष्परिग्रहस्तत्व ब्रह्ममार्गे सम्यक्सम्पन्नः: शुद्धमानसः प्राणसंधारणार्थ यथोक्तकाले पंचगृहेषु तु करपात्रेण या चिताहार-माहरन् लाभालाभे समोभूत्वा निर्ममः शुक्लध्यानपरायणोऽध्यात्मनिष्ठः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः परमहंस पूर्णानन्दैकबोध् स्तदब्रह्मोऽमोऽहमस्मीति ब्रह्मप्रणवमनस्मरन्भ्रमर कीटक न्यायेन शरीरत्रयमुत्सृज्य देह त्यागं करोति स कृतकृत्यो भवतीत्युपनिषद्।[40]

अर्थात् "ऐसा जानकर ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) पात्र, कमण्डलु, कटिसूत्र और लंगोटी इन सब चीजों को पानी में विसर्जित कर जन्म समय के वेष को धारण कर अर्थात् बिलकुल नग्न होकर विचरण करे और आत्मान्वेषण करे। जो यथाजात रूपधारी, निर्द्वन्द निष्परिग्रह, तत्वब्रह्ममार्ग में भले प्रकार सम्पन्न, शुद्ध हृदय, प्राणधारण के निमित्त यथोक्त समय पर अधिक से अधिक पाँच घरों में विहारकर कर-पात्र में अयाचित भोजन लेने

वाला तथा लाभालाभ में समचित्त होकर निर्ममत्व रहने वाला शुक्लध्यानपरायण, अध्यात्मनिष्ठ, शुभाशुभ कर्मों के निर्मूलन करने में तत्पर परमहंस योगी पूर्णानन्द का अद्वितीय अनुभव करने वाला वह ब्रह्म मैं हूँ, ऐसे ब्रह्म प्रणव का स्मरण करता हुआ भ्रमर कीटक न्याय से-तीनों शरीरों को छोड़ कर देहत्याग करता है, वह कृतकृत्य होता है, ऐसा उपनिषदों में कहा है।"

प्रस्तुत अवतरण सम्पूर्णतः दिगम्बर जैन श्रमण वृत्ति का सारांश है। फिर भी अवतरण में समागत "शुक्लध्यानपरायण" विशेषण जैन दार्शनिकों की ही अपनी मौलिकता है। जैनेतर दर्शनों में कहीं भी "शुक्लध्यान" का प्रतिपादन नहीं हुआ है। पंतजलि ने भी ध्यान के शुक्लध्यान आदि भेद नही प्रस्तुत किये है। अतः योग ग्रन्थों में आदि योगाचार्य के रूप में जिन आदिनाथ का उल्लेख प्राप्त है, वे जैनियों के आदि तीर्थंकर आदिनाथ से पृथक् प्रतीत नहीं होते हैं।

अथर्ववेद के जावालोपनिषद में परमहंस सन्यासी का एक विशेषण "निर्ग्रन्थ"[41] भी दिया है। सन्यासोपनिषद् में सन्यासी के छह भेद किये हैं-[42] परन्तु भिक्षुकोपनिषद[43] याज्ञवल्क्य उपनिषद आदि में सन्यासी के चार भेद - (1) कुटिचक (2) बहुदक (3) हंस (4) परमहंस गिनाये हैं।

इन छहों सन्यासियों में आद्य के तीन सन्यासी त्रिदण्ड धारण करने के कारण त्रिदण्डी कहलाये एवं ये शिखा, जटा एवं वस्त्र कौपीन धारण करते हैं। परमहंस सन्यासी शिखा या यज्ञोपवीत जैसे द्विज चिन्ह धारण नहीं करता और वह एक दण्ड एवं एक वस्त्र धारण करता है, देह में भस्म रमाता है, तूरियातीत सन्यासी एकदम नग्न होता है और वह सन्यास नियमों का पालन करता है, अन्तिम अवधूत पूर्ण दिगम्बर एवं निर्द्वन्द है, वह सन्यास नियमों की भी चिन्ता नहीं करता है, परन्तु वह दिगम्बर जैन श्रमणों की तरह केशलोच नहीं करता, वह अपना सिर मुंडवाता है। अवधूत पद तूरियातीत की मरण अवस्था है। इस कारण इन दोनों भेदों का समावेश परमहंस भेद में ही किन्हीं उपनिषदकारों ने गर्भित कर लिया है।

उपनिषदकारों के इस प्रकार के लेखों से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि एक समय हिन्दू धर्म में भी दिगम्बरत्व का विशेष सम्मान एवं मोक्ष का साक्षात साधन माना गया था, जो कि जैन श्रमणों का प्राण एवं विशेष बाह्य चिन्ह है।

यहाँ पर उपनिषदादि वैदिक साहित्य में जो भी उल्लेख दिगम्बर साधु से सम्बन्धित प्राप्त होते हैं। उन पर भी विचार अपेक्षित है।

जावालोपनिषद्-

"तत्र परमहंसानामसंवर्तकारु णिश्वेत केतुदुर्वासश्रृमुनिदाघजऽभरत..... ।
यथाजात रुपधरो निर्ग्रन्थो निष्परिग्रहस्तद्ब्रह्ममार्गे सम्यक् सम्पन्नः इत्यादि ।[44]

परमहंसोपनिषद्-

"इदमन्तरंज्ञात्वा स परमहंस आकाशाम्बरो न नमस्कारो न स्वाहा करो न निन्दा न स्तुर्तियादृच्छिको भवेत्स भिक्षुः"[45]

नारद परिव्राजकोपनिषद्-

"यथाविधिश्चेज्जात रुपधरो भूत्वा.....जातरुपधरश्चरेदात्मा नमन्विच्छेयथा जातरुपधरो निर्द्वन्दो निष्परिग्रहस्तत्व ब्रहमणमार्गे सम्यक् सम्पन्नः ।

-- तृतीयोपदेशः"[46]

तुरीयः परमोहंसः साक्षान्नारायणो यतिः । एकं रात्रं वसेत् ग्रामे नगरे पंचरात्रकम् (14) वर्षाभ्योऽन्यत्र वर्षासुमासांश्च चतुरोवसेत् ।

.....मुनिः कौपीनवासाः स्यान्नग्नो वा ध्यान वत्सरः (32)
.....जातरुपधरो भूत्वा.....दिगम्बरः (38) चतुर्थोपदेशः[47]

उपर्युक्त उल्लेखों में परिव्राजक को नग्न होने का एवं वर्षाऋतु में एक स्थल पर ही रहने का निर्देश है। परिव्राजकों के षडभेदों में दिखलाया जा चुका है कि उत्कृष्ट प्रकार के परिव्राजक नग्न ही रहते हैं और वह श्रेष्ठतम फल को भी पाते हैं - जैसा कि मिलता भी है -

"आतुरो जीवति चेत्क्रम सन्यासः कर्तव्यः ।.....आतुर कुटीचकयो र्भूलोक भूवलौकौ। वहुदकस्य स्वर्गलोकः हंसस्य तपोलोकः । परमहंसस्यऽस्त्यलोकः । तुरीयातीतावधूतयोः स्वस्मन्येव कैवल्यं स्वरुपानुसंधानेन भ्रमरकीट न्यायवत् ।[48]

उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर सन्यासियों में वस्त्रादिक और दिगम्बरत्व का तात्विक भेद न होता तो उनके परिणामों में इतना पार्थक्य भी नहीं रहता। दिगम्बरत्व ही वास्तविक योगी का रूप है और वही कैवल्य का अधिकारी है। इसीलिए उसे "साक्षात् नारायण" कहा गया है। नारद परिव्राजकोपनिषद में दिगम्बरत्व का निम्न उल्लेख प्राप्त होता है-

"ब्रह्मचर्येण सन्यस्य संन्यासाज्जातरूपधरो वैराग्य सन्यासी"[49]

सम्यक्त्वसंपन्नाः शुद्धमानसाः परमहंसाचरणेन सन्यासेन देहत्यागं कुर्वन्ति ते परमहंसा नामेत्युपनिषद्[50]

याज्ञवल्क्योपनिषद में तो नग्न साधु का उल्लेख देते हुए उसे परमेश्वर का रूप दिया गया है, जो कि जैनों की मान्यता से साम्य रखता है।

"**यथाजातरूपधरा** निर्द्वन्दा निष्परिग्रहास्तत्वब्रह्ममार्गे सम्यक् सम्पन्नाः शुद्ध मानसाः प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले विमुक्तोभैक्षमाचरन्तुदरपात्रेण लाभालाभौ समोभूत्वा **करपात्रेण** वा कमण्डलुदकयो भैक्षमाचरन्नुदरमात्र संग्रहः।..... आशाम्बरो न नमस्कारो न दारपुत्राभिलाषी लक्ष्यालक्ष्य निर्वर्तकः परिव्राट् परमेश्वरो भवति[51]।

मात्र उपनिषदों में ही नग्नत्व का विधान नहीं है अपितु वेदों में भी साधु की नग्नता का सामान्यतः उल्लेख प्राप्त होता है।

देखें यजुर्वेद अ.19 म. 14 में-

"आतिथ्यरूपं मासरम् महावीरस्य नग्नहुः।
रूपमुपसदामेतस्त्रिंत्रो रात्रीः सुरासुता।।

अर्थात अतिथि के भाव महीनों तक रहने वाले पराक्रमशील नग्नता की उपासना करो जिससे ये तीनों मिथ्याज्ञान-दर्शन-चरित्र **रूपी** मद्य नष्ट होती है।

सम्भवतः इस मंत्र द्वारा वेदकार ने जैन तीर्थंकर ऋषभदेव के आदर्श को ग्रहण किया है। दूसरे धर्मों के आदर्श को इस तरह ग्रहण करने के उल्लेख मिलते हैं।[52]

इसके अतिरिक्त अथर्ववेद के पन्द्रहवें अध्याय में जिन व्रात्य और महाव्रात्य का उल्लेख है उनमें महाव्रात्य दिगम्बर साधु का **अनुरूप** है। किन्तु यह व्रात्य का एक वाह्य संप्रदाय था, जो बहुत कुछ निर्ग्रन्थ संप्रदाय से मिलता जुलता था। बल्कि कहना चाहिए कि वह जैन मुनि और तीर्थंकर ही का द्योतक है।[53]

इस अवस्था में यह मान्यता और भी पुष्ट हो जाती है कि जैन तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा दिगम्बरत्व का प्रतिपादन सर्वप्रथम हुआ था और जब उसका प्राबल्य बढ़ गया और लोग समझने लगे कि सर्वोच्च पद पाने के लिए दिगम्बरत्व आवश्यक है तो उन्होंने अपने शास्त्रों में भी स्थान दिया। यही कारण है कि वेदों में भी इसका उल्लेख सामान्यतः मिल जाता है।[54]

सन् 1623 में पिटल डेल्ला वॉल्ला नामक एक यात्री आया था उसने अहमदाबाद में साबरमती के किनारे और शिवालों में अनेक नागा साधु देखे थे जिनकी लोग बहुत विनय करतें थे।[55]

इस वर्तमान काल में भी प्रयाग, हरिद्वार आदि में आयोजित कुम्भ के मेले के अवसर पर हजारों नागा सन्यासी वहाँ देखने को मिल सकते हैं-वे पंक्तिबद्ध शहर में नग्न ही निकलते है।[56]

अतः सारांश रूप में हिन्दू शास्त्रों एवं उनकी संस्कृति में दिगम्बरत्व का महत्व स्पष्ट होता है। अतः दिगम्बरत्व हिन्दुओं के लिए भी पूज्य एवं श्रद्धास्पद वृत्ति है।

जैन श्रमण: और वातरशना-

वातः एवं अशना यस्य सः वातरशना अर्थात् हवाएँ ही जिसके वस्त्र हैं वह वातरशना कहलाता है। वैदिक परम्परा के प्राचीनतम ग्रन्थों में इसका उल्लेख बहुधा मिलता है। जिसका कि सम्बन्ध वैदिक परम्परा से ही जोड़ लिया जाता है, परन्तु यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाए तो इस वातरशना का सम्बन्ध जैन श्रमण परम्परा से योजित करना ज्यादा युक्ति-संगत है।

भागवत पुराण में कहा है कि-

वहिर्षि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान परमर्षिभिः प्रसादितो नाभः प्रियचिकिर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यांधर्मान् दर्शयितुकामोवातरशनानां श्रमणानाम् श्रृषीणाम् ऊर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तन्वावततार"[57] अर्थात् यज्ञ में परमश्रृषियों द्वारा प्रसन्न किए जाने पर, हे विष्णुदत्त, पारीक्षित, स्वयं श्री भगवान (विष्णु) महाराज नाभि का प्रिय करने के लिए उनके रनिवास में महारानी मेरुदेवी के गर्भ में आए। उन्होंने इस पवित्र शरीर का अवतार वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्म को प्रकट करने की इच्छा से ग्रहण किया।

उपर्युक्त अवतरण में विष्णु का ऋषभ अवतार के रूप में जो हेतु भागवत पुराण में बतलाया गया है उससे वातरशना धर्म की परम्परा भारतीय साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद से निःसन्देह निराबाध रूप से जुड़ जाती है।

भागवत पुराण में यह भी कहा गया कि-

"अयमवतारो रजसोपप्लुत-कैवल्योपशिक्षणार्थः"[58]

इस पंक्ति का अर्थ यह किया गया कि भगवान का यह अवतार रजोगुण से भरे हुए लोगों को कैवल्य शिक्षा देने के लिए हुआ। किन्तु उक्त वाक्य का यह अर्थ भी संभव है कि यह अवतार रज से उपप्लुत अर्थात रजोधारण (मलधारण) वृत्ति द्वारा अर्थात् नग्न वृति द्वारा अर्थात् पूर्ण नग्नता में ही रज अर्थात् धूल शरीर से लग सकती है। इस प्रकार के बाह्य भेष द्वारा कैवल्य प्राप्ति की शिक्षा देने के लिए हुआ था।"

जैन श्रमणों की वृत्ति में अस्नान, अदन्तधावन, मलपरीषह आदि द्वारा रजोधारण संयम का आवश्यक अंग माना गया है। बुद्ध के समय में भी रजोजल्लिक श्रमण विद्यमान थे। बुद्ध भगवान ने श्रमणों की आचारप्रणाली में व्यवस्था लाते हुए एक बार कहा था-

"नाहं भिक्खवे संघाटिकस्य संघाटिधारणमत्तेन सामञ्जंवदामि अचेलकस्स अचेलकमत्तेन रजोजल्लिकस्स रजोजल्लिकमतेन---जटिलकस्य जटाधारणमत्तेन सामञ्जं वदामि"[59]

अर्थात हे भिक्षुओं! मैं संघाटिक के संघाटी धारण मात्र से श्रामण्य नहीं कहता, अचेलक के अचेलकत्वमात्र से, रजोजल्लिक के रजोजल्लिकत्व मात्र से और जटिलक के जटाधारणमात्र से भी श्रामण्य नहीं कहता।

उपर्युक्त प्रसंग में प्रश्न है कि जिन वातरशना मुनियों के धर्मों की स्थापना करने तथा रजोजल्लिक वृत्ति द्वारा कैवल्य की प्राप्ति सिखाने के लिए भगवान ऋषभदेव का अवतार हुआ था, वे कब से भारतीय साहित्य में उल्लिखित पाये जाते हैं। इसके लिए जब हम भारत के प्राचीनतम ग्रन्थ वेदों को देखते हैं तो हमें वहाँ भी वातरशना मुनियों का उल्लेख अनेक स्थलों में दिखाई देता है।

ऋग्वेद की वातरशना मुनियों के सम्बन्ध की ऋचाओं में उन मुनियों की साधनायें द्रष्टव्य हैं:-

मुनियों वातरशनाः पिशंगा वसते मला।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षतं।।
उन्मदिता मौनेयेन वातां आतस्थिमा वयम्।
शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभिपश्यथ।।[60]

सायण भाष्य की सहायता से डॉ. हीरालाल जी ने इसका अर्थ निम्न किया है "अतीन्द्रियार्थ दर्शी वातरशना मुनि मल धारण करते हैं जिससे वे पिंगल वर्ण के दिखायी देते हैं। जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं अर्थात् रोक लेते हैं तब वे अपनी तप की महिमा से दीप्यमान होकर देवता स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। सर्व लौकिक व्यवहार को छोड़कर हम मौन वृति से उन्मत वत् (उत्कृष्ट आनन्द सहित) वायु

भाव को (अशरीरी ध्यान वृति को) प्राप्त होते हैं, और तुम साधारण मनुष्य हमारे बाह्य शरीर मात्र को देख पाते हो, हमारे सच्चे आभ्यंतर को नहीं (ऐसा वे वातरशना मुनि प्रकट करते हैं)[61]

ऋग्वेद में उक्त ऋचाओं के साथ में केशी की स्तुति की गयी है।

केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते।।[62]

अर्थात् केशी, अग्नि, जल तथा स्वर्ग और पृथ्वी को धारण करता है। केशी समस्त विश्व के तत्वों का दर्शन कराता है। केशी ही प्रकाशमान (ज्ञान) ज्योति (केवलज्ञानी) *कहलाता है।*

केशी की यह स्तुति उक्त वातरशना मुनियों के वर्णन आदि में की गयी है, जिससे प्रतीत होता है कि केशी वातरशना मुनियों के प्रधान थे।

ऋग्वेद के इन केशी व वातरशना मुनियों की साधनाओं का भागवत पुराण में उल्लिखित वातरशना श्रमण ऋषि उनके अधिनायक ऋषभ और उनकी साधनाओं से तुलना करने योग्य है। ऋग्वेद के वातरशना मुनि और भागवत के वातरशना श्रमण ऋषि एक ही सम्प्रदाय के वाचक हैं यह तो निःसन्देह स्वीकृत है। केशी का अर्थ केशधारी होता है जिसका अर्थ सायणाचार्य ने "केशस्थानीय रश्मियों को धारण करने वाले" किया है और उससे सूर्य का अर्थ निकाला है। किन्तु उसकी कोई सार्थकता व संगति वातरशना मुनियों के साथ नहीं बैठती, जिसकी साधनाओं का उस सूक्त में वर्णन है। केशी स्पष्टतः वातरशना मुनियों के अधिनायक ही हो सकते हैं जिनकी साधना में मलधारण, मौनवृत्ति और उन्माद भाव का विशेष उल्लेख है। सूक्त में आगे उन्हें ही "मुनिर्देव देवस्य सौ कृत्याय सखाहितः"[63] अर्थात् देव देवों के मुनि व उपकारी और हितकारी सखा कहा है। वातरशना शब्द में और मूलरूपी वसन धारण करने में उनकी नाग्न्य वृत्ति का भी संकेत है।

केसर, केश और जटा एक ही अर्थ के वाचक हैं "सटाजटा-केसरयोः"। सिंह भी अपने केशों के कारण केसरी कहलाता है। इस प्रकार केशी और केसर एक ही केसरिया नाथ या ऋषभनाथ के वाचक प्रतीत होते हैं। जैन पुराणों में ऋषभ की जटाओं का उल्लेख किया गया है। पद्मपुराण (3,288) में वर्णन है-"वातोद्धता जटास्तस्यरेजुराकुल मूर्तयः" और हरिवंश पुराण में (9,204) में कहा है कि-"स प्रलम्बजटाभारभ्राजिष्णुः"। इस प्रकार ऋग्वेद के केशी और वातरशना मुनि, तथा भागवतपुराण के ऋषभ और वातरशना श्रमण ऋषि एवं केशरिया नाथ ऋषभ तीर्थंकर और उनका निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय एक ही सिद्ध होते हैं।[64]

केशी और ऋषभ के एक ही पुरुषवाची होने के उक्त प्रकार से अनुमान कर लेने के पश्चात् अनायास ही दृष्टि ऋग्वेद की एक ऐसी ऋचा पर पड़ती है जिसमें वृषभ और केशी का साथ-साथ उल्लेख आया है-ऋचा निम्न है-

"ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद्।
अवावचीत सारथिरस्य केशी।
दुधर्युक्तस्य द्रवतः सहानस।
ऋच्छन्ति मा निष्पादो मुद्गलानीम्।। ऋग्वेद 10,102,6 जिस सूक्त में यह ऋचा आयी है उसकी प्रस्तावना में निरुक्त के जो मुदगलस्य हृता गावः" आदि श्लोक उद्धृत किये गये हैं, उनके अनुसार मुद्गल ऋषि की गौवों को चोर चुरा ले गये थे, उन्हें वापिस करने के लिए ऋषि ने केशी वृषभ को अपना सारथि बनाया, जिसके वचन मात्र से वे गौएँ आगे न भागकर पीछे की और लौट पड़ी। प्रस्तुत ऋचा का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने पहले तो वृषभ और केशी का वाच्यार्थ पृथक् बतलाया है किन्तु फिर प्रकारान्तर से उन्होंने कहा है-

"अथवा अस्य सारथिः सहायभूतः केशी प्रकृष्ट केशो वृषभः अवावचीत् भ्रशमशब्दयत्" इत्यादि।

सायण के इसी अर्थ को तथा निरुक्त के उक्त कथा-प्रसंग को भारतीय दार्शनिक परम्परा को ध्यान में रखते हुए गाथा का यह अर्थ भी प्रतीत होता है-

मुद्गल ऋषि के सारथी (विद्वान नेता) केशी वृषभ जिनका अरिदमन स्वरुप था, तो जब उनकी वाणी खिरी तो उसके फलस्वरुप जो मुद्गल ऋषि की गौवें (इन्द्रियाँ) जुते हुए दुर्धर रथ (शरीर) के साथ दौड़ रही थीं, वे निश्चल होकर मौद्गलानी (मुद्गल की स्वात्मवृत्ति) की ओर लौट पड़ीं।

तात्पर्य यह कि मुद्गल ऋषि की जो इन्द्रियाँ पराङ्मुखी थीं वे उनके उक्त ज्ञानी नेता के थी, वृषभ के धर्मोपदेश को सुनकर अन्तर्मुखी हो गयीं।

इस प्रकार केशी और वृषभ या ऋषभ के एकत्व का स्वयं ऋग्वेद से ही पूर्णतः समर्थन हो जाता है। इसी सम्बन्ध में ऋग्वेद के शिश्नदेवों (नग्नदेवों) वाले उल्लेख भी ध्यान देने योग्य हैं। (ऋग्वेद 7,21,5,10,99,3) इस प्रकार ऋग्वेद में उल्लिखित वातरशना मुनियों के निर्ग्रन्थ साधुओं तथा उन मुनियों के नायक केशी मुनि का ऋषभदेव के साथ एकीकरण हो जाने से जैनधर्म की प्राचीनता की सिद्धि पर बहुत अनुकूल प्रभाव पड़ता है।

उक्त वातरशना मुनियों की जो मान्यता व साधनाएँ वैदिक ऋचा में भी उल्लिखित हैं उन पर से हम इस परम्परा को वैदिक परम्परा से पृथक रुप से स्पष्टतः समझ सकते हैं। वैदिक ऋषि वैसे त्यागी और तपस्वी नहीं थे, जैसे ये वातरशना मुनि थे। वे ऋषि स्वयं गृहस्थ हैं, यज्ञ सम्बन्धी विधि विधान में आस्था रखते हैं और अपनी इहलौकिक इच्छाओं जैसे पुत्र, धन, धान्य आदि सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए इन्द्रादि देवी देवताओं का आह्वान करते-कराते हैं, तथा इसके उपलक्ष्य में यजमानों से धन सम्पत्ति का दान स्वीकार करते हैं। किन्तु ठीक इसके विपरीत ये वातरशना मुनि उक्त क्रियाओं में रत नहीं होते। समस्त गृहद्वार, स्त्री-पुत्र, धन-धान्य आदि परिग्रह, यहाँ तक कि वस्त्र का भी परित्याग कर, भिक्षावृत्ति से रहते हैं। शरीर का स्नानादि संस्कार न कर मल धारण किये रहते हैं - मौन वृति से रहते हैं तथा अन्य देवी देवताओं के आराधन से मुक्त आत्मध्यान में ही अपना कल्याण समझते हैं।[65] स्पष्टतः यह उस श्रमण परम्परा का प्राचीन रुप है जो आगे चलकर अनेक अवैदिक सम्प्रदायों के रुप में जानी गयी और जिनमें से दो अर्थात् जैन एवं बौद्ध सम्प्रदाय आज तक भी विद्यमान हैं। प्राचीन समस्त भारतीय साहित्य, वैदिक, बौद्ध व जैन तथा शिलालेखों में भी ब्राह्मण और श्रमण धर्मों का उल्लेख पाया जाता है।

अतः वेदों में कथित "वातरशना" जैन श्रमणों से ही प्रभावित एक रुप है।

जैन श्रमण और इस्लाम:

जैन श्रमणों का प्रभाव एवं उल्लेख हिन्दु धर्म के अतिरिक्त अन्य इस्लाम आदि धर्मों पर भी पड़ा है।

यद्यपि इस्लाम किसी न किसी रुप में हिंसक वृत्ति का परिचायक ही रहा है एवं यह भारत के लिए विदेशी धर्म भी रहा है, तथापि यह भारत में जैन श्रमणों के निसंग व निष्कलंक रुप से अप्रभावित न रह सका।

पैगम्बर हजरत मुहम्मद का कम वस्त्रों का परिधान एवं हाथ की अंगूठी भी उनकी नमाज़ में बाधक हुआ करती थी।[66] किन्तु यह उनके लिए इस्लाम के उस जन्म काल में संभव नहीं था कि वह खुद नग्न होकर त्याग और वैराग्य-तर्के दुनिया का श्रेष्ठतम उदाहरण प्रस्तुत करते, यह कार्य उनके पश्चात् हुए इस्लाम के सूफी तत्वेत्ताओं के भाग में आया। उन्होंने "तर्क" अथवा त्याग धर्म का उपदेश स्पष्टतः इस तरह दिया।

"To Abandon the world, its comforts and dress,-all things now and to come,-conformably with the Halles of the Prophet"[67]

अर्थात् "दुनियाँ का सम्बन्ध त्याग देना, तर्क कर देना उसकी आशाइशों और पोशाक-सब ही चीजों को अब की और आगे की-पैगम्बर साहब की हदीस के मुताबिक"

इस उपदेश के अनुसार इस्लाम में त्याग और वैराग्य को विशेष स्थान मिला। उसमें ऐसे दरवेश हुए जो दिगम्बरत्व के समर्थक थे और तुर्किस्तान में अब्दुल नामक दरवेश नग्न रहकर अपनी साधना में लीन रहते बतलाये जाते हैं।[68]

इस्लाम के प्रसिद्ध ग्फी तत्ववेत्ता और सुप्रसिद्ध "मस्नवी"नामक ग्रन्थ के रचयिता श्री जलालुद्दीन रूमी नग्नता का उपदेश इस तरह से देते हैं।

1. गुफ्त मस्त ऐ महतब व गुजार रव-अज विरहना के तवां बुरदन गरव (जिल्द-2, पृ. 262)
2. जामा पोशां रा नजर परगाज रास्त-जामै अरियां रा तजल्ली जेवर अस्त (जि.2, पृ.282)
3. "याज अरियानान वयकसू बाज रव-या चूं ईशां फारिग व वे जामा शव" वरनमी तानी कि कुल अरियां शवी-जामा कमकुन ता रह औसत रवी।।" (जि.2, सफा 383)[69] इसका उर्दू अनुपाद "इल्हामें मन्जूम" नामक पुस्तक में इस प्रकार दिया है-
   1. मस्त बोला, महतब, कर कामजा-होगा क्या नंगे से तू अहदे वर आ।
   2. है नजर धोबी पै जामं-पोश की-है तजल्ली जेवर अरियां तनी।।
   3. या विरहनों से हो यकसू बाकई-या हो उनकी तरह वेजामै अखी।
   4. मुतलंकन अरियां जो हो सकता नहीं-कपड़े कम यह है औसत के करीं।।

यहाँ सारांश है कि कोई तार्किक मस्त नग्न दरवेश से विवाद करने लगा। उसने स्पष्ट कह दिया कि वस्त्र अपनाकर, तू नग्न के सामने ठहर नहीं सकता। वस्त्रधारी को सदैव धोने की चिन्ता लगी रहती है, किन्तु नग्न तन की शोभा दैवी प्रकाश है। बस, या तो तू नग्न साधुओं से उलझा न कर अथवा उनकी तरह आजाद और नग्न हो जाओ। और *यदि तू एक साथ वस्त्र उतार नहीं सकता तो न्यूनतम वस्त्र का प्रयोग कर और मध्यम मार्ग* को स्वीकार कर।

उपर्युक्त उपदेश में जैन श्रमणों की चर्या का प्रभाव परिलक्षित होता है। उक्त इस्लाम के इस उपदेश के *अनुसार सैकड़ों मुस्लिम फकीरों ने नग्न वेश को अतीत काल* में धारण किया था उनमें अबुल कासिम गिलानी और सरमद शहीद उल्लेखनीय हैं।[70] वर्तमान काल में भी आज से 11 वर्ष पूर्व कानपुर नगर में प्रसिद्ध फकीर सादिक शाह पंजाब वाले नग्न ही रहते थे, नग्न ही भ्रमण करते थे तथा जिनका इन्तकाल सन् 1976 को महीना 12 *वफात 4 ता. दो बजकर 40 मिनट पर हुआ था तथा इफ्तिखाराबाद मुहल्ले की मस्जिद में*

उनकी मज़ार है जिस पर मैंने स्वयं बहुत लोगों को नित्य नमाज पढ़ते देखा है। मस्जिद बहुत सुन्दर है तथा बाहर उसकी फोटो लगी है। परन्तु वह सवस्त्र है।

(ख) भारतीय पुरातत्व और जैन श्रमण :

(1) मोहन-जो-डारो का पुरातत्व-

भारतीय पुरातत्व में सिन्धुघाटी की मोहन-जो-डारो एवं हड़प्पा नामक ग्रामों में प्राप्त पुरातत्व प्राचीनतम माना जाता है। विद्वानों के अनुसार उसका जीवन काल 6000 से 2400 वर्ष ईसा से पूर्व माना है। वहाँ से कायोत्सर्ग (खड़ी हुयी दोनों हाथ लटकाये ध्यानदशा जो कि जैन श्रमणों का ही वेष है) में योगियों की पाषाण प्रतिमाएँ प्राप्त हुयी हैं। इस सम्बन्ध में ही सर जानमार्शल का कथन है कि "सिन्धु संस्कृति एवं वैदिक संस्कृति के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि इन दोनों संस्कृतियों में परस्पर कोई सम्बन्ध या सम्पर्क नहीं था। **वैदिक धर्म सामान्यतया अमूर्ति पूजक है, जबकि मोहन-जोडारो एवं हड़प्पा में मूर्तिपूजा सर्वत्र स्पष्ट परिलक्षित होती है। मोहन-जो-डारो के मकानों में हवन कुण्डों का सर्वथा अभाव है।**"

रामप्रसाद चाँदा का कथन है कि "सिन्धु घाटी की अनेक मुद्राओं में अंकित न केवल बैठी हुयी देवमूर्तियां योगमुद्रा में है और उस सुदूर अतीत में सिन्धु घाटी में **योग मार्ग के प्रचार को सिद्ध करती है अपितु खड्गासन देवमूर्तियां भी योग की कायोत्सर्ग मुद्रा में हैं, और यह कायोत्सर्ग ध्यान मुद्रा विशेष रुप से जैनों की है।** आदि पुराण में इस कायोत्सर्ग मुद्रा का उल्लेख ऋषभ या वृषभदेव के तपश्चरण के सम्बन्ध में बहुधा हुआ है। भगवान ऋषभ की इस कायोत्सर्ग मुद्रा में खड्गासन प्राचीन मूर्तियाँ ईस्वी सन् के प्रारम्भ की मिलती हैं। प्राचीन मिस्र में प्रारम्भिक राजवंशों के समय की दोनों हाथ लटकाये खड़ी मूर्तियाँ मिलती हैं किन्तु इन प्राचीन मिस्री मूर्तियों तथा प्राचीन यूनानी कुरोई नामक मूर्तियों में प्रायः वही आकृति है, तथापि उनमें उस देहोत्सर्ग-निःसंग भाव का अभाव है, जो सिन्धु घाटी की मुद्राओं पर अंकित मूर्तियों में तथा कायोत्सर्ग मुद्रा से युक्त (जिन) मूर्तियों में पाया जाता है।"**वृषभ**"भगवान ऋषभ का चिन्ह है। प्रो. रानाडे के अनुसार "ऋषभदेव ऐसे योगी थे जिनका देह के प्रति पूर्ण निर्ममत्व उनकी आत्मोपलब्धि का सर्वोपरि लक्षण था।" प्रो. प्राणनाथ विद्यालंकार न केवल सिन्धु घाटी के धर्म को **जैनधर्म** से सम्बन्धित मानते हैं, वरन् वहाँ से प्राप्त एक मुद्रा पर तो उन्होंने "जिनेश्वर (जिनइइसरह) शब्द भी अंकित रहा बताया है। प्रो. एस. श्री कण्ठशास्त्री का कहना है कि "अपने दिगम्बर धर्म, योगमार्ग, वृषभ आदि विभिन्न चिन्हों की पूजा आदि बातों के कारण प्राचीन सिन्धु सभ्यता **जैनधर्म** के साथ अद्भुत सादृश्य रखती है। अतः वह मूलतः अनार्य अथवा कम से कम अवैदिक तो है ही।

उपर्युक्त तथ्यों के एक विहंगावलोकन से यह स्पष्टतः प्रतीत होता है कि भारत का प्राचीनतम पुरातत्व जैन श्रमणों से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रुप में प्रभावित एवं समर्थक रहा है।

(2) अशोक के शासन लेख में जैन श्रमण :

सिन्धु देश के पुरातत्व के पश्चात् सम्राट अशोक द्वारा निर्मित पुरातत्व ही सर्व प्राचीन है। वह पुरातत्व भी जैन श्रमणों के अस्तित्व का द्योतक है। सम्राट अशोक ने अपने एक शासन लेख में **आजीवक** साधुओं के साथ निर्ग्रन्थ साधुओं का भी उल्लेख किया है।[71]

अशोक के पश्चात् खण्डगिरि-उदयगिरि का पुरातत्व जैन श्रमण की प्रसिद्धि का पोषक है। जैन सम्राट खारवेल के **हाथी गुफा** वाले शिलालेख में दिगम्बर श्रमणों का **तापसरूप** का उल्लेख है।[72] उन्होंने सारे भारत के **दिगम्बर** श्रमणों का सम्मेलन किया था। खारवेल की पटरानी ने भी दिगम्बर मुनियों-कलिंग श्रमणों के लिए गुफा निर्मित कराकर उनका उल्लेख अपने शिलालेख में निम्न प्रकार किया है।-

"अरहन्तपसादायम् कलिंगानम् समनानं लेनं कारितम् राज्ञो लालकसहथी-साहसपपोतस् धुतुना कलिंग चक्रवर्तिनो श्री खारवेलस अगमहिलिना कारितम्।"

भावार्थ - अर्हन्त के प्रासाद या मन्दिर रुप यह गुफा कलिंग देश के श्रमणों के लिए कलिंग चक्रवर्ती राजा खारवेल की प्रमुख पटरानी ने निर्मित करायी, जो हथीसाहस के पौत्र लालकस की पुत्री थी।[73]

खण्डगिरि-उदयगिरि के उपर्युक्त शिलालेखों से ई.पू. दूसरी शताब्दी में दिगम्बर श्रमणों के कल्याणकारी अस्तित्व का पता चलता है।

मथुरा का पुरातत्व ई.पू. प्रथम शताब्दी का है और उससे पूर्व भी श्रमणों का जनता में बहुमान होना प्रसिद्ध है। वहाँ की प्रायः संब ही प्राचीन प्रतिमायें नग्न दिगम्बर हैं। एक स्तूप के चित्र में जैन श्रमण नग्न, **पिच्छि** व **कमण्डलु** लिये दिखाये गये हैं।[74] जैसे-

"नमो अर्हतो वर्धमानस आराये गणिकायं लोण शोभिकायें धितुसमण सावियाये नादाये गणिको वसु (ये) आर्हतो देविकुल आयाग सभा प्रयाशिल (T) पटो पतिष्ठापितोनिगन्थानम् अर्हता यतने सहामातरे भगिनिये धितरे पुत्रेण सर्वेन च परिजनेन अर्हत् पुजाये।" अर्थात्-अर्हत् भगवान को **नमस्कार**। श्रमणों के लिए श्राविका आरायगणिका लांणशोभिका की पुत्री नादाय गणिका वसु ने अपनी माता, पुत्री, पुत्र और अपने सर्व कुटुम्ब सहित अर्हत् का एक मन्दिर एक आयाग सभा, ताल और एक शिला निर्ग्रन्थ अर्हतों के पवित्र स्थान पर बनवाये।[75]

एक और आयागपट पर के लेख में भी श्रमणों (दिगम्बर) का उल्लेख है।[76] ऐसे अनेकों वहाँ के पुरातत्वीय उल्लेखों से जैन श्रमणों की सम्माननीय स्थिति की सिद्धि होती है।

(3) अहिच्छेत्र के पुरातत्व :

अहिच्छेत्र पर एक समय नागवंशी राजाओं का राज्य था और वे दिग॰.. जैन धर्मानुयायी थे। वहाँ के कटारी खेडा की खुदाई में डॉ. फुहरर सा. ने एक सभा मन्दिर खुदवाया था। यह मन्दिर ई.पू. प्रथम शताब्दी का अनुमानित है। और यह पार्श्वनाथ का मन्दिर है। इसमें प्राप्त प्रतिमायें सन् 86 से 152 तक की हैं जो कि नग्न हैं। यहाँ एक ईटों का बना हुआ प्राचीन स्तूप भी मिला था, जिसके एक स्तम्भ पर निम्नतः उल्लेख हैं-

"महाचार्य इन्द्रनन्दि शिष्य पार्श्वयतिस्स कोट्टारी"

आचार्य इन्द्रनन्दि उस समय के प्रसिद्ध दिगम्बर श्रमण थे।[77]

(4) कौशाम्बी का पुरातत्व :

कौशाम्बी का पुरातत्व भी दिगम्बर श्रमणों के अस्तित्व का द्योतक है। वहाँ से कुषाण काल का मथुरा जैसा आयागपट्ट मिला है, जिसे राजा शिवमित्र के राज्य में आर्य शिवनन्दि की शिष्या बड़ी स्थविरा के कहने से शिवपालिता ने अर्हत की पूजा के लिए स्थापित किया था।[78]

(5) कुहाऊं का गुप्तकालीन पुरातत्व :

कुहाऊँ (गोरखपुर) से प्राप्त पुरातत्व गुप्तकाल में दिगम्बर श्रमणों की प्रधानता का द्योतक है। वहाँ के पाषाण स्तम्भ में नीचे की ओर जैन तीर्थंकर और साधुओं की नग्न प्रतिमायें है, और उस पर निम्न शिलालेख हैं।

"यस्योपस्थान भूमिनृपति-शतशिरः पातवातावधूता। गुप्तानां वंशजस्य प्रविसृतयशसस्तस्य सर्वोत्तमर्द्धे। राज्ये शक्रोपमस्य क्षितिपः शतपतेः स्कन्द गुप्तस्य शान्तेः। वर्षे त्रिशंददशैकोत्तरक-शत-तमे ज्येष्ठ मासे प्रपन्ने ख्यातेऽस्मिन् ग्राम रत्ने ककुभइति जैन साधु-संसर्ग पुर्ते पुत्रो यस्सोमिलस्य प्रचुर गुणनिधेर्भट्टिसोमो महार्थः तत्सुनू रुद्रसोमः पृथुलमतियथा व्याधरत्यन्य संज्ञो मद्रस्तस्यात्मजो - मूदद्विज - गुरुयतिषु प्रायशः प्रीतिमान्यः।। इत्यादि"

उपर्युक्त उद्धरण का भाव है कि संवत् 141 में प्रसिद्ध साधुओं के संसर्ग से पवित्र ककुभ ग्राम में ब्राह्मण गुरु और यतियों के प्रिय मद्र नामक विप्र रहते थे, जिन्होंने पाँच अर्हत-बिम्ब निर्मित कराये थे। इससे स्पष्ट है कि उस समय ककुभ ग्राम में दिगम्बर श्रमणों

का वृहत् संघ रहता था।

(6) राजगृह (बिहार) का पुरातत्व :

राजगृह का पुरातत्व भी गुप्तकाल में वहाँ जैन श्रमणों के बाहुल्य का सूचक है। वहाँ के गुप्तकालीन नग्न जैन प्रतिमाओं के निम्न शिलालेख द्रष्टव्य हैं।

निर्वाणलाभाय तपस्वि योग्ये शुभेगुहेऽर्हत्प्रतिमाप्रतिष्ठे।
आचार्यरत्नम् मुनिवैरदैवः विमुक्तये कारय दीर्घतेजः।[79]

अर्थात निर्वाण की प्राप्ति के लिए तपस्वियों के योग्य और श्री अर्हन्त की प्रतिमा से प्रतिष्ठित शुभ गुफा में मुनि वैरदेव को मुक्ति के लिए परम तपस्वी आचार्य पद रूपी रत्न प्राप्त हुआ अर्थात् मुनि वैरदेव को श्रमण संघ ने आचार्य पद में स्थापित किया।" इस शिलालेख के निकट ही एक नग्न मूर्ति का निम्न भाग उत्कीर्ण है, जिससे इसका सम्बन्ध दिगम्बर श्रमणों से स्पष्ट है।[80]

(7) वंगाल का पुरातत्व :

गुप्तकाल और उसके बाद कई शताब्दियों तक वंगाल, आसाम और उडीसा प्रान्तों में दिगम्बर जैन धर्म का प्रचलन था। नग्न जैन प्रतिमाएं वहाँ के कई जिलों में बिखरी हुयी मिलती हैं। पहाड़पुर (राजशाही) गुप्तकाल में एक जैन केन्द्र था।[81] वहाँ से प्राप्त एक ताम्रलेख दिगम्बर श्रमण संघ का द्योतक है। उसमें अंकित है कि गुप्त सं. 159 (सन् 478) में एक ब्राह्मण दम्पत्ति ने निर्ग्रन्थ विहार की पूजा के लिए वटगासहली ग्राम में भूमिदान दी थी। निर्ग्रन्थ संघ आचार्य गुहनन्दि और उनके शिष्यों द्वारा शासित था।[82]

(8) कादम्ब राजाओं के ताम्रपत्रों में जैन श्रमण :

देवगिरि से प्राप्त कादम्बवंशी राजाओं के ताम्रपत्र ई. पाँचवी शताब्दि में दिगम्बर श्रमणों के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। एक लेख में है कि महाराजा कादम्ब श्रीकृष्ण वर्मा के राजकुमार पुत्र देववर्मा ने जैन मन्दिर के लिए यापनीय संघ के दिगम्बर श्रमणों को एक खेत दान दिया था। दूसरे लेख में प्रगट है कि "काकुष्ठ वंशी श्री शान्तिवर्मा के पुत्र कादम्ब महाराज मृगेश्वर वर्मा ने अपने राज्य के तृतीय वर्ष में परलूरा के आचार्यों को दान दिया था। तीसरे लेख में कहा गया है कि-"इसी मृगेश्वर वर्मा ने जैन मन्दिरों में और निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) तथा श्वेतपट (श्वेताम्बर) संघों के साधुओं के व्यवहार के लिए एक कालवंग. नामक ग्राम अर्पण किया था।[83]

उदयगिरि (भेलसा) में पाँचवी शताब्दि की बनी हुई गुफाएं हैं। जिनमें जैन श्रमण ध्यान किया करते थे ऐसा उनमें लेख भी है।[84]

इसी प्रकार अजन्ता की प्रसिद्ध गुफाओं के पुरातत्व में ईस्वी सातवीं शताब्दि में दिगम्बर श्रमणों के अस्तित्व की प्रमाणिकता प्राप्त है। वहाँ की गुफा नं. 13 में दिगम्बर श्रमण संघ चित्रित है। गुफा नं. 33 में दिगम्बर प्रतिमाएं हैं।

बादामी (वीजापुर) में सन् 650 ई. की जैन गुफा उस समय के जैन श्रमणों की सत्ता की द्योतक है। उसमें श्रमणों के ध्यान करने योग्य स्थान एवं नग्न प्रतिमाएं अंकित हैं।

(9) एलोरा की गुफाएं :

आठवीं शताब्दी में निर्मित एलोरा की जैन गुफाओं में इन्द्रसभा नामक गुफा में जैन मुनियों के ध्यान करने और उपदेश देने योग्य कई स्थान हैं, और उनमें अनेक नग्न मूर्तियाँ अंकित हैं। बाहुबलि स्वामी की भी खड्गासन मूर्तियाँ "जगन्नाथसभा" "छोटा कैलाश" आदि गुफाएं भी इसी ढंग से की हैं और उनसे तत्कालीन दिगम्बर श्रामण्य की निराबाध सत्ता का परिचय मिलता है।

उपर्युक्त लेखों के अतिरिक्त 8-10 शताब्दी के मूलगुंड, सून्दी (धारवाड) आदि के पुरातत्व जैन श्रमणों की प्रशंसात्मक शिलालेख तथा कोल्हापुर में शिलाहार राजा के शिलालेख मिलते हैं एवं वहाँ के "इरविन म्यूजियम में एक 10वीं शताब्दी का शिलालेख जैन श्रमण के उत्कर्ष को प्रकाशित करता है, तो दूसरी तरफ ग्वालियर और दुवकुंड में 11वीं शताब्दी के शिलालेख दिगम्बर जैन श्रमण के परिचायक हैं, खजुराहो, झालरापाटन, अलवर, विजौलिया, देवगढ (झाँसी) अंजनेरी (नासिक जिला) वेलगाम, बीजापुर, तेवरी (जबलपुर), दिल्ली, लखनऊ, कलकत्ता आदि की पुरातात्विक सामग्री भी दिगम्बर जैन श्रमण संघ की प्रसिद्धि में किसी से भी कम नहीं रही है। निष्कर्ष रुप में पूर्व से पश्चिम एवं उत्तर से दक्षिण तक सम्पूर्ण भारत में दिगम्बर जैन श्रमणों की अर्वाचीनता के भी सूचक शिलालेख पाए जाते हैं, जिससे एक लम्बे प्राचीन काल से दिगम्बर जैन श्रमणों की सर्वमान्यता की सिद्धि होती है।

(ग) भारत के विभिन्न साम्राज्यों में जैन श्रमण :

(1) नन्द साम्राज्य-

जैन श्रमणों की प्राचीन सम्राटों के साम्राज्य में काफी सन्तोषप्रद एवं सम्माननीय स्थिति रही है, प्रसिद्ध नन्द वंश के साम्राज्य में प्रसिद्ध पुरुषों ने स्वयं दिगम्बर जैन श्रमण होकर देशाटन करते हुए जनता का उपकार किया था एवं नन्दराजा जैनों के संरक्षक थे[85] और राजा नन्द के मन्त्री शकटाल के पुत्र स्थूलभद्र ने दिगम्बर श्रमण की दीक्षा स्वीकार की थी।[86] यह नन्द वंश अति प्रतापी एवं विख्यात् सम्राट था। इसने दक्षिण पूर्व और पश्चिमीय समुद्रतटवर्ती देश जीत लिये थे तथा उत्तर में हिमालय प्रदेश और काश्मीर एवं अवन्ती और

कलिंग देश को भी उसने अपने अधीन कर लिया था। कलिंग विजय में उसने वहाँ से समुद्रतटवर्ती देश जीत लिये थे तथा उत्तर में हिमालय प्रदेश और काश्मीर एवं अवन्ती और कलिंग देश को भी उसने अपने अधीन कर लिया था। कलिंग विजय में वह वहाँ से "कलिंगजिन" नामक एक प्राचीन प्रतिमा लाया था और उसे सादर अपनी राजधानी पाटलीपुत्र में स्थापित किया था। अन्तिम नन्द का मंत्री "राक्षस" नीति निपुण व्यक्ति था। "मुद्राराक्षस" नाटक में उसे जीवसिद्धि नामक क्षपणक अर्थात् जैन श्रमण के प्रति विनय प्रदर्शित करते दिखलाया है।

(2) मौर्य साम्राज्य में जैन श्रमण-

नन्द राजाओं के पश्चात् मगध का राजछत्र चन्द्रगुप्त नाम के एक क्षत्रिय राजपुत्र को मिला था। उसने समस्त भारत पर अधिकार करते हुए "मौर्य" नामक राजवंश की स्थापना की थी। जैन शास्त्र इस राजा को दिगम्बर मुनि श्रमणपति श्रुतकेवली भद्रबाहु का शिष्य बतलाते हैं।[87] यूनानी राजदूत मेगास्थनीज भी चन्द्रगुप्त को श्रमण भक्त प्रकट करता है।[88] सम्राट चन्द्रगुप्त ने अपने पुत्र को राज्य देकर भद्रबाहु स्वामी के निकट जिनदीक्षा धारण की थी और वे अन्य दिगम्बर श्रमणों के साथ दक्षिण भारत को चले गये थे।[89] श्रवणबेलगोल का कटवप्र नामक पर्वत उन्हीं के कारण "चन्द्रगिरि" नाम से प्रसिद्ध हो गया है, क्योंकि उस पर्वत पर चन्द्रगुप्त ने तपश्चरण किया था और वहीं उनका समाधिमरण हुआ था।[90] सम्राट अशोक ने अपने एक स्तम्भ लेख में निर्ग्रन्थ श्रमणों के संरक्षण का आदेश प्रसारित किया था।[91]

इस प्रकार मौर्य साम्राज्य में भी जैन श्रमणों की काफी प्रतिष्ठा थी।

(3) सिकन्दर महान और जैन श्रमण-

जिस समय अन्तिम नन्दराजा भारत में राज्य कर रहे थे और चन्द्रगुप्त मौर्य अपने राज्य की नींव डालने में लगे हुए थे। उस समय भारत के पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त पर यूनान का प्रतापी वीर सिकन्दर अपना सिक्का जमा रहा था। जब वह तक्षशिला पर पहुँचा तो वहाँ उसने दिगम्बर मुनियों की बहुत प्रशंसा सुनी।[92] सिकन्दर ने अपने एक दूत को, जिसका नाम अंशकृतस था, उनके पास भेजा। उसने देखा, तक्षशिला के पास उद्यान में बहुत से नंगे मुनि तपस्या कर रहे हैं। उनमें से कल्याण मुनि से उसकी बातचीत होती रही थी, मुनि कल्याण ने अंशकृतस से कहा कि यदि तुम हमारे तप का रहस्य समझना चाहते हो तो हमारी तरह दिगम्बर मुनि हो जाओ। अंशकृतस के लिए ऐसा करना असंभव था। उसने सिकन्दर से जाकर इन मुनियों के ज्ञान और चर्या की प्रशंसनीय बातें कही। सिकन्दर उनसे बहुत प्रभावित हुआ और उसने चाहा कि इन ज्ञान ध्यान-तपोरक्त का प्रकाश मेरे देश में भी पहुँचे। उसकी इस शुभ कामना को मुनि कल्याण ने पूर्ण किया था।[93]

भारतीय सन्तों की शिक्षा का प्रभाव यूनानियों पर विशेष रुप से था। डायजिनेस (Digenes) नामक यूनानी तत्ववेत्ता ने दिगम्बर वेष धारण किया था[94] और यूनानियों ने नग्न प्रतिमाएँ बनवायी थीं।[95]

इस तरह महान सम्राट सिकंदर के साम्राज्य में भी जैन श्रमणों की प्रतिष्ठा प्रतिष्ठित थी।

अन्तिम मौर्य सम्राट वृहद्रथ का उसके सेनापति पुष्यमित्र सुंग ने वध कर दिया था। इस प्रकार मौर्य साम्राज्य को समाप्त करके पुष्यमित्र ने "सुंग राजवंश" की स्थापना की थी। नन्द और मौर्य साम्राज्य में जहाँ जैन और बौद्ध धर्म उन्नत हुए थे, वहीं सुंग राज्य में ब्राह्मण धर्म उन्नत हुआ था परन्तु पुष्यमित्र के राजप्रसाद के सन्निकट नन्दराज द्वारा लायी गयी "कलिंग जिन" की सुरक्षा इस बात को भी सिद्ध करती है कि इस शासन में जैन धर्म पर कोई राजकीय संकट नहीं था।

सम्राट एलखारवेल आदि कलिंग सम्राटों के समय भी जैन श्रमणों का स्वरुप निराबाध था। इस समय मथुरा, उज्जैनी, और गिरिनगर जैन ऋषियों के केन्द्र स्थान थे।[96] खारवेल ने जैन श्रमणों का एक सम्मेलन आयोजित किया था और मथुरा, उज्जैनी, गिरिनगर, काचीपुर आदि स्थानों से दिगम्बर श्रमण उस सम्मेलन में भाग लेने के लिए कुमारी पर्वत पर पहुँचे थे, और बहुत बड़ा धर्म महोत्सव किया गया था।[97] बुद्धिलिंग, देव, धर्मसेन, नक्षत्र आदि दिगम्बर जैनाचार्य उस महासम्मेलन में एकत्रित हुए थे।[98] इन श्रमणों ने मिलकर जिनवाणी का उद्धार किया था,तथा सम्राट खरवेल के सहयोग से वे जैन धर्म के प्रचार करने में सफल हुए थे।

ऐलखारवेल के पश्चात् उनके पुत्र कुदेपश्री खर महामेघवाहन कलिंग के राजा हुए थे। वे भी जैन धर्मानुयायी थे।

गुप्तवंश के राज्यकाल में यद्यपि ब्राह्मण वंश की उन्नति थी किन्तु जन सामान्य में अब भी जैन और बौद्ध धर्मों का ही प्रचार था। गुप्तसम्राट अब्राह्मण साधुओं से द्वेष नहीं रखते थे। इसी प्रकार हर्षवर्धन तथा हुएनसांग के समय में भी जैन श्रमणों का विहार होता था एवं उनकी प्रतिष्ठा थी। पश्चातवर्ती मध्यकालीन हिन्दु राजपूत, मालवा के परमार, राजा भोज, तथा गुजरात के शासकों के मध्य में भी जैन श्रमण स्वरूप प्रतिष्ठित एवं लोकप्रिय रहा था।

(घ) भारतीय साहित्य में जैन श्रमण-

1. संस्कृत साहित्य में-

भारतीय संस्कृत साहित्य में जैन श्रमणों के उल्लेख मिलते हैं। इस साहित्य से अभिप्राय उस सर्वसाधारणोपयोगी संस्कृत साहित्य से है जो किसी विशेष सम्प्रदाय से नहीं कहा जा सकता है। संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध कवि भर्तृहरि के वैराग्यशतक का निम्न छन्द द्रष्टव्य है:

"पाणिः पात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भैक्षमक्षयमन्नं।
विस्तीर्णवस्त्रमाशासुदशकममलं तल्पमस्यल्पमुर्वी।।
येषां निःसंगतागीकरणपरिणतिः स्वात्मसन्तोषितास्ते।
धन्याः सन्यस्तदैन्यव्यतिकर निकराः कर्म निर्मूलयन्ति।।

अर्थात् जिनका हाथ ही पवित्र बर्तन है, मांग कर लायी हुयी भीख ही जिनका भोजन है, दशों दिशाएं ही जिनके वस्त्र हैं, सम्पूर्ण पृथ्वी ही जिनकी शय्या है, एकान्त में निःसंग रहना ही जो पसन्द करते हैं, दीनता को जिन्होंने छोड़ दिया है तथा कर्मों को जिन्होंने निर्मूल कर दिया है, और जो अपने में ही सन्तुष्ट रहते हैं, उन पुरुषों को धन्य है। इसी शतक में कविवर दिगम्बर मुनिवत्चर्या करने की भावना करते हैं -

"अशीमहि वयं भिक्षामाशावासोवसीमहि।
शयीमहि महीपृष्ठे कुर्वीमहि किमीश्वरैः।। 90।।

अर्थात् "अब हम भिक्षा ही करके भोजन करेंगे, दिशा ही के वस्त्र धारण करेंगे अर्थात् नग्न रहेंगे और भूमि पर ही शयन करेंगे। फिर हमें धनवानों से क्या मतलब?

वैराग्यशतक के उपर्युक्त श्लोक निःसन्देह दिगम्बर साधुओं को लक्ष्य करके ही लिखे गये हैं। मुद्राराक्षस नाटक में क्षपणक जीवसिद्धि का अभिनय दिगम्बर श्रमण का ही द्योतक है। इस नाटक के पूर्व अंक के द्वितीय श्लोक में जीवसिद्धि से अलहंताणं पणमामि" अर्थात् "अर्हतों को नमस्कार करता हूँ" कहता है जो कि जैनत्व का पर्याय है।

वराहमिहिर संहिता में भी दि. मुनियों का उल्लेख है। उन्हें वहाँ जिन/भगवान् का उपासक बतलाया है। शाक्यान् सर्वहितस्य शांतिमनसो नग्नान् जिनानां विदुः।।19।। 6।।[99]

अर्हत् भगवान की मूर्ति को भी वह नग्न ही बतलाते हैं।

"आजानु लम्बवाहुः श्रीवत्साक प्रशान्तमूर्तिश्च
दिवासास्तरूणोरूपवांश्च कार्योऽर्हतां देवः।।45 - 48।। व.मि.संहिता

कविदण्डन् अपने दशकुमार चरित में दिगम्बर मुनि का उल्लेख "क्षपणक के नाम से करते हैं, जिससे उनके समय में नग्न मुनियों की सत्ता प्रमाणित है।[100]

इसी प्रकार "प्रबोधचंद्रोदयनाटक" के अंक 3 में निम्नलिखित वाक्य दिगम्बर मुनि के बाहुल्य के बोधक हैं।

"सहि पेक्ख पेक्ख एसो गलण्तमल पंक पिच्छिलवीहच्छदेहच्छवी उल्लुचि अचिउरो मुक्कवसणवेसदुद्सणो सिहिसिहिदपिच्छ आहत्थो इदोज्जेव पडिवहदि" अर्थात् हे सखि देख! देख! वह इस ओर आ रहा है। उसका शरीर भयंकर और मलाच्छन्न है। शिर के बाल लुंचित किये हुए हैं और वह नंगा है। उसके हाथ में मोर-पिच्छिका है और वह देखने में अमनोज्ञ है।

इस पर सखी ने कहा -

"आं ज्ञातंमया, महामोहप्रवर्तितोऽयं दिगम्बरसिद्धान्तः"

(ततः प्रविशति यथा निर्दिष्टः क्षपणकवेशो दिगम्बरसिद्धान्तः")

संस्कृत साहित्य के उपर्युक्त उल्लेखों के आधार पर जैन श्रमणों की साहित्यिक क्षेत्र में भी सत्ता का बोध होता है।

2. तमिल साहित्य में श्रमण-

तमिल साहित्य के मुख्य और प्राचीन लेखक दि. जैन विद्वान रहे हैं। तमिल भाषा का प्राचीनतम व्याकरण ग्रन्थ "तोल्काप्पियम्" एक जैनाचार्य की ही रचना है,तमिल साहित्य के प्राचीनतम काल को "संगम काल" कहते हैं यह ई. पूर्व द्वितीय शताब्दी से ईस्वी पांचवी शताब्दी तक का है। इस काल के साहित्य में बौद्धों द्वारा रचित "मणिमेखलै" प्रसिद्ध काव्य है। इसमें दिगम्बर श्रमणों और उनके सिद्धान्तों का विशद वर्णन है। इसमें निर्ग्रन्थ संप्रदाय को "अरुहन्" (अर्हत) का अनुयायी लिखा है, जो जैन होते हैं। इस काव्य के पात्रों में सेठ कोवलन् की पत्नी कण्णिक के पिता मानाइकन् के विषय में लिखा है कि "जब उसने अपने दामाद के मारे जाने के समाचार सुने तो उसे अत्यन्त दुख हुआ और वह जैन संघ में नंगा हो गया।[101] इस काव्य से यह भी प्रगट होता है कि चोल और पाण्ड्य राजाओं ने जैन धर्म को अपनाया था।[102]

शैव और वैष्णव सम्प्रदायों के तमिल साहित्य में भी दिगम्बर मुनियों का वर्णन है। शैवों के "पेरिय पुण्णम्" नामक ग्रन्थ में मूर्ति नायनार के वर्णन में लिखा है कि कलभ्र वंश के क्षत्रीयजैसे ही दक्षिण भारत में पहुँचे वैसे ही उन्होंने दिगम्बर धर्म को अपना लिया। उस

समय दिगम्बर जैनों की संख्या वहाँ ज्यादा थी और उनके आचार्यों का प्रभाव कलभ्रों पर विशेष था।[103]

वैष्णव तमिल साहित्य "वेतारम" नाम ग्रन्थ से ई. सातवीं-आठवीं शताब्दी के जैन श्रमणों का ज्ञान होता है। अरूलनन्दि शैवाचार्य कृत "शिवज्ञानसिद्धियारं में परपक्ष सम्प्रदायों में दिगम्बर जैनों का "श्रमणरूप" उल्लिखित है।[104] तथा "हालास्यमहात्म्य" में मदुरा के शैवों तथा दिगम्बर मुनियों के वाद का वर्णन मिलता है।[105]

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत के पुरातत्व, साम्राज्य, एवं साहित्य में, सभी विधाओं पर जैन श्रमणों के सन्दर्भ में सहस्रों वर्षों से सम्माननीय उल्लेख मिलते हैं। जिनका विशेष एवं विस्तृत अध्ययन श्री कामता प्रसाद जी की पुस्तक "दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि" से किया जा सकता है। यहाँ पर श्रमणों का "स्वरूपगत" अध्ययन विवक्षित होने के कारण, उसी पर विस्तार से अध्ययन अपेक्षित रहा है।

(ड.) संघ और संप्रदाय

भेद : भूमिका

विश्व की यह एक अकाट्य एवं त्रिकाल व्यवस्था है कि प्रत्येक प्रभावशाली व्यक्तित्व के पश्चात् उसकी संघ-व्यवस्था में दरार आ ही जाती है। यह तथ्य, हर क्षेत्र में, चाहे वह राजनैतिक, धार्मिक या पारिवारिक ही क्यों न हो, लागू रहता है। वस्तुतः राजा की राजनीति नहीं अपितु उसका राजनैतिक प्रभाव लोगों को प्रभावित करता है और जब उसका प्रभाव (दार्शनिक भाषा में संचित पुण्य) क्षीण हो जाता है तो उसकी एक भी राजनीति कारगर नहीं होती है। आज के भारतीय राजनैतिक क्षेत्र में उपर्युक्त तथ्य की संगति समझी जा सकती है। भारत की आजादी के पश्चात् विभिन्न राजनैतिक दल प्रकाश में आए, उसमें महात्मा गांधी के प्रभाव को लेकर चलने वाली कांग्रेस सबसे ज्यादा संफल रही, क्योंकि उस समय महात्मा गांधी के नाम का पर्याप्त प्रभाव था और कांग्रेस महात्मा गांधी के नाम और उनके आदर्शों को लेकर चली जिससे वह काफी सफल और जनमानस में अमिट छाप छोड़ सकी। किसी भी क्षेत्र में लोग प्रारम्भिक अवस्था में किसी महान व्यक्ति के व्यक्तित्व/आदर्शों को लेकर चलते हैं और जब उसका अपना व्यक्तित्व/आदर्श स्थापित हो जाता है तो लोग पूर्व के व्यक्तित्वों को प्रायः भूल जाया करते हैं। इस ही पद्धति से व्यक्तित्वों का भावी इतिहास भी सुरक्षित रहता है। यद्यपि यह तथ्य लोगों को अटपटा लगे, परन्तु लोक-शैली की यह यथार्थ अनुभूति है। स्व. प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी पूर्व में महात्मा गांधी को लेकर चलीं और सदैव विजयी रहीं, जिससे उनका अपना पुण्य प्रताप सामने आने लगा, यद्यपि कालान्तर में उनका पुण्य प्रताप क्षीण भी हुआ, जिससे वे सत्ता से पदच्युत भी हुयीं, और फिर वे एक बार सत्ता में अपने व्यक्तिगत प्रभाव को अपने ही आदर्शों को लेकर आयीं और सत्ता में प्रभावी रूप से छायी रहीं। इस दौरान कुछ लोगों ने कांग्रेस की प्रतिष्ठा को ही स्व. इन्दिरा जी की विजय का प्रमुख कारण माना और

उन्होंने कांग्रेस के नाम और उसके आदर्शों का भी उपयोग करते हुए अपने दल बनाये, परन्तु वे सफल नहीं हो सके, क्योंकि उनका वैयक्तिक पुण्य प्रताप नहीं था। सम्प्रति जनता स्व. इन्दिरा जी को ज्यादा महत्व देती है, अन्य की अपेक्षा। यदि इन्दिरा जी के पश्चात् अन्य कोई प्रभावी आता है, तभी इन्दिरा जी विस्मृत हो सकती हैं। विभाजन भी हर दल में, क्षेत्र में हो जाया करता है। स्वतन्त्रता के पश्चात् भी आपसी विभाजन हुआ था, और जब कांग्रेस स्थापित हुयी एक शासक के रूप में, तो कालान्तर में उसमें भी विभाजन हो गया। यह एक शाश्वतिक व्यवस्था है।

उपर्युक्त यही शैली व कारण जैनधर्म में विभिन्न संघ/सम्प्रदाय के अभ्युदय के साथ घटित होती है। प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ जब धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक हुए, तो उनके नाती (मारीचि) ने ही विभिन्न विरोधी मत-मतान्तर स्थापित करके अपना विरोध प्रगट किया। विरोध का स्वरूप एवं उसका स्वभाव सिद्ध करने के लिए इससे ज्यादा और कोई उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। यह विरोध कालान्तर में बहुत पल्लवित और पुष्पित भी हुआ।

जैसे वैदिक धर्म में विभिन्न मत-मतान्तर हैं ही, बौद्ध धर्म में भी गौतम बुद्ध के पश्चात् विभिन्न सम्प्रदाय उठ खड़े हुए। उसी प्रकार जैन धर्म में भी महावीर के बाद अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के महाप्रयाण पश्चात् विभिन्न मत मूलतः आचार पक्ष को लेकर उठ खड़े हुए। पृथकता का मूल कारण श्रमण चर्या के अन्तर्गत अचेलक-सचेलक व्यवस्था को लेकर रहा। कालान्तर में इसी परिप्रेक्ष्य में तीर्थंकरों की पूजा-पद्धति एवं प्रतिमा-निर्माण पद्धति में भेद स्पष्ट रूप से आ गया। महावीर के पश्चात् केवली और श्रुत केवली के विच्छिन्न होने पर विभिन्न संघ/संप्रदाय के आचार्य महावीर का नाम लेकर ही आगे बढ़ सके, क्योंकि उस समय तक उनके धर्म से साक्षात् परिचित थे। इसी कारण श्वे. सम्प्रदाय के मूल आगमों में अचेलक की ही प्रमुखता है। वस्तु को लेकर जिनकल्प और स्थविर कल्प का भेद नहीं, परन्तु जब इस सम्प्रदाय के आचार्यों का व्यक्तिगत प्रभाव बढ़ा, तो अपनी मान्यता भी महावीर के नाम पर चला दी, क्योंकि प्रामाणिकता के लिए महावीर के नाम को साथ लेकर चलना अत्यावश्यक था, इसके बिना वे सामान्य वर्ग में श्रद्धास्पद नहीं हो पाते, इन सब का विशेष विचार सम्बन्धित प्रकरणों में प्रस्तुत करेंगें। हमारा शोध विषय श्रमण के स्वरूप की महावीर के परिप्रेक्ष्य में गवेषणा करना है। अतः श्रमण के स्वरूप की विवेचना करना ही हमारा प्रतिपाद्य केन्द्र बिन्दु रहेगा।

सम्प्रदाय भेद, उत्पत्ति

दिगम्बर एवं श्वेताम्बर श्रमण स्वरूप विभाजन अचेलक, सचेलक तथ्यों को लेकर है। इस बात में सभी विद्वान एक मत हैं। इस स्वरूप भेद का कारण यह कहा जाता है कि भगवान महावीर ने ही दोनों व्यवस्थाओं को स्वीकृत कर समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया था। यह बात यद्यपि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में ही कहीं जाती है। श्वेताम्बरीय आगमों में

आता है कि दिगम्बर मत निन्हववाद का परिणाम है, एवं पश्चातवर्ती है। इस काल में जिनकल्पीय स्वरूप जिसको कि वे आचेलक्य भावों से लेते हैं, होता ही नहीं है, क्योंकि वे इस काल में सचेलक स्वरूप की ही घोषणा करते हैं। यद्यपि उनके यहाँ आचेलक्य भी स्वीकारा है। दिगम्बर परम्परा में आचेलक्य को ही स्वीकारा है। यही इन दोनों सम्प्रदायों के श्रमण स्वरूप विभाजन का कारण है।

जैनधर्म के 24 तीर्थंकरों में प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव जिनका कि दूसरा नाम आदिनाथ भी है, एवं जो ऐतिहासिक पुरुष समझे जाते हैं- इनको जैन सम्प्रदाय के सभी लोग श्रमणावस्था में नग्न ही स्वीकारते हैं। जिन पर विस्तृत विचार हम पूर्व में कर ही आये हैं। अतः उनके सम्बन्ध में यह तथ्य निर्विवाद है कि उन्होंने अचेलक अर्थात् नग्नता का ही उपदेश दिया था। सचेलक का उपदेश श्रमण के स्वरूप के लिए कथमपि नहीं दिया था। तत्पश्चात् शेष अजितनाथ से लेकर नमिनाथ तक का सार्वजनिक इतिहास ही अप्राप्य है। नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर ऐतिहासिक महापुरुष रहे हैं, जिनके श्रमण स्वरूप सम्बन्धित उपदेशों की जानकारी प्राप्त है।

श्वेताम्बर मत के अनुसार महावीर ने नग्नता को तो स्वीकारा ही था और उसी को श्रेष्ठ समझा भी था, परन्तु जब उनके शासन में पार्श्वनाथ अनुयायी शिष्यों ने आना शुरू किया और उन्होंने यह प्रश्न किया कि पार्श्वनाथ ने तो सवस्त्र मुक्ति का उपदेश दिया आप निर्वस्त्र मुक्ति का उपदेश देते हैं ? तो महावीर ने अपनी पूर्ववर्ती तीर्थकर के साथ सामंजस्य स्थापित करने के लिए उस स्वरूप को भी स्वीकार कर लिया परन्तु स्वयं निर्वस्त्र ही रहे। इस सम्बन्ध में श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रसिद्ध मुनि श्री नथमल जी के विचार देखें -

"इस तथ्य की स्वीकृति यथार्थ के बहुत निकट है कि भगवान (महावीर) का झुकाव विवस्त्र (नग्न) रहने की ओर था। भगवान पार्श्व के शिष्य विवस्त्र रहने में अक्षम थे। इस स्थिति में भगवान ने दोनों विचारों का सामंजस्य कर अचेल और सचेल दोनों रूपों को मान्यता दी। इस मान्यता के कारण भगवान पार्श्व के संघ का बहुत बड़ा भाग भगवान महावीर के शासन में सम्मिलित हो गया।[106] इसके अलावा पार्श्वनाथ के शिष्यों में "विहार" से सम्बन्धित भी विभिन्नता थी उनके शिष्यों के लिए परिव्रजन की कोई मर्यादा नहीं थी। वे एक गाँव में चाहे जितने समय तक रह सकते थे। भगवान महावीर ने इसमें परिवर्तन कर नवकल्पी विहार की व्यवस्था की। उसके अनुसार मुनि वर्षावास में एक गाँव में चार माह रह सकता है। शेष आठ महीने में एक गाँव में एक मास से अधिक नहीं रह सकता।"[107]

महावीर की नग्नता के साथ यह कहा जाता है कि उनके नग्न होने पर भी देवदूष्य उनके कंधों पर पड़ा रहता था। इससे श्वेताम्बर सम्प्रदाय इस मत से अपनी सचेलक

व्यवस्था पर किंचित् सन्तुष्टि कर लेते हैं। परन्तु इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध श्वेताम्बरीय विद्वान श्री मोहनलाल जी मेहता, भू.पू. निदेशक पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बनारस का यह मन्तव्य एक नये सूत्र की ओर हीं इंगित करता है। वे कहते हैं कि "कुछ समय बाद (13 मास बाद) उन्होनें उस वस्त्र (देवदूष्य) का भी त्याग कर दिया था एवं सर्वथा अचेल होकर भ्रमण करने लगे। तब फिर दीक्षा के समय महावीर ने अपने पास जो वस्त्र रखा वह किसलिए ? वह वस्त्र संभवतः प्रव्रज्या की तद्देशीय प्रणाली के अनुसार वे अपने कंधे पर रखे रहे अथवा उससे पौछने आदि का काम लेते रहे। चाहे कुछ भी हुआ हो, **इतना निश्चित है कि महावीर प्रव्रज्या लेने के साथ ही अचेल अर्थात् नग्न हो गये तथा मृत्युपर्यन्त नग्न ही रहे एवं किसी भी रूप में अपने शरीर के लिए वस्त्र का उपयोग नहीं किया।**[108]

भगवान महावीर के सन्दर्भ में तो इस बात के लिए श्वेताम्बर सम्प्रदाय स्वीकृत करते ही हैं कि वे नग्न रहे थे, परन्तु पार्श्वनाथ और उनके शिष्यों के सन्दर्भ में वे कहते हैं कि उन्होंने नग्नता का उपदेश नहीं दिया था, अपितु सचेलक श्रमण स्वरूप का उपदेश दिया था। परन्तु वस्तुतः यह एक भ्रमपूर्ण त्रुटि है। प्रथमतः हमें उन शब्दों पर विशेष ध्यान देना होगा कि पार्श्वनाथ के शिष्यों ने महावीर से सवस्त्र मुक्ति बावत चर्चा की, इस सन्दर्भ में यह हुआ होगा कि -पार्श्वनाथ ने तो श्रमण की अचेलक व्यवस्था का ही उपदेश दिया था परन्तु महावीर के काल तक आते-आते 250 वर्षों की अवधि में उनके समय तक पर्याप्त शिथिलता आ गयी हो, जिससे उस समय तक लोग ही सचेलक व्यवस्था को श्रमण का स्वरूप मानने लगे हों और यह प्रचारित होने लगा हो कि पार्श्वनाथ के शिष्यों ने ऐसा ही उपदेश दिया था। श्वे. सम्प्रदाय ने सचेलक स्वरूप की पुष्टि में पार्श्वनाथ के शिष्यों का महावीर के साथ संवाद प्रस्तुत कर अपने पक्ष की पुष्टि कराने का एक तरीका अपनाया, जो कि उनके पक्ष को सशक्त नहीं बना सका है। क्योंकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अलावा जैनेतर साहित्य को पार्श्वनाथ के सन्दर्भ में बोलता देखते हैं, तो मुझे अपने तथ्य की पुष्टि नज़र आती है। भगवान महावीर के समदेश, समकाल के प्रतीक रूप में कपिलवस्तु के राजा सिद्धार्थ के पुत्र गौतम बुद्ध हुए हैं। जिनको कि ऐतिहासिक मान्यता प्राप्त है। इन्होंने अपना राज परिवार त्याग कर सबसे प्रथम भगवान पार्श्वनाथ की शिष्य परम्परा के जैन साधु पिहितास्रव से ही नग्न साधुदीक्षा ली थी, तब वे नग्न रहते थे, हाथों से भोजन करते थे तथा अपने बालों का स्वयं लोच करते थे। यह तथ्य मज्झिमनिकाय महासीहनादसुत्र 12 में स्वयं महात्मा बुद्ध ने कही है।

"अचेलको होमि हत्थापलेखनो होमि नाभिहंतं च उदिदस्संकतन निमंत्रणं सादियामि सो न कुम्भीमुखा परिगसहामि न कलोपि मुखा परिगहामि न एलकमतरं न दंडमंतरं न मुसलमन्तरं न द्विन्नं भुजमानानं -- केसमस्सुलोचको विहोमि, केसमस्यु लोचनानुयोगं अनुयुतोयाव उदबिन्दुम्हिपिमे दया पच्च पट्ठिता होति।

अर्थात् मैं वस्त्र रहित था, मैंने आहार अपने हाथों में किया। न लाया हुआ भोजन किया, न अपने उद्देश्य से बना हुआ लिया, न बर्तन से खाया, न थाली में खाया ---। मैंने मस्तक दाढ़ी व मूंछों की केशलौंच की क्रिया को चालू रखा। मैं एक बूँद पानी पर भी दयालु रहता था। क्षुद्र जीव की हिंसा भी मेरे द्वारा न हो, ऐसा मैं सावधान था।

"सो ततो सो सीनों एको मिसन के बने।
नग्गो न च आगीं असीनो एकनापसुत्तोमुनीति।।

अर्थात् इस तरह कभी गर्मी, कभी सर्दी, को सहता हुआ भयानक वन में नग्न रहता था। मै आग से नहीं तपता था। मुनि अवस्था में ध्यान में लीन रहता था।

बुद्ध कुछ दिनों तक इस प्रकार जैन साधु का आचरण करते रहे फिर जब उनको यह चर्या कठिन प्रतीत हुयी तो उन्होंने जैन साधु का रूप त्याग कर गेरूआ वस्त्र पहिन लिये और अपनी इच्छा अनुसार तप करने लगे।[109]

उपर्युक्त अंश यह तो स्पष्ट करता है कि पार्श्वनाथ ने श्रमण के लिए अचेलकता का उपदेश दिया था जिसके अनुयायी बुद्ध बने थे, यदि अचेलकता का उपदेश नहीं देते तो बुद्ध की इस प्रकार की दीक्षा प्रसंग का उल्लेख ही नहीं होता, तथा यदि अचेलकता के साथ सचेलक स्वरूप का उपदेश दिया होता तो गौतम बुद्ध जैसों को नग्नता के रूप में कठिन वेष को त्याग नया भेष क्यों अपनाते? वे भी पार्श्वनाथ के सचेलक व्यवस्था में ही दीक्षित होते। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि पार्श्वनाथ ने सचेलक स्वरूप का उपदेश नहीं दिया था। और यह कहना कि महावीर ने पार्श्वनाथ के शिष्य के कथन एवं प्रवृत्ति मात्र से ही सचेलक स्वरूप को मान्यता दी तो फिर उन्होंने पार्श्व के ही शिष्य जो सदैव एक जगह रहने में दोष नहीं मानते थे, उस तथ्य को पार्श्व के नाम पर क्यों नहीं स्वीकारा उसमें परिवर्तन क्यों किया, क्या यह परिवर्तन भाव महावीर को पार्श्वनाथ का विरोधी नहीं कहला सकता है।

इस सन्दर्भ में एक बात बहुत महत्वपूर्ण है कि क्या लोगों की क्षमता के आधार पर श्रमण धर्म का स्दरूप है? या श्रमण धर्म धारण की योग्यता वाला श्रमण धर्म अंगीकार करता है, यदि लोगों की धारण करने की क्षमता के आधार पर श्रमण स्वरूप का निर्धारण है तो फिर उस स्वरूप का निर्धारण ही कभी नहीं किया जा सकता है। पुनश्च, महावीर ने ऐसी गलती क्यों की?कि उन्होंने शिथिलाचारी पार्श्व-अनुयायी को अपने धर्म में दीक्षित करने के उद्देश्य से सचेलकता का भी उपदेश दे डाला। शायद सर्वज्ञ महावीर ऐसी गलती कभी नहीं कर सकते हैं, वस्तुतः अपनी मान्यताओं को महावीर के साथ जोड़ने की एक शैली श्वेताम्बरीय आगमों ने अपनायी, जो कि काफी पश्चात् रची गयी थी। इस प्रकार के संवादों के रचने का एक उद्देश्य यह था कि इस प्रकार पश्चातवर्ती श्रमणों/श्रावकों को उन तथ्यों की प्रामाणिकता सी लगती, जैसा कि सामान्य जन भ्रम किये बैठे हैं। अतः दार्शनिक दृष्टिकोण से भी महावीर का इस प्रकार का चिन्तन होना तर्क संगत नहीं लगता

कि मात्र लौकिक सामंजस्य स्थापित करने के लिए ही वह अपनी दार्शनिकता को ही तिलांजलि दे बैठें, क्योंकि अचेलक और सचेलक व्यवस्था में कोई सामान्य अन्तर नहीं है अपितु इनमें जमीन-आसमान का अन्तर है। पार्श्वनाथ एवं महावीर ने तो अचेलक (नग्नता) का उपदेश दिया ही था साथ ही भविष्य के तीर्थंकर महापद्म भी अचेलकता का उपदेश देगें। यह भी श्वे. मान्य स्थानांग सूत्र में मिलता है-

"से जहाणामए अज्जो। मए समणाणं णिग्गंथाणं णग्गभावे मुंडभावे अण्हाणए अदंतवणए अच्छत्तए अनुवाहणए भूमिसेज्जा, फलगसेज्जा, कट्ठसेज्जा केसलोए बंभचेरव से परधरपवेसे ---। एवामेव महापउमेवि अरहा समणाणं णिग्गंथाणं णग्गभावं, (मुण्णभाव अण्हाणयं ---) लद्धावलद्धवित्ती पण्ण वेहिति[110]

अर्थात् आर्यों, मैने श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए जैसे नग्नभाव, मुण्डभाव, स्थान-त्याग, दन्तधावनत्याग, छत्र धारणत्याग - आदि का निरूपण किया है उसी प्रकार महापद्म अर्हन्त निरूपण करेगें।

यहाँ पर महावीर एवं महापद्म के उपदेशों की एकता बतलायी है, परन्तु इस प्रकार का कहीं भी उल्लेख नहीं है कि, दीक्षा के पश्चात् "देवदूष्य भी डाला जाएगा। इससे देवदूष्य की भी कल्पना यथार्थ के बहुत नजदीक नहीं लगती है।

महावीर के निर्वाण के 200 वर्ष पश्चात् तक संघ भेद के बीज अंकुरित हो चुके थे, यही स्थिति पार्श्वनाथ के साथ रही होगी। महावीर के निर्वाण के उपरान्त दिगम्बर परम्परानुसार 62 वर्ष में क्रमशः गौतम गणधर 12 वर्ष, सुधर्मा स्वामी 11, जम्बूस्वामी 39 वर्ष तक केवली रहे। इस प्रकार 3 केवली हुए और 100 वर्ष में 5 श्रुत केवली-विष्णु कुमार (नन्दि) 14 वर्ष, नन्दिमित्र 16 वर्ष, अपराजित 22, गोवर्धन 19, भद्रबाहु (प्रथम) 29 वर्ष तक श्रुतकेवली रहे। अतः महावीर के निर्वाण पश्चात् 162 वर्ष पर्यन्त केवली और श्रुतकेवली हुए। श्वेताम्बर परम्परानुसार महावीर के जीवनकाल में ही 9 गणधरों का निर्वाण हो गया था और भद्रबाहु का निर्वाण 170 वर्ष पश्चात् मानते हैं जिसमें दोनों परम्पराओं में भद्रबाहु के निर्वाण में 8 वर्ष का अन्तर रहता है। दिगम्बर परम्परा भद्रबाहु को चन्द्रगुप्त का समकालीन मानती है एवं भद्रबाहु के संघ में चन्द्रगुप्त मौर्य को दीक्षित कहती है, जिस पर विशेष स्पष्टीकरण आगे होगा। परन्तु कुछ परम्पराएं चन्द्रगुप्त को भद्रबाहु का समकालीन नहीं मानती, अपितु चन्द्रगुप्त मौर्य को भद्रबाहु से 60 वर्ष आगे सिद्ध करती हैं। अर्थात् महावीर निर्वाण के 215 वर्ष पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्याभिषेक कहती हैं। इस सम्बन्ध में जैनेन्द्र सिद्धान्त कोषकार की टिप्पणी द्रष्टव्य है।

"जैनशास्त्र के अनुसार पालक का काल 60 वर्ष और नन्दवंश का 155 वर्ष है। तदनन्तर अर्थात् वी.नि. 215 में चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्याभिषेक हुआ। श्रुत केवली भद्रबाहु (वी.नि. 162) के समकालीन बनाने के अर्थ श्वे. आचार्य श्री हेमचन्द्र सूरि ने इसे वी.नि. 155 में राज्यारूढ़ होने की कल्पना की। जिसके लिए उन्हें नंदवंश के काल को 155 से घटाकर 95 वर्ष करना पड़ा। इस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य के काल को लेकर 60 वर्ष का मतभेद पाया जाता है। दूसरी ओर पुराणों में नंदवंशीय महापद्मनन्दि के काल को लेकर 60 वर्ष का मतभेद है। वायुपुराण में उसका काल 28 वर्ष है और अन्य पुराणों में 88 वर्ष। तथा 88 वर्ष मानने पर नंदवंश का काल 183 वर्ष आता है और 28 वर्ष मानने पर 123 वर्ष। इस काल में उदयी (अजक) के अवन्ती राज्यवाले 32 वर्ष मिलाने पर पालक के पश्चात् नंद वंश का काल 155 वर्ष आ जाता है। इसलिए उदयी तथा उसके उत्तराधिकारी नन्दिवर्द्धन की गणना नन्द वंश में करने की भ्रान्ति चल पड़ी है। वास्तव में ये दोनों राजा श्रेणिक वंश में है, नन्द वंश में नहीं। नन्द वंश में नव नन्द प्रसिद्ध हैं जिनका काल महापद्म नन्द से प्रारम्भ होता है।[111]

महावीर के निर्वाण के पश्चात् श्रुतकेवलियों की परम्परा में भद्रबाहु एक ऐसे आचार्य हुए कि जिनके व्यक्तित्व को दोनों परम्पराओं ने एक मत से स्वीकार किया है। परम्पराओं के अनुसार श्रुतकेवली भद्रबाहु निमित्त ज्ञानी थे। उनके ही समय संघ भेद प्रारम्भ हुआ था। अपने निमित्त ज्ञान के आधार पर उन्होंने उत्तर भारत में होने वाला द्वादश वर्षीय दुष्काल का आगमन जानकर भद्रबाहु ने बारह हजार मुनि संघ के साथ दक्षिण की ओर प्रस्थान किया। इनके साथ चन्द्रगुप्त मौर्य भी थे। यह दीक्षा प्राप्त करने वाले अन्तिम राजा था। जब भद्रबाहु ने अपना शरीर त्याग का काल जाना तो उन्होंने संघ को चोल, पाण्ड्य प्रदेशों की ओर जाने का आदेश दिया और स्वयं श्रवणवेलगोल में ही कटवप्र नामक पहाड़ी पर समाधिमरण पूर्वक शरीर त्याग किया। इस प्रसंग का एक छठी शती का लेख पुन्नाड के उत्तरी भाग में स्थित चन्द्रगिरि नामक पहाडी पर प्राप्त है और उसके सामने विन्ध्यागिरि पर चामुण्डराय द्वारा स्थापित गोम्मटेश्वर बाहुवलि की 57 फीट ऊँची एक भव्य प्रतिमा प्रतिष्ठित है।

श्वे. परम्परा के आचार्य हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्वन् के अनुसार भद्रबाहु दुष्काल समाप्त होने के पश्चात् दक्षिण से मगध वापिस हुए और पश्चात् महाप्रयाण करने नेपाल चले गये। परन्तु इस तथ्य का कोई प्रामाण्य नहीं है, क्योंकि "यह कथन कि 'महाप्रयाण करने नेपाल गये" की अपेक्षा यह कथन कि "कटवप्र" पहाडी पर महाप्रयाण हो चुका" काफी प्रामाणिक है और इस कथन से सम्बन्धित पर्याप्त शिलालेख कर्नाटक देश में प्राप्त है, तथा भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त की समकालीनता पूर्वक गुरु-शिष्य सम्बन्ध के भी काफी प्रमाण हैं जो निम्नतः हैं।

श्रवणबेलगोल का पार्श्वनाथ वस्ति के दक्षिण की ओर के शिलालेख नं. 1, लगभग शक सं. 522 –

'जितं भगवता श्रीमद्वर्द्धमानेन तीर्थं विधायिना।
वर्द्धमानेन सम्प्राप्तसिद्धि सौख्यामृतात्मना ।।1 ।।
लोकालोक द्व्याधारवस्तु ---------- प्रवादि मत शासनम् ।।4।।

अथ खलु सकल जगदुदय करणोदितातिशयगुणास्पदीभूत परमजिनशासन सरस्समभिवर्द्धित भव्यजनकमलविकशनविर्तिमिर गुणकिरणसहस्रमहोतिम महावीरसवितरि परिनिर्वृते भगवत्परमर्षि गौतमगणधर साक्षाच्छिष्यलोहार्यजम्बु-विष्णुदेव-अपराजित गोवर्द्धन,भद्रबाहु-प्रोष्ठिल-क्षत्रियकार्य जयनामसिद्धार्थ धृतषेण बुद्धिलादि गुरूपरम्परीणक्रमाभ्यागत महापुरूषसन्तति समवधोतान्वयभद्रबाहु स्वामिना उज्जयिन्यां अष्टांग महानिमित्त तत्वज्ञेन त्रैकाल्यदर्शिना निमित्तेन द्वादशसम्वत्सर-कालवैषम्यमुपलम्य कथिते सर्वसंग उत्तरपथात् दक्षिणापंथ प्रस्थितः आर्षेणैव जनपदं-अनेक ग्रामशत संख्यमुदितजनधनकनकशस्य गोमहिषाजाविकल समाकीर्णम् प्राप्तवान्। अतः आचार्यः प्रभाचन्द्रेणामावनित लललाम भूतेयास्मिन् कटवप्रनामकोपलक्षिते विविध तस्वर कुसुमदलावलिविकलनशवलविपुलसजल जदनि वहनी लोपलतले वराहद्वीपिव्याघ्रर्क्षतरक्षु, व्यालमृगकुलोपचितोपत्यका कन्दरदरीमहा गुहा गहनभोगवतिसमुतुंगशृंग शिखरिणि जीवितशेषम् अल्पतरकालं अवबुध्याध्वनः सुचकितः तपःसमाधिम् आराधयितुम् आपृच्छ्य निरवशेषेण संघम् विसृज्य शिष्येणेकेन पृथुलकास्तीर्णतलासु शिलासु शीतलासु स्वदेहम् सन्नयस्याराधितवान् क्रमेण सप्तशतं ऋषिणाम् आराधितम् इति। जयतु जिनशासनं इति।

गद्यार्थ –

समस्त जगत का उदय करने वाले, अनुपम गुणों से विभूषित, जैन शासन को उन्नत करने वाले, भव्य जन समुदाय को विकसित करने वाले, अज्ञान अन्धकार को दूर करने वाले श्रीमहावीर प्रभु रूपी सूर्य के मुक्ति प्राप्त करने पर भगवान के परमऋषि गौतम गणधर के साक्षात् शिष्य सुधर्मास्वामी, जम्बूस्वामी, विष्णुदेव, अपराजित, गोवर्द्धन, भद्रबाहु, प्रोष्ठिल, क्षत्रियाचार्य, जयनाम सिद्धार्थ, धृतषेण, बुद्धिल, आदि गुरूपरम्परा से क्रम से चली आयी महापुरूषों की सन्तति को प्रकाशित करने वाली परम्परा में भद्रबाहु स्वामी के द्वारा उज्जयिनी में अष्टांग महानिमित से तत्वज्ञ त्रिकालदर्शी निमित से 12 वर्षीय काल विषमता (अकाल, दुर्भिक्ष) को जानकर अपने संघ को कहकर ससंघ उत्तरपथ से दक्षिण पथ की ओर चल दिये। ससंघ भद्रबाहु धन, जन, धान्य, सुवर्ण, गाय भैंस आदि पदार्थों से भरे हुए अनेक ग्राम नगरों में होते हुए पृथ्वी तल के आभूषणरूप इस कटवप्र नामक पर्वत पर आए। मुनि प्रभाचन्द (चन्द्रगुप्त) भी साथ में थे। अनेक प्रकार के वृक्ष, फूल, फल से शोभायमान, सजल बादल समूहों से सुशोभित सिंह, बाघ, सुअर, रीछ, अजगर, हरिण आदि जंगली जानवरों से भरे हुए, गहन गुफाओं और उन्नत शिखरों से विराजमान इस कटवप्र पर्वत पर

अपना अल्प जीवन जानकार समाधि सहित शरीर त्याग करने के लिए समस्त संघ को विदा करके एक शिष्य के साथ भद्रबाहु स्वामी ने विस्तीर्ण शिलाओं पर समाधि मरण किया, तथा संघ के 700 ऋषियों ने भी समय-समय पर यहाँ चार आराधनाओं का आराधन किया है। जैन धर्म जयवंत होवे।

शिलालेख नं. 64, शक संवत लगभग 1085

श्री भद्रस्सर्वतो यो हि भद्रबाहुरिति श्रुतः
श्रुतकेवलि नाथेषु चरमः परमो मुनिः

चन्द्र प्रकाशोज्वल सान्द्रकीर्तिः
श्री चन्द्र गुप्तौजिन तस्य शिष्यः
यस्य प्रभावाद्वन देवताभि
राराधितः स्वस्य गुणो मुनीनाम्।।

अर्थ –

सर्व प्रकार से कल्याण कारक, श्रुतकेवलियों में अन्तिम श्रुतकेवली श्रीभद्रबाहु परम मुनि हुए। उनके शिष्य चन्द्रगुप्त हुए जिनका यश चन्द्र समान उज्ज्वल है और जिनके प्रभाव से वन देवता ने मुनियों की आराधना की थी। शिलालेख नं. 67 शकसंवत् लगभग 1050

वर्ण्यः कथन्तु महिमा भण भद्रबाहुः
मोहोकमल्लमदमर्दन वृतःबाले :।
यच्छिष्यताप्तसुकृतेन च चन्द्रगुप्तः
सुश्रूषते स्म सुचिरं वनदेवताभिः।।

अर्थ –

मोह रूपी महायोद्धा के मद को मर्दन करने वाले श्री भद्रबाहु स्वामी की महिमा का वर्णन कौन कह सकता है, जिनके शिष्यत्व के पुण्यप्रभाव से वनदेवताओं ने चन्द्रगुप्त की बहुत दिनों तक सेवा की।

(गौतमे क्षेत्र में बहने वाली कावेरी नदी के पश्चिम भाग में रामपुर के अधिकतर सिंगरी गोडा के खेत में प्राप्त शिलालेख 9वीं शताब्दी) श्री राज्यविजय सम्वत्सर सत्यवाक्य परमानदिगल्लु आलुत वाल्किनेय वर्षात् मार्गशीर्ष मासद पेरतले दिवासभागे स्वस्ति समस्तविद्यालक्ष्मी प्रधान निवासप्रभव प्रणत सकल सामन्त समूह भद्रबाहु चन्द्रगुप्त मुनिपति चरणलाच्छवाजित विशालसिर कल वप्पु गिरिशनाथ वेलगुलाधिपति गणधा श्रीवर मतिसागर पण्डितभट्टार वेसदोल अन्नयनुं देवकुमारनुं धोरनुं इलदुर आरण्णे वाणपल्लिग कोण्ड श्रीके सिग --- तले नेरिपुल कट्टन कट्ट सुडर के कोट्टस्थिति क्रम व एन्तुव यन्दोदे बंडर नियनीर वयगीय गिड वरिस पेतेन्दि ऐरदनेय वरिसमेड अलविमुरने यवरिस

दन्दिगे यडलवीयेला कलांक यल्लं इल्द युलल्लु सलगु।

अर्थ –

समस्त लक्ष्मी और सरस्वती का निवास स्थान और समस्त सामन्तों द्वारा नमस्कृत श्रीभद्रबाहु और चन्द्रगुप्त महामुनि के चरणों से मंडित कटवप्र पर्वत सदा विजयशील रहे।

शिलालेख नं. 258, शक संवत लगभग 1355
सिद्धरवस्ती में दक्षिण की ओर एक स्तम्भ पर (प्रथम मुख)

तदन्वये शुद्धिमति प्रतीते समग्रशीलामलरत्नजाले।
अभूद्यतीन्द्रो भुवि भद्रबाहुः पयः पयोधाविव पूर्णचन्द्रः ।।6।।
भद्रबाहुराग्रिमः सभग्रबुद्धिसम्पदा
शुद्धसिद्धशासनं सुशब्द-बन्ध-सुन्दरं
इद्धवृतसिद्धिरत्र बद्धकर्म्भमितपो -
वृद्धि वर्द्धित प्रकीर्तिरूद्धे महर्द्धिकः ।। 17।।
यो भद्रबाहुः श्रुतकेवलीनां मुनीश्वराणामिह पश्चिमोऽपि ।
अपश्चिमोअभूद्विदुषां विनेता सर्व्वश्रुतार्थप्रतिपादनेन।। 8।।
तदीय शिष्योअजनि चन्द्रगुप्तः समग्रशीलानतदेववृद्धः।
विवेश यतीव्रतपः प्रभाव-प्रभूत-कीर्तिर्ब्भुवनान्तराणि ।।9।।

भावार्थ –

जिसमें समस्त शील रूपी रत्नसमूह भरे हुए हैं और जो शुद्ध बुद्धि से प्रख्यात है उस वंश में समुद्र में चन्द्र समान श्रीभद्रबाहु स्वामी हुए। समस्त बुद्धिशालियों में श्री भद्रबाहु स्वामी अग्रेसर थे। शुद्ध सिद्ध शासन और सुन्दर प्रबन्ध से शोभा सहित बढ़ी हुयी है व्रत की सिद्धि जिनकी तथा कर्मनाशक तपस्या से भरी हुयी है कीर्ति जिनकी ऐसे ऋद्धिधारक श्री भद्रबाहु स्वामी थे।

जो भद्रबाहु स्वामी श्रुत केवलियों में अन्तिम थे तथा अखिल शास्त्रों का प्रतिपादन करने से समस्त विद्वानों में प्रथम थे।

जिनके शिष्य चन्द्रगुप्त ने अपने शील से बड़े-बड़े देवों को नम्रीभूत बना दिया था। जिन चन्द्रगुप्त के घोर तपश्चरण के प्रभाव से उनकी कीर्ति समस्त लोकों में व्याप्त हो गयी है।

श्रवणबेल्गोल में भी अभिलेख सं. 166, शक सं. लगभग 1032 (भद्रबाहु गुफा के भीतर पश्चिम की ओर चट्टान पर) परन्तु इस समय यह लेख उपलब्ध नहीं।

श्री भद्रबाहु स्वामियं पादपं जिनचन्द्र प्रणमतां"।

भद्रबाहु स्वामी और सम्राट चन्द्रगुप्त के सन्दर्भ में जब हम उपर्युक्त श्रवणवेलगोल के शिलालेखों का आलोकन करते हैं तो यह निश्चित मानना पड़ता है कि भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली थे और चन्द्रगुप्त सम्राट थे जो जैन मान्यतानुसार अन्तिम दीक्षित सम्राट हैं।[112]

इस प्रसंग में एक ऐतिहासिक तथ्य है कि इतिहास में इनके राज्याभिषेक आदि का तो उल्लेख मिलता है, परन्तु इनकी मृत्यु कैसे हुयी एवं कहाँ पर हुयी इस विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता है। अतः ऐसी स्थिति में जैन मान्यता ही मान्य है कि जब सम्राट चन्द्रगुप्त की राजधानी उज्जैन में श्रुतकेवली भद्रबाहु आए और सम्राट ने रात्रिकालीन स्वप्नों का फल जानने की जिज्ञासा प्रगट की, उस स्वप्न फल के वैराग्य में सम्राट दीक्षित होकर दक्षिण चले गये चूंकि सम्राट दीक्षित हो चुके थे और तुरन्त 12 वर्ष का अकाल पड़ा था।अतः ऐतिहासिक उल्लेख प्राप्त नहीं है।

उपर्युक्त शिलालेखों के प्रसंग में प्रथम शिलालेख की इन पंक्तियों के आधार

"भद्रबाहु स्वामिना उज्जयन्यामष्टांग-महानिमित्त-तत्वज्ञेन त्रैकालय-दर्शिना निमित्तेन --"

इस पर कुछ विद्वान् यह कल्पना करते हैं कि उत्तर से दक्षिण की ओर जाने वाले भद्रबाहु श्रुतकेवली नहीं अपितु अष्टांग ज्ञाता निमित्तज्ञ द्वितीय भद्रबाहु थे। जो श्रुतकेवली भद्रबाहु के पश्चातवर्ती हैं। परन्तु यह मत कल्पनामात्र है। उद्धरण में "अष्टांग महानिमित्त" ज्योतिष शास्त्र से सम्बन्धित है। तिलोयपण्णति में इन अष्टांगों का विस्तृत वर्णन है। अन्तरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, व्यंजन, चिन्ह और स्वप्न ये आठ भेद निमित्तों के होते हैं।[113] और इन अष्टागों को महानिमित्त भी कहते हैं।[114]

उज्जयिनी में जब अकाल पड़ने को हुआ, तो उसकी पूर्व सूचना में प्रकृति के अष्टांग महानिमित्त रूप में थे। जैसे जब भद्रबाहु के आहारार्थ गमनकाल में योग्य आहार-विधि मिलने पर गृह में प्रवेश किया तो वहाँ पर पालने में स्थित शिशु "जाओ-जाओ" की ध्वनि निकालने लगा- ऐसे लक्षण देखने पर, और सम्राट चन्द्रगुप्त के देखे स्वप्नों का फल विचारने पर निर्णय करके उन्होंने 12 वर्ष का अकाल जाना। इसके अतिरिक्त भी सामान्यतः आचार्य को भविष्य का ज्ञाता (अनुभाता) होना अपेक्षित होता है ताकि वह अपने संघ पर आने वाले उपसर्गों से बच सके। इस सन्दर्भ में यदि हम विन्ध्यागिरि पर्वत के शिलालेखों में अखण्ड बागिलु के पूर्व की ओर चट्टान पर जो कि सम्भवतः शक सं. 1099 का है जिसमें आचार्यों के चारित्रगत वैशिष्टय के साथ ज्ञानात्मक वैशिष्ट्य में "द्वादशांग श्रुतप्रविधानसुधाकरकं", तथा इसके पूर्व "अष्टांगनिमित्तकुशलकं" भी विशेषण दिया है, जबकि द्वादशांग में ज्योतिष गर्भित है। सम्भवतः पृथक उल्लेख करने का आशय "अष्टांग निमित्तों की कुशलता पर विशेष जोर डालना रहा होगा। अतः शिलालेख नं. 1

का आशय है कि भद्रबाहु श्रुतकेवली ने श्रुतज्ञान का ही अंश अष्टांग निमित्तता के ज्ञान को ही उपयोग में लाकर तत्वज्ञेन अर्थात् शुभाशुभ के विवेक से त्रिकालदर्शिता के द्वारा 12 वर्ष का अकाल जानकर दक्षिण गये।

इसके अतिरिक्त भी उपर्युक्त उद्धृत सभी सशक्त शिलालेखीय प्रमाण पूर्णतः सन्तुष्ट करते हैं कि श्रुतकेवली भद्रबाहु एवं दीक्षित सम्राट चन्द्रगुप्त जिनका कि दीक्षा नाम प्रभाचन्द्र था - के साथ दक्षिण गये थे और वहाँ अपना अन्तिम समय जानकार कटवप्र नामक पहाड़ी पर सन्यास मरण किया था।

इन शिलालेखीय प्रमाणों के अतिरिक्त भी शास्त्रीय आधार हैं कि जिनमें उक्त मन्तव्यों की ही पुष्टि होती है। हरिषेणकृत (संवत् 931) वृहत्कथाकोष में भी उपर्युक्त मन्तव्य मिलते हैं। रत्ननन्द्याचार्य कृत भद्रबाहु चरित्र, देवचन्द्र कृत कर्नाटक भाषा में लिखी राजवली कथा में भी ऐसे ही उल्लेख हैं। मि.वी. लुईस राइस भी अपने "एप्रिग्राफिका कर्नाटिका" में उपर्युक्त मन्तव्यों की पुष्टि ही करते हैं। अतः सर्वांश का पर्यालोचन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु और सम्राट चन्द्रगुप्त समकालीन एवं गुरूशिष्य थे। उनके पूर्व सम्प्रदाय-विभाजन नहीं था, तथा उज्जयिनी की अकाल घटना ही सम्प्रदाय भेद का प्रमुख कारण बनी।

उज्जयिनी की इस अकाल घटना के परिप्रेक्ष्य में दिगम्बर साहित्य में श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति के विषय में जो कथानक मिलते हैं वे इस प्रकार हैं-

हरिषेण कृत वृहत्कथा कोश के अनुसार जब भद्रबाहु के संघ ने दक्षिण की ओर प्रस्थान किया और भद्रबाहु ने समाधिमरण पूर्वक शरीर त्याग कर दिया। तब इधर उज्जैन में श्रावकों के अति अनुरोध से स्थूलभद्राचार्य के नेतृत्व में रह रहे साधु वर्ग अति दुर्भिक्षता के कारण रात्रि में भोजन करने लगे थे, क्योंकि श्रावक भी अति संकट के कारण रात में ही भोजन बनाते थे। दिन में क्षुधा पीड़ितों के आक्रमण करने के भय से भोजनादि न बनाते हुए दरवाजे बन्द किये रहते थे, जिससे श्रमणों को भी आहार अनुपलब्ध रहता था। अतः श्रावकों के अनुरोध से श्रमणों ने रात्रि भोजन प्रारम्भ किया था, शायद इसी कारण कुछ ग्रन्थकारों ने पंचमहाव्रतों के अतिरिक्त "रात्रिभोजनविरति" को भी महाव्रतों में अणुव्रत के रूप में शामिल कर जोर डालना प्रारम्भ किया हो, क्योंकि कुछ अभ्यासवश शिथिलाचारी श्रमण कालान्तर में भी इस घटना को उद्धृत कर रात्रि भोजन करने लगे हों, अतः समय-समय पर रात्रि भोजन विरति पर भी पृथक् से जोर डालने की आवश्यकता महसूस हुयी हो, जबकि इस व्रत का अन्तर्भाव अहिंसा महाव्रत में ही हो जाता है। इस पर विशेष विवेचन "आहार चर्या" में करेंगे। उधर जब उज्जैन में श्रमण रात्रि में भोजन करने लगे, तो एक बार अन्धकार में भिक्षा की खोज में निकले निर्ग्रन्थ श्रमण को देखकर भय से एक

गर्भिणी का गर्भपात हो गया। इस घटना के मूल कारण को दूर करने के लिए श्रावकों ने श्रमणों को अर्द्धफलक धारण करने के लिए निवेदन किया। सुभिक्ष हो जाने पर रामिल्ल, स्थविर, स्थूलभद्राचार्य ने तो मुनिव्रत धारण कर लिया, पर जिन्हें वह अनुकूल नहीं था। उन्होंने जिनकल्प के स्थान पर अर्द्धफलक सम्प्रदाय की स्थापना कर ली, और ऐसा सम्भव भी हो सकता है क्योंकि 12 वर्ष के ऐसे दीर्घकालीन जीवन-यापन करने में उनकी मनोवृत्ति कमजोर हो गयी हो, अतः अर्द्धफलक को स्वीकृत करने के लिए उनकी मानसिकता तैयार हो गयी होगी, चूंकि लोगों ने नग्न रहने के लिए जोर डाला होगा। अतः ऐसी विषम परिस्थिति में एक पृथक सम्प्रदाय की स्थापना उनके लिए आवश्यक थी। उत्तरकाल में इसी अर्द्धफलक सम्प्रदाय का विकास रूप श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति थी।

देवसेन के दर्शनसार (वि.सं. 999) में भी इस सम्बन्धी कथा मिलती है।

विक्रमाधिपति की मृत्यु के 136 वर्ष बाद सौराष्ट्र देश के वलभीपुर में श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति हुयी। इस संघ की उत्पत्ति में मूल कारण भद्रबाहु गणि के आचार्य शांति के शिष्य जिनचन्द्र नामक एक शिथिलाचारी साधु थे, उसने स्त्री मोक्ष, कवलाहार, सवस्त्रमुक्ति, महावीर का गर्भपरिवर्तन, आदि जैसे मत स्थापित किये थे।[115]

एक और अन्य देवसेन ने **भावसंग्रह** में कुछ इससे पृथक बतलाते हुए कहा कि **शान्ति नामक आचार्य** वलभी नगर शिष्यों सहित पहुँचे, तो वहाँ अकाल का प्रकोप देखा। फलतः साधु वर्ग यथेच्छ भोजनादि करने लगे। दुष्काल समाप्त हो जाने पर शान्ति नामक आचार्य ने इनसे इस वृत्ति को छोड़ने के लिए कहा, पर उसे उन्होंने स्वीकार नहीं किया। आचार्य ने बहुत समझाया भी, पर उनकी बात पर शिष्य को क्रोध आया और उसने विशाल दण्ड से शिर पर प्रहार करके उन्हें स्वर्ग लोक पहुँचाया, और स्वयं संघ का नेता बन गया, **उसी से सवस्त्र मुक्ति का उपदेश और श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति हुयी।**[116]

भट्टारक रत्ननन्दि कृत-भद्रबाहु चरित्र (तृतीय परिच्छेद में) में कुछ परिवर्तन के साथ इसी घटना का श्वेताम्बर मत उत्पत्ति का इसी प्रकार से वर्णन है।

दिगम्बर परम्परा के उपर्युक्त कथानकों से इतना निष्कर्ष फलित होता है कि भद्रबाहु प्रथम की परम्परा दिगम्बर सम्प्रदाय से और स्थूलभद्र की परम्परा श्वेताम्बर सम्प्रदाय से जुड़ी हुयी है। यह श्वेताम्बर परम्परा अर्द्धफलक संघ का ही विकसित रूप है। अर्द्धफलक सम्प्रदाय की उत्पत्ति वि.पू. 330 में हुयी और वि.सं. 136 में वह श्वेताम्बर सम्प्रदाय के रूप में प्रकाश में आया। "अर्द्धफलक सम्प्रदाय" का यह रूप मथुरा टीले से प्राप्त शिलापट्ट में अंकित जैन साधु की प्रतिकृति में परिलक्षित होता है। वहाँ पर वह साधु "कण्ह" बाएं हाथ से वस्त्र खण्ड के मध्य भाग को पकड़कर नग्नता को छिपाने का प्रयत्न कर रहा है।

हरिभद्र के "सम्बोध प्रकरण" से भी श्वे. सम्प्रदाय के इस पूर्व रूप पर प्रकाश पड़ता है। कुछ समय बाद उसी वस्त्र को कमर में धागे से बाँध दिया जाने लगा। यह रूप मथुरा में प्राप्त एक आयाग पट्ट पर उट्टंकित रूप से प्राप्त है। इस विकास का समय प्रथम शताब्दी के आस-पास माना जा सकता है। एक अधिपति अथवा महाराज्ञी की आज्ञा से ही एक संघ विशेष में इतना परिवर्तन हो गया हो, यह बात तर्क संगत नहीं लगती है। वस्तुतः उसी पृष्ठभूमि में मूलरूप से शिथिलाचार की बढ़ती हुयी प्रवृत्ति रही होगी।[117] जिनकल्प को मूल रूप मानने और स्थविरकल्प को उत्तर काल में उत्पन्न स्थिति के साथ बढ़ते हुए समझौतों को शामिल करने से भी यह बात पुष्ट होती है।

श्वेताम्बरीय मान्यता में दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति-

जैन शासन भेद को श्वेताम्बर परम्परा में "निन्हव" कहा गया है। उनकी संख्या सात कही गयी है-(1) जामालि, तिष्यगुप्त, आषाढ, विश्वमित्र, गंग, रोहगुप्त, और गौष्ठामाहिल। निन्हव का अर्थ है-किसी विशिष्ट दृष्टिकोण से आगमिक परम्परा से विपरीत अर्थ प्रस्तुत करने वाला[118]। प्रत्येक निन्हव जैनागमिक परम्परा के किसी एक पक्ष को अस्वीकार करता है और शेष पक्षों को स्वीकार करता है। ऐसा होने की वजह से ही वह जैन धर्म के ही अन्तर्गत अपना एक पृथक मत स्थापित करता है।

संक्षिप्ततः निन्हवों का स्वरूप निम्नलिखित हैः-

प्रथम निन्हव-जामालि-बहुरत सिद्धान्त-

जामालि भगवान महावीर का शिष्य था। श्रावस्ती में उसने एक बार अपने शिष्य से बिस्तर बिछानें के लिए कहा। शिष्य ने कहा बिस्तर बिछ गये। जामालि ने जाकर जब देखा कि अभी बिस्तर लग रहे हैं तो उसे महावीर का कहा "कियणाणं कयं" (किया जाने वाला कर दिया गया) वचन असत्य प्रतीत हुआ। तब उसने उस सिद्धान्त के स्थान पर "बहुरत" सिद्धान्त की स्थापना की, जिसका अर्थ है कि कोई भी क्रिया एक समय में न होकर अनेक समय में होती है। मृदानयन आदि से घट का प्रारम्भ होता है, पर घट तो अन्त में ही दिखायी देता है। यह ऋजुसूत्रनय का विषय है जिसे जामालि नहीं समझ सका।

(2) द्वितीय निन्हव-तिष्य गुप्त-जीव प्रादेशिक सिद्धान्त-

तिष्यगुप्त वसु का शिष्य था। एक समय ऋषभपुर में आत्मप्रवाद पर चर्चा चल रही थी। प्रश्न था-क्या जीव के एक प्रदेश को जीव कह सकते हैं। भगवान महावीर ने उत्तर दिया-नहीं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सम्पूर्ण प्रदेश युक्त होने पर ही जीव कहा जाएगा। तब तिष्यगुप्त ने कहा कि जिस प्रदेश के कारण वह जीव नहीं कहलाएगा। उसी चरम प्रदेश को जीव क्यों नहीं कहा जाता ? यही उसका जीव प्रादेशिक मत है। एवंभूत नय न

समझने के कारण ही उसने यह मत स्थापित किया[119]

(3) तृतीय निन्हव-आषाढ आचार्य-अव्यक्तवाद-

श्वेताविका नगरी में आषाढ़ नामक एक आचार्य थे। वे अकस्मात् मरकर देव हुए और पुनः मृतशरीर में आकर उपदेश देने लगे। योगा साधना समाप्त होने पर उन्होंने अपने शिष्यों से कहा-"मैंने असंयमी होते हुए भी आप लोगों से आज तक वन्दना करायी। श्रमणो मुझे माफ करना।" इतना कहकर वे चले गये। तब शिष्य कहने लगे-कौन साधु वन्दनीय है ? कौन नहीं ? निर्णय करना सरल नहीं। अतः किसी की भी वन्दना नहीं करनी चाहिए। व्यवहारनय को नहीं समझने के कारण यह निन्हव पैदा हुआ[120]

(4) चतुर्थ निन्हव-कौण्डिण्य-समुच्छेदकवाद-

कौण्डिण्य का शिष्य अश्वमित्र मिथिलानगरी में अनुप्रवाद नामक पूर्व का अध्ययन कर रहा था। उसमें एक स्थान पर प्रसंग आया कि वर्तमान कालीन नारक विच्छिन्न हो जाएंगे। अतः उसके मन में आया कि उत्पन्न होते ही जब जीव नष्ट हो जाता है तो कर्म का फल कब भोगता है ? यह क्षणभंगवाद पर्यायनय को न समझने के कारण उत्पन्न हुआ। इसे समुच्छेदक नाम दिया गया है। इसका अर्थ है-पदार्थ का जन्म होते ही उसका अत्यन्त विनाश हो जाता है।

(5) पंचम निन्हव-गंग-द्विक्रियावाद-

धनगुप्त का शिष्य गंग एक बार शरद ऋतु में ऋतुकातीर नामक नगर से आचार्य की वन्दना करने के लिए निकला। मार्ग में उसने गर्मी और सर्दी दोनों का अनुभव एक साथ किया। तब उसने यह मत प्रतिपादित किया कि एक समय दो क्रियाओं का अनुभव हो सकता है। नदी में चलने पर ऊपर की सूर्य-उष्णता और नदी की शीतलता दोनों का अनुभव होता है। गंग ने इस सिद्धान्त के आधार पर अपने द्विक्रियावाद की स्थापना की। वास्तविकता यह है कि मन की सूक्ष्मता के कारण यह आभास नहीं होता, परन्तु क्रिया का वेदन तो क्रमशः ही होता है।

(6) षष्ठ निन्हव-रोहगुप्त-त्रैराशिक वाद-

एक बार अंतरंजिका नगरी में रोहगुप्त अपने गुरू की वन्दना करने जा रहा था। मार्ग में उसे अनेक प्रवादी मिले, जिन्हें उसने पराजित किया। अपने वाद स्थापन काल में उसने जीव और अजीव के साथ ही "नोजीव" की भी स्थापना की। गृहकोकिलादि को उसने "नोजीव" बतलाया। समभिरूढनय को न समझने के कारण उसने इस मत की स्थापना की इसे त्रैराशिकवाद कहा गया है।

(7) सप्तम निन्हव-गोष्ठामाहिल अबद्धवाद-

एक बार दशपुर नगर में गोष्ठामाहिल कर्मप्रवाद पढ़ रहा था। उसमें उसने पढ़ा कि कर्म केवल जीव का स्पर्श करके अलग हो जाता है। इस पर उसने सिद्धान्त बनाया कि जीव और कर्म अबद्ध रहते हैं। उनका बन्ध ही नहीं होता। व्यवहारनय को न समझने के कारण ही गोष्ठामाहिल ने यह मत स्थापित किया।

(8) अष्टम निन्हव-बोटिक-दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति-शिवभूति-

रथवीरपुर नामक नगर में शिवभूति नामक साधु रहता था। वहाँ के राजा ने एक बार बहुमूल्य रत्न-कंबल भेंट किया। शिवभूति के गुरू आर्यकृष्ण ने कहा कि साधु के मार्ग में अनेक अनर्थ उत्पन्न करने वाले इस कम्बल को ग्रहण करना उचित नहीं। शिवभूति को उस कम्बल में आसक्ति उत्पन्न हो गयी। आर्यकृष्ण ने यह समझकर शिवभूति की अनुपस्थिति में उस कम्बल के पादप्रोच्छनक बना दिये। यह घटना देखकर शिवभूति क्रोधित हो गया। एक समय आर्यकृष्ण जिनकल्पियों का वर्णन कर रहे थे, और कह रहे थे कि उपयुक्त संहनन आदि के अभाव में उसका पालन सम्भव नहीं। शिवभूति ने कहा "मेरे रहते हुए यह अशक्य कैसे हो सकता है ?" यह कहकर अभिनिवेशवश निर्वस्त्र होकर यह मत स्थापित किया, कि वस्त्र कषाय का कारण होने से परिग्रहरूप है अतः त्याज्य है।

ये निन्हव किसी अभिनिवेश के कारण आगमिक परम्परा से विपरीत अर्थ प्रस्तुत करने वाले होते हैं। प्रथम निन्हव महावीर के जीवन काल में ही उनकी ज्ञानोत्पत्ति के चौदह वर्ष बाद हुआ। इसके दो वर्ष बाद ही द्वितीय निन्हव हुआ। शेष निन्हव महावीर के निर्वाण होने पर क्रमशः 214, 220, 218, 544, 584, 609, वर्ष बाद उत्पन्न हुए। सिद्धान्तभेद से प्रथम सात निन्हवों का उल्लेख श्वे. परम्परा में ही मिलता है। पर जिनभद्र ने "विशेषावश्यक भाष्य" में एक और निन्हव को जोडकर उनकी संख्या 8 कर दी। इसी अष्टम निन्हव को "दिगम्बर" कहा गया है। आश्चर्य की बात है, शेष निन्हवों के कारण किसी सम्प्रदाय विशेष की उत्पत्ति नहीं हुयी। "ठाणांगसूत्र" (सूत्र 580) में केवल सात निन्हवों का उल्लेख है पर "आवश्यकनिर्युक्ति" (गाथा-779-783) में स्थान काल का उल्लेख करते समय आठ निन्हवों का और उपसंहार करते समय मात्र सात निन्हवों का निर्देश किया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने ही सर्वप्रथम अष्टम निन्हव के रूप में दिगम्बर मत के उत्पत्ति की कल्पना की है। उन्होंने यह भी कहा है कि उपयुक्त संहननादि का अभाव होने से जिनकल्प का धारण करना अब शक्य नहीं है[121]

दिगम्बर मत की उत्पत्ति के सन्दर्भ में उपर्युक्त निन्हववाद एवं इसी प्रकार के कथानक श्वे. श्रमण आत्मानन्द जी के तत्व निर्णयप्रसाद ग्रन्थ के पृष्ठ 542-544 के आधार पर समीक्षा करें तो यह मानना पडता है कि दिगम्बर मत उत्पत्ति के ये आधार अयुक्त एवं अविचारितरम्य ही हैं। क्योंकि दिगम्बरत्व प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के समय से ही विद्यमान

था। जैसा कि पूर्व में ही विभिन्न दृष्टिकोणों से भी सिद्ध किया जा चुका ही है। यह दिगम्बरत्व वीर निर्वाण संवत् 609 के पश्चात् नवीन उत्पत्ति नहीं है। पाणिपात्री, वस्त्ररहित-नग्न उत्कृष्ट-जिनकल्पी श्रमण भगवान ऋषभदेव के समय से ही होते आए हैं, ऐसा श्वेताम्बरीय साहित्य भी स्वीकृत करते आए हैं। तदनुसार यह सिद्ध है कि जब से जैनधर्म का उदयकाल है, नग्न दिगम्बर श्रमण तब से ही होते आए हैं। कतिपय श्वेताम्बरीय टीकाकार (किरणावली टीकाकार आदि) तो समस्त तीर्थंकरों की साधु अवस्था को नग्न दिगम्बर ही मानते हैं।

द्वितीय विचारणीय यह है कि रथवीरपुर और उसमें रहने वाला शिवभूति कतई ऐतिहासिक पुरूष नहीं है। किसी भी दिगम्बर शास्त्र में उसका उल्लेख भी कतई नहीं हुआ है। जबकि जिस व्यक्ति से एक बडे सम्प्रदाय की उत्पत्ति मानी जाए, और उसको साहित्य/शिलालेख आदि किसी में भी स्थान न मिले यह बिल्कुल असंभव है। वस्तुतः तथ्य यह है कि शिवभूति के साथ दिगम्बर मत की उत्पत्ति की सम्भावना एक कपोल-कल्पना मात्र है।

यदि इस कल्पना को सत्य भी माना जाए तो भी दिगम्बर मत की उत्पत्ति वीर निर्वाण सं. 609 में न होकर एक कोड़ा-कोड़ी सागर वर्ष पूर्व तीर्थंकर ऋषभदेव के समय से ही सिद्ध होती है, तथा कथा में यह कहा गया "उपयुक्त संहनन न होने के कारण पाला नहीं जा सकता है," यह सभी मनुष्यों के संदर्भ में कैसे कहा जा सकता है ? क्योंकि नग्नता के लिए कोई विशेष संहनन की आवश्यकता नहीं, वह तो सामान्य शक्ति वालों के भी संभव है, यह तो मात्र समुचित विवेक एवं वैराग्य की अपेक्षा रखती है और फिर इस नग्न वेष को निन्हववाद और नवीन कैसे कहा जा सकता है ?

अब हम अष्टम् निन्हव में प्रचलित कथानक पर भी सूक्ष्मविचार करें। वहाँ पर कहा गया है कि "शिवभूति को अपनी माता की फटकार पर वैराग्य हो गया था। वह रात्रि के समय ही उपाश्रय में स्थित श्रमणों के पास पहुँचा और दीक्षा की प्रार्थना की। प्रथमतः आचार्य ने मना किया जब शिवभूति स्वयं केशलोच करने लगा तो फिर आचार्य ने दीक्षा दे दी। कालातंर में राजा के द्वारा दिये गये रत्न कंवल पर उसकी आसक्ति हो गयी, तो आचार्य ने उस रत्न-कंवल को त्यागने का उपदेश करते हुए, रत्नकंवल के टुकडे करके रजोहरण बना दिया। और एक दिन जिनकल्प के स्वरूप वर्णन के प्रसंग में वह नग्न दिगम्बर हो गया।

यहाँ प्रथम तो जैन श्रमण रात्रि में बोलते नहीं हैं, अतः आचार्य ने शिवभूति के साथ वचनालाप कैसे कर लिया? जब पहले दीक्षा के लिए मना ही कर दिया तो फिर तत्काल दीक्षा कैसे दी, और सत्यमहाव्रत कैसे टिका रहा ?

शिवभूति ने रत्नकंवल लेकर श्वेताम्बरीय परम्परा के सिद्धान्त अनुसार अन्याय कौन सा किया था ? क्योंकि महाव्रत धारण करते समय इस परम्परा में तीर्थंकर भी दिव्य, बहुमूल्य, देवदूष्य वस्त्र धारण करते हैं। शिवभूति तो तीर्थंकर की अपेक्षा निम्न कोटि का ही श्रमण था। और जब रत्नकंवल लिया ही था तो उसको दूर क्यों नहीं फैंक दिया। उसके रजोहरण क्यों बनाये? क्या उसके रजोहरण बनने पर बहुमूल्यपना समाप्त हो गया था ? तथा उसमें भी आसक्ति का एक और अन्य माध्यम नहीं था ? और फिर रत्नकंवल के रजोहरण बनवाने की आज्ञा कौन से आगम में वर्णित है ?

जिनकल्पी का स्वरूप सुनकर शिवभूति की नग्नता ने अन्याय कौन सा किया था ? जिससे कि उसे निन्हववाद कहा जाए ? उसने तो विलुप्त नग्न परम्परा को उद्घाटित कर एक नया आदर्श ही उपस्थित किया था जो कि श्वे. आगम में भी श्रद्धेय एवं मान्य है। तथा ऐसा करके शिवभूति ने नया पंथ भी नहीं चलाया था। नवीन पंथ तो वह कहा जाता है जो कभी भी पहले किसी ने भी नहीं चलाया हो।

कल्पित कथा विक्रम संवत् दूसरी शताब्दी (138 वें वर्ष) में दिगम्बर पंथ की उत्पत्ति कहती है, जबकि प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द विक्रम संवत् 49 में ही हुए हैं। जोकि शिलालेखों आदि से प्रमाणित है। इसी प्रकार समन्तभद्राचार्य आदि नग्न दिगम्बर साधु भी प्रथम शताब्दी में अन्त के ही हैं। तथा यदि दूसरी शताब्दी में दिगम्बर मत पैदा हुआ तो इतने शीघ्र इसको लोकप्रियता कैसे मिल गयी ? जबकि दिगम्बर सम्प्रदाय के सभी प्रसिद्ध आचार्य 5 वीं सदी के पूर्व के ही हैं, और दूसरी तरफ श्वेताम्बर सम्प्रदाय के साहित्य का प्रारम्भ ही लगभग 5 वीं सदी के आस-पास शुरू है।

बहुत जैनेतर विदेशी विद्वानों का भी मन्तव्य है कि दिगम्बर सम्प्रदाय प्राचीन है जबकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय नया। इस सम्बन्ध में श्री सम्मेदशिखर तीर्थक्षेत्र के इंजक्शन केश का फैसला देते हुए रांची कोर्ट के प्रतिभा-सम्पन्न सब जज श्रीयुत फणीसचन्द्रलाल जी सेन लिखते हैं कि-

"श्वेताम्बरों का कहना है कि दिगम्बर आम्नाय श्वेताम्बरों के पश्चात् हुयी। परन्तु" There is authoritative pronouncement that the Digamber must have ekisted from long before the Swetambari seat was formed.

अर्थात - इस बात के बहुत दृढ़ प्रमाण हैं कि श्वेताम्बरी जैन से बहुत पूर्व दिगम्बर जैन मौजूद थे।

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिया के 11 वें संस्करण के 127 पृष्ठ पर लिखा है कि श्वेताम्बर लोग छठवीं शताब्दी से पाए गये हैं। दिगम्बरी वही प्राचीन निर्ग्रन्थ हैं जिनका वर्णन बौद्ध की पाली पिटकों में आया है[122] मिस्टर वी. लेविस राइस सी.आई.ई ने कहा है कि-"समय के फेर से दिगम्बर जैनों में से एक विभाग उठ खडा हुआ जो इस प्रकार के कट्टर साधुपने से विरुद्ध पडा। इस विभाग ने अपना नाम "श्वेताम्बर" रखा। यह बात सत्य मालुम होता है। कि अत्यन्त शिथिल श्वेताम्बरियों से कट्टर दिगम्बरी पूर्व के है[123] इसी प्रकार अलब्रेट बेवर लिखते हैं कि-

"दिगम्बर लोग बहुत प्राचीन मालुम होते हैं, क्योंकि न केवल ऋग्वेद संहिता में इनका वर्णन "मुनयः वातवसनाः" अर्थात पवन ही है वस्त्र जिनके इस तरह आया है किन्तु सिकंदर के समय में जो हिन्दुस्तान के जैन सूफियों का प्रसिद्ध इतिहास है उससे भी यही सिद्ध होता है[124]

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिया जिल्द 25, संस्करण 11, (सन् 1911) में लिखा है कि-

"जैनों के दो बडे भेद हैं एक दिगम्बर दूसरा श्वेताम्बर। श्वेताम्बर थोडे काल से शायद बहुत करके ईसा की 5 वीं शताब्दी से प्रगट हुआ है। दिगम्बर निश्चय से लगभग वे ही निर्ग्रन्थ हैं जिनका वर्णन बौद्धों की पाली पिटकों में आया है। इस कारण ये लोग (दिगम्बर) ईसा से 600 वर्ष पूर्व के तो होने ही चाहिए।[125]

इसी प्रकार का विलसन साहब का मन्तव्य है कि-"

जैनों के प्रधान दो भेद हैं दिगम्बर और श्वेताम्बर। दिगम्बरी बहुत प्राचीन मालूम होते हैं और बहुत अधिक फैले हुए हैं। सर्व दक्षिण के जैनी दिगम्बरी मालुम होते हैं। यही स्थिति पश्चिम भारत के बहुत से जैनों की है। हिन्दुओं के प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों में जैनों को साधारणतया दिगम्बर या नग्न लिखा है[126]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि चूंकि महावीर ने वातवसन अर्थात् सम्पूर्ण नग्नता का ही उपदेश दिया था। अतः उस मार्ग के साक्षात् अनुयायी श्रमणों का अन्तर्वाह्य जीवन भी वीतरागी व्यक्तित्व लिये हुए होना चाहिए। वीतरागी का वेष निस्पृह एवं अपरिग्रही ही होगा अतः महावीर द्वारा उपदिष्ट श्रमण स्वरूप में मूलतः दिगम्बर सम्प्रदाय ही आता है। तथा जैन धर्म की प्रसिद्ध वीतरागता दिगम्बर सम्प्रदाय के ही आदर्श अर्हन्त, और उनकी प्रतिमाओं, महाव्रतधारी श्रमणों तथा उनके साहित्य में ही पायी जाती है। ऐसी वीतरागता श्वेताम्बर सम्प्रदाय में नहीं है।

दिगम्बरों की नग्न वीतरागता के समर्थन में वैदिक साहित्य, मुस्लिम साहित्य विभिन्न ऐतिहासिक अभिलेख एवं भारतीय संदर्भ इस बात की पुरजोर रूप से पुष्टि करते हैं। इसके अतिरिक्त निष्पक्ष विदेशी विद्वान भी इसकी पुष्टि में अपना मत व्यक्त करते हैं। अतः दिगम्बर श्रमण की प्राचीनता सिद्ध हुए बिना रहती नहीं है। आचार्य भद्रबाहु प्रथम के पश्चात् उज्जैन के अकाल में शिथिलाचार के समर्थन में उठी एक विशेष आवाज ही श्वेताम्बर श्रमण हैं, तभी तो उनके आगमों में चारित्रिक पक्ष में विभिन्न अपवाद मार्ग विकसित किये गये। जिनकल्प के उच्छेद की बात कहकर स्थविर कल्प में वस्त्र की मान्यता प्रदान कर परस्पर विरुद्ध कथन रहे, एवं निरन्तर शिथिलाचार का विकास ही रहा। जबकि दिगम्बर सम्प्रदाय में चारित्रिक पक्ष सदैव लगभग एक सा ही रहा। उसमें कोई विशेष उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ। अतः महावीर की धार्मिक परम्परा में दिगम्बर सम्प्रदाय ही आता है, श्वेताम्बर सम्प्रदाय नहीं। यह तो लगभग 4-5 शताब्दी की ही एक नवीनतम कृति है, जिसने अपने मत की पुष्टि एवं नया मत प्रवर्तन किया।

दिगम्बर सम्प्रदाय और उसके भेद -

वीर निर्वाण के 683 वर्ष तक लोहाचार्य की परम्परा में गण, कुल, संघ का विभाजन नहीं हुआ था, परन्तु आचार्य अर्हद्बली से नवीन संघ और गणों की उत्पत्ति हुयी। दिगम्बर सम्प्रदाय में भी आन्तरिक शिथिलाचार के बढते कदम को रोकने के लिए एवं अपना एक संगठन कायम करने के लिए, जिससे शिथिलाचार को प्रोत्साहन न मिल सके; विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न संघ स्थापित किये थे। वस्तुतः यह नहीं कहा जा सकता कि किसी विशुद्धतावादी संघ में कालान्तर में भी शिथिलाचार न आया हो, प्रभावी आचार्य के अभाव में इन संघों में भी शिथिलाचार आया था। क्योंकि दक्षिण भारत के अनेक शिलालेखों में कुन्दकुन्दाम्नाय के श्रमणों को भी मन्दिर बनवाना, दानलेना कृषक कर्म में लिप्त वहाँ के शिलालेख प्रदर्शित करते हैं। वस्तुतः "चोरन के पुर न बसैं" की स्थिति है। शिथिलाचारियों का अपना कोई सम्प्रदाय नहीं कहा जा सकता है वे हर जगह पाये जा सकते हैं, इसी प्रकार से विशुद्धतावादी लोगों का भी अपना कोई संघ अन्तिम रूप से नहीं कहा जा सकता है। यदि कुन्दकुन्द की आम्नाय में भी शिथिल श्रमण मिलते हैं तो दूसरी तरफ काष्ठा संघ, द्राविड संघ एवं यापनीय संघ में यत्र-तत्र श्रेष्ठ आचार्यों का दर्शन होता है। लेकिन फिर भी उपर्युक्त संघ मुख्यतः किसी विशिष्ट मान्यता से सार्वजनिक रूप से प्रसिद्ध रहे हैं। हमारा किसी संघ के आधार पर किसी व्यक्ति विशेष (श्रमण) के गुण-दोषों का निर्धारण करना एक बहुत बड़ी भूल भरा अपराध होगा। किसी संघ के गुण-दोषों की प्रसिद्धि तो उसके संस्थापक के आधार पर ही हुयी थी तथा, उस संघ में उन-उन गुणवान/दोषवान श्रमणों का बाहुल्य भी माना जा सकता है। परन्तु किसी प्रबुद्ध को तो श्रमण के व्यक्तित्व का नाम उसके संघ के आग्रह के साथ नहीं करना चाहिए। यहाँ पर विभिन्न संघों का परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं।

1. मूलसंघ के गण, गच्छ, एवं अन्वय-

आचार्य इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार में एक श्लोक लिखा है-

"आयतौ नन्दिवीरौ प्रकटगिरि गुहावासतोऽशोकवाटा,
दूदेवाश्चान्यो परादिर्जित इति यतिमौ सेन-भद्राह्यौ च।
पंचस्तूप्यात्सगुप्तौ गुणधर वृषभः शाल्मलीवृक्षमूलात्,
निर्यातौ सिंह चन्द्रौ प्रथितगुणगणौ केसरात्खण्ड पूर्वात् ।। 96 ।।

इस श्लोक का अर्थ एक घटना से जोडते हुए कहा है कि पुण्ड्रवर्धन नगर में अर्हद्वली नाम के आचार्य थे। प्रत्येक पाँच वर्ष के अन्त में वे सौ योजन में बसने वाले मुनियों को युग प्रतिक्रमण के लिए बुलाते थे। एक बार ऐसे ही युग प्रतिक्रमण के अवसर पर समागत श्रमणों से उन्होंने पूछा-क्या सब आ गये ? हाँ, हम सब अपने संघ के साथ आ गये, श्रमणों ने उत्तर दिया। इस उत्तर को सुनकर उन्हें लगा कि जैन धर्म गणपक्षपात के साथ ही रह सकेगा। अतः उन्होंने संघों की रचना की। जो मुनि गुफा से आये थे, उनमें से कुछ को "अपराजित" नाम दिया, कुछ को देव नाम[127]। जो पंचस्तूप्य निवास से आये थे, उनमें से कुछ को "सेन" नाम दिया, कुछ को "भद्र" नाम। जो शाल्मली वृक्ष के मूल से आये थे, उनमें से किसी को "गुणधर" नाम दिया, कुछ को "गुप्त"। जो खण्ड केसर वृक्ष के मूल से आये थे उनमें से किसी को "सिंह" नाम दिया किन्हीं को "चन्द्र"।

11 वीं शताब्दी के इन इन्द्रनन्दि के मन्तव्य के पश्चात् सम्भवतः इन्हीं के अनुसरण पर 14 वीं शताब्दी में भी इस प्रकार के शिलालेख प्राप्त हैं। इसके अतिरिक्त एक मन्तव्य यह भी मिलता है कि अकलंक देव के स्वर्गवास के पश्चात् संघ, देश-भेद से उक्त चार भेदों में विभाजित हो गया। परन्तु इनमें कोई चारित्रिक भेद नहीं है। इन संघ भेदों के कारणों को देखकर लगता है कि उस समय वृहत्तर भारत विभिन्न घटकों में बँटा हुआ था। अपनी एक अलग पहिचान बनाने की आवश्यकता थी। ऐसे समय में श्रमण संघ भी अछूता न रहा। श्रमणों का किसी राज्य विशेष में प्रतिबन्ध तो होता नहीं है, ऐसे में जब श्रमण किसी दूसरे राज्य या शहर में प्रवेश करता होगा, तो वह कभी-कभी अपने निवास स्थान आदि से भी जाना जाता होगा। परिणाम स्वरूप, अन्वय, संघ, या गच्छ गौण हो जाते थे तथा निवास स्थान मुख्य हो जाता था। उदाहरणार्थ एक शिलालेख देखें-"कोण्डकुन्दान्वय में **पनसोगे निवासी** मुनियों में प्रधान पूर्णचन्द्र मुनि थे[128]" शायद एक शहर या जाति से कई मुनि दीक्षा लेते थे, अतः उस निवास स्थान से वे पहिचाने जाते होंगे। जैसा कि उपर्युक्त **"पनसोगेनिवासी मुनियों में प्रधान"** से ध्वनित होता है।

उस समय शिथिलाचार के बीज पडे हुए ही थे, वे पल्लवित और पुष्पित भी हो रहे थे, ऐसे में विशुद्धतावादी श्रमणों की समुचित पहिचान नहीं हो पाती होगी। अतः अपनी विशुद्धता की पहिचान हेतु अपना एक चिन्ह बनाना उचित समझा। इसलिए ऐसे में संघ

विशेषों की उत्पत्ति हुयी होगी। वस्तुतः खतरा तो विशुद्धता को ही होता है। अविशुद्धता को खतरे की आवश्यकता नहीं होती है। परन्तु कालान्तर में उनके भी संगठन बन जाया करते हैं। यही स्थिति महावीर के संघ/परम्परा के साथ निर्वाह करने वाले श्रमणों की हुयी होगी, तभी तो "मूलसंघ" जैसे नामों के नामकरण की आवश्यकता हुयी होगी। और ऐसे मूलसंघ के लोगों ने अपने से अलग संघ के श्रमणों को जैनाभास इसी कारण कहा होगा कि वे चरित्र में शिथिल रहे होंगे। परन्तु इस तथ्य को भी नहीं भुलाया जा सकता कि एक सद्भावना से संगठित किया गया विशुद्धतावादी श्रमणों के संघ में काफी शिथिलताएं आयीं। विशुद्धता के प्रतीक रूप में स्थापित मूलसंघ भी कालान्तर में एक रूढ़ि बन गयी, और इस संघ के सदस्य भी कुन्दकुन्द और समन्तभद्र की दुहाई देकर उनके यश का उपयोग कर, दान दक्षिणा यन्त्रमन्त्र एवं लोकेषणा के चक्रव्यूह में भी समय-समय पर फंसे,[129] तो दूसरी तरफ जैनाभास कहे जाने वाले काष्ठा, द्राविड़ एवं यापनीय संघ में एक रूढ़ि के रूप में ही शिथिलाचार रहा, और वहाँ भी कर्दम में कमल खिले। और इनका विवेचन सन्दर्भित प्रकरणों में होगा।

यहाँ पर तो अभी इतना ही कहा जा सकता है कि मूल संघ की उत्पत्ति के सन्दर्भ में अन्तिम रूप से सशक्त ऐतिहासिकता अप्राप्त है। "मूलसंघ" और "कौण्डकुन्दान्वय" शब्दों के उपयोग तो काष्ठासंघ और द्राविड संघ के आचार्यों ने भी स्थान-स्थान पर अपने लिए गौरव के साथ किया। कुछ विद्वान मूल संघ और कौण्डकुन्दान्वय को पर्यायवाची ही मानते हैं अर्थात् कुन्दकुन्द को मूलसंघ का प्रवर्तक मानते हैं। परन्तु "मूलसंघ कोण्डकुन्दान्वय" का एक साथ सर्वप्रथम प्रयोग सन् 1044 ई. में हुआ है[130] कौण्डकुन्दान्वय का स्वतंत्र प्रयोग 8-9 शताब्दी के लगभग हुआ है।[131] अतः यदि मूलसंघ के प्रवर्तक कुन्दकुन्द होते तो इसके पूर्व अथवा इसमें भी इसके साथ कुन्दकुन्द का नाम भी अवश्य आता। परन्तु मूलसंघ को धरसेनाचार्य आदि के साथ न जोडकर कुन्दकुन्द के साथ ही जोडने का क्या कारण दिगम्बर परम्परा में रहा ? सम्भवतः कुन्दकुन्द द्वारा सीमन्धर भगवान की साक्षात् वाणी सुनने की किवंदन्ती प्रचलित होने के कारण तथा उनकी अजोड़ साहित्यिक एवं आध्यात्मिकता, अभिव्यक्ति की अनुपम प्रतिभा और एक युगपुरूष होने के कारण तथा महावीर की मूल परम्परा में भेद पड़ने पर उनके मूल स्वरूप को सजग व सशक्त, एवं सरल तरीके से सुरक्षित रखने के कारण "मूलसंघ" नाम प्रवर्तित हुआ और इस "मूलसंघ" शब्द को कालान्तर में उनके साथ जोड़ा जाने लगा। आज तक के 2000 वर्ष के जैन इतिहास में हजारों जैनेतर उनसे ही प्रभावित होकर जैन बने हैं। ऐसा किन्हीं अन्य जैन आचार्यों के साथ नियोग नहीं है। कुन्दकुन्द सचमुच में ही कालजयी पुरूष हैं।

मूलसंघ का सर्वप्रथम उल्लेख नोणमंगल के दानपत्र में मिलता है[132] जो सम्भवतः सन् 425 ई. का है। मूलसंघ के अन्तर्गत विभिन्न गण, गच्छ, अन्वय, आदि की विभिन्न शाखाएं-प्रशाखाएं हैं जिनका विभाजन इस प्रकार से किया जा सकता है।

(1) संघ -

नविलूर संघ, मयूर संघ, किचूर संघ, कोशलनूर संघ, गनेश्वर संघ, गोणसंघ, श्री संघ, सिंह संघ, परलूर संघ,

(2) अन्वय-

कोण्डकुन्दान्वय, श्रीपुरान्वय, कित्तुरान्वय, चन्द्रकवाटान्वय, चित्रकूटान्वय, तालकोलान्वय, लंवकंचुकान्वय, गोलासटकान्वय, गोलापूर्वान्वय,

(3) गण-

बलात्कार गण, सूरस्थगण, कालोग्र गण, उदार गण, योगीरय गण, पुलागवृक्ष, मूलगण, पंकुरगण, देशीगण, सिंगगण, सेनगण, काणूरगण, एरेगित्तूर गण।

(4) गच्छ-

चित्रकूट, होत्तगे, तगरिक, होगरि, परिजात, मेषपाषण, तिन्त्रिणीक, सरस्वती, पुस्तक, वक्रगच्छ, पोगरि, बागगच्छ, पुलिकल् गच्छ आदि

बलि-

इनसोगे यापनसोगे, इंगुलेश्वर एवं वाणद बलि आदि उपर्युक्त संघ, अन्वय, गण, गच्छ, एवं बलि दक्षिण भारत से अधिक सम्बन्धित हैं, उत्तर भारत से कम, तथा इनके नामकरण भी दक्षिण भारतीय संस्कृति से ही पाये जाते हैं। सम्भवतः दक्षिण भारत में भद्रबाहु के चले जाने तथा वहाँ जैनों का पर्याप्त राजकीय संरक्षण, एवं जैनों की राज्यहित में महत्वपूर्ण भूमिका एवं स्थान होने के कारण श्रमणों को भी वहाँ समुचित वातावरण मिला। अतः अधिकांशतः सभी प्रधान जैन आचार्य वहीं रहे। सभी प्रमुख गण-गच्छ वहाँ के नामकरण पर रहे। कुछ अन्वय जैसे लंवकंचुकान्वय, गोलाराटकान्वय गोलापूर्वान्वय आदि उत्तर भारतीय हैं जो आगरा, लखनऊ, इटावा, ग्वालियर, महोवा आदि क्षेत्रों से सम्बन्धित हैं, और शायद दिगम्बर जैन जाति के लमेंचु, गोलापूर्व तथा गोलालारे आदि जातियों के रूप में है, जो आज इसी क्षेत्र में पायी जाती हैं-शायद इस तरफ इंगित करती है। परन्तु ये अन्वय प्राचीनतम एवं प्रसिद्ध नहीं रहे हैं।

नन्दिसंघ-

नन्दि संघ प्राचीनतम लगता है। इसकी एक प्राकृत पट्टावली भी प्राप्त है। ये कठोर तपस्वी हुआ करते थे। यापनीय और द्रविड़ मूल-संघ एकार्थक हो गये। नन्दि संघ का नाम "नन्दि" नामान्त श्रमणों से हुआ प्रतीत होता है।

सेन संघ-

संभवतः सेन-संघ का नाम सेनान्त आचार्यों से हुआ है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख सूरत ताम्रपत्र में मिलता है।[133] जो शक सं. 743 का है। उत्तर-पुराण के कर्त्ता गुणभद्र ने अपने गुरू जिनसेन और दादा गुरू वीरसेन स्वामी को सेनान्वय कहा है। परन्तु जिनसेन और वीरसेन ने धवला प्रशस्ति में अपने को पंचस्तूपान्वय कहा है। इन्द्रनन्दि के लेखानुसार पंचस्तूप से आए हुए मुनियों के संघ को "सेन" नाम दिया गया था। अतः पंचस्तूपान्वय ही संभवतः उत्तरकाल में सेनान्वय के नाम से प्रसिद्ध हुआ क्योंकि वीरसेन के पश्चात् किसी भी आचार्य ने अपने ग्रन्थ में पंचस्तूपान्वय का उल्लेख नहीं किया है।

उपर्युक्त कहे गये सिंह, नन्दि, सेन और देव ये चार अर्हदवलि द्वारा स्थापित हुए थे। अतः "मूलसंघ" के अन्तर्गत रहे। इन्हें किसी ने भी जैनाभास नहीं कहा। अतः ये मूलसंघ के नाम से कहे गये। इसके अलावा अन्य संघों का परिचय निम्न है।

काष्ठा संघ एवं माथुर संघ-

काष्ठा संघ का सर्वप्रथम शिलालेखीय उल्लेख श्रवणबेलगोला के वि.सं. 1119 के लेख में मिलता है। परन्तु चौदहवीं शताब्दी के पश्चात् इस संघ की अनेक परम्पराओं के उल्लेख मिलते हैं। भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति ने जिनका समय संवत् 1747 है, अपनी पट्टावली में कहा है कि काष्ठा संघ में नन्दितट, माथुर, वागड एवं लाटवागड ये चार गच्छ प्रसिद्ध हुए। किन्तु माथुर, वागड, तथा लाटवागड के बारहवीं सदी तक के जो उल्लेख मिलते हैं उनमें उन्हें संघ की संज्ञा दी गयी है। काष्ठा संघ के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं है।

'दर्शनसार' में काष्ठा संघ की उत्पत्ति दक्षिण प्रान्त में आचार्य जिनसेन के सतीर्थ्य विनयसेन के शिष्य कुमारसेन के द्वारा जो नन्दितट में रहते थे, वि.सं. 753 में हुयी बतलायी है, और कहा है कि उन्होंने कर्कश केश अर्थात् गौ की पूंछ की पिच्छि ग्रहण कर सारे बागड देश में उन्मार्ग चलाया। फिर इसके दो सौ वर्ष बाद अर्थात् वि.सं. 953 के लगभग मथुरा में माथुरों के गुरू रामसेन ने निःपिच्छिक रहने का उपदेश दिया और कहा कि न मयूर पिच्छि रखने की आवश्यकता है और न गौ पुंछ की पिच्छि।[134]

किन्तु पं. बुलाकीदास के वचन कोष में, जो वि.सं.1737 में बना है, लिखा है कि काष्ठा संघ की उत्पत्ति उमास्वामी के पट्टाधिकारी लोहाचार्य द्वारा अगरोहा नगर में हुयी और काष्ठ की प्रतिमा के पूजन का विधान करने से उसका नाम काष्ठासंघ पड़ा।[135]

स्थान सापेक्षिकता के कारण संघों, गणों एवं गच्छों के नाम को लेकर बाबू कामता

प्रसाद जी ने काष्ठा संघ की उत्पत्ति की कल्पना की है कि यह संघ मथुरा के निकट जमुना के तट पर स्थित काष्ठा नामक ग्राम से निकला है[136] या हो सकता है कि काष्ठासंघ जैन श्रमणों के उस समुदाय का नाम पडा हो, जिसका मुख्य स्थान काष्ठा नामक स्थान था[137]। काष्ठ की प्रतिमा बनाकर पूजने के कारण काष्ठा संघ के प्रवर्तन की कोई तार्किक संतुष्टि नहीं मिलती क्योंकि उस समय पाषाण प्रतिमाओं का प्रचलन था ही, तथा इस प्रकार के प्रतिमा निर्माण के विधि-विधान का साहित्य में कोई उल्लेख नहीं मिलता है तथा ऐसी कोई पुरातात्विक सामग्री भी प्राप्त नहीं होती है, जैन साधु के लिए देव दर्शन आवश्यक अंग भी नहीं है, और न ही उनके द्वारा प्रतिमा निर्माण का विधान ही है। अतः काष्ठ प्रतिमा को पूजने जैसा प्रसंग भी प्राप्त नहीं होता है। अतः स्थान विशेष के नाम को लेकर काष्ठा संघ की प्रवृत्ति ही ज्यादा तथ्यपूर्ण लगती है क्योंकि ऐसा अन्य संघों की उत्पत्ति के साथ भी हुआ है। परन्तु दूसरी तरफ प्राचीन साहित्यकारों ने काष्ठ की प्रतिमा पूजने के कारण काष्ठासंघ की उत्पत्ति की कल्पना की है। ऐसी परिस्थिति में अन्तिम रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। यह एक स्वतंत्र शोध का विषय हो सकता है।

काष्ठासंघ मथुरान्वय के प्रसिद्ध आचार्यों में सुभाषित रत्नसंदोह आदि अनेक ग्रन्थों के रचयिता आचार्य अमितगति हो गये हैं जो परमार नरेश मुंज और भोज के समकालीन थे।

काष्ठासंघ के प्रमुख गच्छ या शाखाएं चार थीं-नन्दि तट, माथुर, बागड़ और लाटबागड़। ये चारों नाम स्थानों और प्रदेशों के नाम पर आधारित हैं। इन काष्ठा एवं माथुर संघ का सम्बन्ध उत्तर भारत से रहा है।

यापनीय संघ-

यह संघ दक्षिण भारत की अपनी देन है। इस संघ के साधु एक ओर दिगम्बर साधुओं के समान उग्र-चर्या के रूप में नग्न रहते थे, मयूर पिच्छि रखते थे तथा पाणितल भोजी थे एवं नग्न प्रतिमाएं पूजते थे और वन्दना करने वालों को धर्मलाभ देते थे, तो दूसरी तरफ सैद्धान्तिक मान्यता में श्वेताम्बरों के समान स्त्री मुक्ति, केवली कवलाहार और सग्रन्थावस्था भी मानते थे। वे प्राचीन जैनागम ग्रन्थों का पठन-पाठन करते थे, पर उनके आगम शायद श्वेताम्बरीय जैनागमों से पाठभेद को लिए कुछ भिन्न थे। सम्भवतः यह श्वेताम्बर-दिगम्बर के मध्य की श्रृंखला थी।

इस संघ की स्थापना दर्शनसार के कर्ता देवसेन सूरि के कथनानुसार वि.सं. 205 में "श्री कलश" नाम के श्वेताम्बर साधु ने की थी। कर्नाटक प्रदेश के शिलालेखों में यापनीयों के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है, अन्य प्रदेशों के संग्रहों में उसका अभाव है। अतः कर्नाटक प्रदेश में जन्म लेकर इस संघ ने धीरे-धीरे अपनी शक्ति को बढाया तथा पाँचवी सदी से 15 सदी तक उसने कर्नाटक के अनेक प्रदेशों में राजकीय तथा जनता का

संरक्षण प्राप्त किया। किन्तु इसमें यह उल्लेखनीय तथ्य है कि कर्नाटक के एकदम दक्षिणी भाग में जिसमें मैसूर भी सम्मिलित है, शिलालेखों में यापनीयों का उल्लेख बहुत कम है, श्रवणवेलगोला के लेखों में एक भी यापनीय संघ का उल्लेख स्पष्ट रूप में नहीं मिलता है। विगत अन्वेषणों के फलस्वरूप ज्ञात होता है कि हन्निकेरी, कलभावी सौदंत्ति, वेलगॉव, बीजापुर, धारवाड, कोल्हापुर क्षेत्रों के कुछ स्थानों में यापनीयों का जोर था[138]। कदम्ब, चालुक्य, गंग, राष्ट्रकूट और रट्टवंश के राजाओं ने इस संघ को और इसके साधुओं को अनेकों भूमिदान किये थे।

इस संघ के कतिपय गणों के सम्बन्ध में लेखों के तिथि क्रम के अध्ययन करने पर मालुम होता है कि वे पीछे दिगम्बर सम्प्रदाय के अन्य दूसरे संघों द्वारा आत्मसात कर लिये गये, या उनका पुनः संस्कार किया गया, या वे काल के थपेडे में लुप्त हो गये। लेखों के विश्लेषण से यह बात स्पष्ट होती है[139]।

यापनीय संघ के अन्तर्गत नन्दि संघ एक महत्वपूर्ण शाखा थी। उसकी एक प्रसिद्ध शाखा पुन्नाग वृक्ष मूलगण थी। शिलालेखों में निर्दिष्ट बहुत से साधु इसी गण से सम्बद्ध थे। इसके सिवाय भी यापनीयों के अनेक गण थे। दो एक लेखों में (जै.शि.सं. भाग 4, नं.70, 131) कुमुदि गण का उल्लेख मिलता है। इनमें से प्रथम लेख नवमीं शताब्दी का है और दूसरा 1045 ई. का है। दोनों में जिनालय निर्माण का उल्लेख है। हूलि (जि.वेलगॉव) में (वही नं. 207, 268, 386) जो 12 वीं 13 वीं सदी के हैं-कडूरगण का उल्लेख है। सेदम से प्राप्त लेख में मडूवगण, सौदी, तेंगाली और मनौली के लेखों में वन्दिमूरगण तथा बदली हन्निकेरी, सौन्दत्ति के लेखों में कारेयगण और मैलाव अन्वय का उल्लेख है। यापनीयों के साथ गच्छ का निर्देश नहीं मिलता है। यद्यपि आन्ध्र से प्राप्त एक लेख में नन्दि संघ का उल्लेख नन्दिगच्छ के रूप में प्राप्त है। मलियपुण्डि दान पत्र के अनुसार धर्मपुरी गाँव में कटकराज दुर्गराज की ओर से एक जिनालय का निर्माण कराया गया था। आन्ध्र प्रदेश में यापनीय संघ के अस्तित्व को बतलाने वाला यही लेख अभी तक प्राप्त हुआ है[140]।

द्राविड़ संघ-

द्रविड देश में रहने वाले जैन श्रमण समुदाय का नाम द्राविड़ संघ है। इनका उल्लेख द्रमिड़, द्रविड़, दविड़, द्राविड़, दविल, दरविल, यातिवुल नाम से उल्लिखित किया है। नामगत ये भेद लेखक या उत्कीर्णक के कारण हुए प्रतीत होते हैं। द्रविड़ देश वास्तव में वर्तमान आन्ध्र और मद्रास प्रान्त का कुछ हिस्सा है। जिसे सुविधा की दृष्टि से तामिल देश भी कह सकते हैं। देवसेनाचार्य ने अपने दर्शनसार में अन्य संघों की उत्पत्ति के वर्णन में द्राविड़ संघ के सम्बन्ध में लिखा है कि पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दि ने वि.सं. 526 में दक्षिण मथुरा (मदुरा) में द्राविड़ संघ की स्थापना की। इस संघ को वहाँ जैनाभासों में

गिनाया गया है और वज्रनन्दि के सम्बन्ध में लिखा है कि उस दुष्ट ने कछार, खेत, वसदि और वाणिज्य से आजीविका निर्वाह करते हुए शीतल जल से स्थान करते हुए प्रचुर पाप अर्जित किया[141]। इस कथन की सत्यता पर गम्भीरता से विचारते हुए तथा इस संघ के प्रतिष्ठित कई आचार्यों को ध्यान में रखते हुए यह विचार किया जा सकता है कि यह हो सकता है कि द्रविड़ प्रदेश के आधार पर नामकरण किये गये। इस संघ में पहले कोई शिथिल एवं अतिभ्रष्ट प्रवृत्ति वाला रहा होगा, जिससे एक पूर्ण परम्परा ही चल पड़ी, परन्तु उस संघ में कई प्रतिष्ठित और विद्वान आचार्य हुए जिनका जीवन चरित वैसा न रहा हो, लेकिन मोटे तौर पर पूरा संघ समुदाय ही बदनाम रहा। अतः देवसेन ने उस सम्पूर्ण परम्परा को ही जैनाभास कह डाला हो।

इस संघ के लगभग सभी लेख 10-11 वीं सदी के पश्चातवर्ती हैं। इससे पूर्व सम्भवतः कोई भी उल्लेख अप्राप्त है। इस संघ के प्रायः सभी लेख कोडांल्व वंशी, तथा होय्सलवंशी राजाओं के राज्यकाल के हैं जिससे विदित होता है कि उन वंशों के इस संघ को राज्य संरक्षण प्राप्त था। अधिकांश लेख होय्सल नरेशों के हैं। इन संघ के आचार्यों ने पद्मावती देवी की पूजा एवं प्रतिष्ठा के प्रसार में काफी योगदान दिया।

इस संघ के द्राविड़ संघ कौण्डकुन्दान्वय[142] तथा अन्य[143] लेख में मूलसंघ द्रविड़ान्वय लिखा है। इन निर्देशों से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में नव संगठित द्राविड संघ ने अपना आधार या तो मूलसंघ को या कुन्दकुन्दान्वय को बनाया होगा, पर पीछे यापनीय सम्प्रदाय के विशेष प्रभावशाली नन्दिसंघ में इस सम्प्रदाय ने अपना व्यावहारिक रूप पाने के लिए उससे विशेष सम्बन्ध रखा या द्रविड गण के रूप में उक्त संघ के अन्तर्गत हो गया। पीछे यह द्रविड गण इतना प्रभावशाली हुआ कि उसे ही संघ का रूप दे दिया गया।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय और उसके भेद -

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति एक विकास का परिणाम है। कुछ समय तक श्वेताम्बर साधु अपवाद के रूप में ही कटिवस्त्र धारण किया करते थे। पर बाद में लगभग आठवीं शती में उन्होंने उन्हें पूर्णतः स्वीकार कर लिया। साधारणतः उनके पास 14 उपकरण होते हैं। महावीर निर्वाण के लगभग 1000 वर्ष बाद देवर्धिगणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व में श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने अपने ग्रन्थों का संकलन श्रुति परम्परा के आधार पर किया, जिन्हें दिगम्बरों ने स्वीकार नहीं किया। इसका मूल कारण था कि वहाँ कतिपय प्रकरणों को काट-छाँट कर और तोड़-मरोड़ कर उपस्थित किया गया था। कालान्तर में श्वेताम्बर संघ में निम्नलिखित प्रधान सम्प्रदाय उत्पन्न हुए।

चैत्यवासी-

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में वनवासी साधुओं के विपरीत लगभग चतुर्थ-शताब्दी में एक चैत्यवासी साधु सम्प्रदाय खड़ा हो गया, जिसने वनों को छोड़कर चैत्य-मन्दिरों में निवास करना और ग्रन्थ संग्रह के लिए आवश्यक द्रव्य रखना उचित माना। इसी के पोषण में उन्होंने निगम नामक शास्त्रों की रचना भी की। हरिभद्रसूरि ने चैत्यवासियों की ही निन्दा अपने संबोध प्रकरण में की है। चैत्यवासियों ने 45 आगमों को प्रामाणिक स्वीकार किया है।

वि.सं. 802 में अणहिलपुर पट्टाण के राजा चावड़ा ने अपने चैत्यवासी गुरू शीलगुण सूरि की आज्ञा से यह निर्देश दिया कि इस नगर में वनवासी साधुओं का प्रवेश नहीं हो सकेगा। इससे यह पता चलता है कि आठवीं शताब्दी तक चैत्यवासी सम्प्रदाय का प्रभाव काफी बढ़ गया था। बाद में वि.सं. 1070 में दुर्लभदेव की सभा में जिनेश्वर सूरि और बुद्धि सागर सूरि ने चैत्यवासी साधुओं से शास्त्रार्थ करके उक्त निर्देश को वापिस कराया। इसी उपलक्ष्य में राजा दुर्लभदेव ने वनवासियों को "खरतर" का नाम दिया। इस नाम पर "खरतरगच्छ" की स्थापना हुई।

विविध गच्छ-

श्वेताम्बर सम्प्रदाय कालान्तर में विविध गच्छों में विभक्त हो गया जिनमें प्रमुख गच्छ निम्न हैं।

1. **उपदेश गच्छ** :- पार्श्वनाथ का अनुयायी केशी इसका संस्थापक कहा जाता है।
2. **खरतरगच्छ** :- ऊपर कथित कथनानुसार इस गच्छ की स्थापना हुयी। इसमें दस गच्छ भेद हुए जिनमें मूर्ति प्रतिष्ठा, मंदिर निर्माण आदि होते हैं। इनके विभिन्न गच्छ भेद ये हैं : (1) मधुखरतरगच्छ (2) लघुखरतरगच्छ (3) वेगड़ खरतरगच्छ (4) पीप्पालक गच्छ (5) आचारीय खरतरगच्छ (6) भावहर्ष खरतरगच्छ (7) लघुबाचार्यीय खरतरगच्छ (8) रंगविजय खरतरगच्छ (9) श्री सारीय खरतरगच्छ।

तपागच्छ-

वि.सं. 1865 में जगच्चन्द्रसूरि की कठोर साधना से प्रभावित होकर मेवाड़ नरेश जैत्रसिंह ने उन्हें "तपा" नामक विरुद से अलंकृत किया। जगच्चन्द्रसूरि मूलतः **निर्ग्रन्थ गच्छ** के अनुयायी थे। "तपा" विरुद के मिलने पर निर्ग्रन्थगच्छ का नाम **तपागच्छ** हो गया। कालान्तर में उन्हीं के अन्यतम शिष्य विजयचन्द्र सूरि ने शिथिलाचार को प्रोत्साहित किया और यह स्थापित किया कि साधु अनेक वस्त्र रख सकता है, उन्हें धो सकता है, घी, दूध, शाक, फल आदि खा सकता है, तथा साध्वी द्वारा आनीत भोजन ग्रहण कर सकता है।

तपागच्छ में भी अनेकों गच्छों की स्थापना हुयी जो निम्नतः है-
(1) वृद्ध पोसालिक तपागच्छ (2) लघु पोसालिक तपागच्छ (3) देवसूरि गच्छ (4) आनन्द सूरि गच्छ (5) सागर गच्छ (6) विमल गच्छ (7) संवेगी गच्छ।

पार्श्व गच्छ-

वि.सं. 1515 में तपागच्छ पृथक होकर आचार्य पार्श्वचन्द ने इस गच्छ की स्थापना की। वे निर्युक्ति, तथा चूर्णि और छेद ग्रन्थों को प्रमाण कोटि में नहीं रखते थे। इसी प्रकार कृष्णर्षि का "कृष्णर्षि गच्छ" भी तपागच्छ की ही शाखा के रूप में ही प्रसिद्ध था।

आंचल गच्छ-

उपाध्याय विजयसिंह सूरि (आर्यरक्षित सूरि) ने 1166 ई. में "मुखपट्टी" के स्थान पर अंचल (वस्त्र का छोर) के उपयोग करने की घोषणा की इसीलिए इसे अंचल गच्छ कहते हैं।

पूर्णिमा एवं सार्ध पूर्णिमिया गच्छ-

आचार्य चन्द्रप्रभ सूरि ने प्रचलित क्रियाकाण्ड का विरोध कर पौणमियकगच्छ की स्थापना की। वे महानिशीथ सूत्र को प्रमाण नहीं मानते थे। कुमारपाल के विरोध के कारण इस गच्छ का कोई विशेष विकास नहीं हो पाया। कालान्तर में 1179 ई. में सुमतिसिंह ने इसका उद्धार किया, इसलिए इसे सार्थ पौर्णमीयक गच्छ कहा जाने लगा।

आगमिक गच्छ-

इस गच्छ के संस्थापक शीलगुण और देवभद्र पहले पौणमियक थे। बाद में आंचलिक हुए और फिर 1193 मे आगमिक हुए। वे क्षेत्रपाल की पूजा को अनुचित बताते थे। सोलहवीं शती में इसी गच्छ की एक शाखा कटुक नाम से प्रसिद्ध हुयी। इस शाखा के अनुयायी केवल श्रावक थे।

इन गच्छों के अतिरिक्त और भी अनेकों गच्छों के उल्लेख मिलते हैं जिनकी स्थापनाएं प्रायः 10-11 वीं शताब्दी के बाद राजस्थान में हुयीं जिन स्थापनाओं के पीछे छोटे-मोटे कारण ही थे। जिनमें कुछ का सम्बन्ध स्थानों से है तो कुछ का कुल से, गच्छ अधिकांश किसी न किसी आचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। प्रत्येक गच्छ की श्रमणचर्या लगभग पृथक-पृथक ही रही है। इन गच्छों में आजकल खरतरगच्छ तपागच्छ और आंचलिक गच्छ ही अस्तित्व में हैं। ये सभी गच्छ मन्दिर-मार्गी और मूर्तिपूजक रहे हैं। मूर्ति पूजा के विरोध में श्वेताम्बर सम्प्रदाय में कुछ सम्प्रदाय उठ खड़े हुए, जिनमें स्थानकवासी और तेरापन्थी प्रमुख हैं।[144]

इस प्रकार हम देखते हैं कि महावीर के निर्वाण के पश्चात् श्रमण संघ और सम्प्रदाय अनेक शाखाओं-उपशाखाओं में विभक्त हो गया। जिससे कुछ धार्मिक प्रचार में लाभ हुआ तो कुछ हानि भी। परन्तु एक लम्बे पथ में ऐसा सब कुछ होना आश्चर्य एवं असम्भव नहीं हैं।

सन्दर्भ सूची

1. The secred book of the East Vol. XXII, Introduction-Page 24. Jeeoby.
2. बालकाण्ड सर्ग 14, श्लोक 22
3. Indian Antiguary Vol. IX, Page 163.
4. देखें-समयसार, कर्ता-कर्म अधिकार
5. स्वतंत्र कर्ता-लघुसिद्धान्त कौमुदी
6. यः परिणमति सः कर्ता, समयसार कलश 51
7. भगवती आराधना गाथा 70 विजयोदया टीका
8. दशवैकालिक 10/10
9. भगवती आराधना गा. 60 की विजयोदया टीका।
10. मूलाचार अनगार भावनाधिकार गा.2
11. आचाराङ्गसूत्र पृ. 210
12. भगवती आराधना गा. 2159-60
13. अह्रीकादयश्चोदयन्ति-स्याद्वाद परीक्षा
14. वृहद् जैन शब्दार्णव पृ. 4,
15. सागार धर्मामृत अ.5, श्लोक 42
16. आचारांग पृ.151 (अमोलक ऋषिकृत अनुवाद)
17. वही, अध्याय 9, उद्देश्य 1, सूत्र 4,
18. ठाणांग पृ.561 (अमोलक ऋषिकृत अनुवाद)
19. भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध ले.-बा. कामताप्रसाद जैन
20. वीर, वर्ष 4, पृ.353
21. "अचेलकोऽतिनिच्चलो नग्गो" 1 HO. III 245
22. अष्टपाहुड - पृ.114 (अनन्त कीर्ति ग्रन्थ माला-बम्बई)
23. मूलाचार-अनगार भावानाधिकार गा.2 की टीका
24. वृहद् जैन शब्दार्णव पृ.4
25. रत्न.श्रा. श्लोक 4
26. वीर वर्ष 4, पृ.201
27. विष्णु पुराण में "दिगम्बरो मुण्डो वर्हपत्रधरः (5-2) पद्मपुराण-(भूमिखण्ड अध्याय 66); प्रबोध चन्द्रोदय नाटक अंक 3 "दिगम्बर सिद्धान्तः, पंचतंत्र" एकाकी"
28. अष्ट पाहुड पृ. 200

29. वराहमिहिर संहिता 19/61
30. मूलाचार-मूलगुण अधिकार गा. 30
31. सहस्रत्राणि च चत्वारि नृपाणौ स्वामिभक्तितः
तदाकूतमजानन्ति प्रणिपान्नानि नग्नताम्। पद्मपुराण 3/286
32. आदिपुराण 20/170
33. वेद पुराणादि ग्रन्थों में जैन धर्म का अस्तित्व,-ले. मक्खनलाल, दिल्ली-1930.
34. The Bhagwata Purana endroses the view that Rishabha was the founder of Jainism-(Indian Philosophy 287).
35. ऋषभ अवतार कहे हैं कि ईश्वर अग्नीन्ध्र के पुत्र नाभि से सुदेवी पुत्र ऋषभदेव जी भये। समान दृष्टा जड की नाई योगाभ्यास करते भये, जिनके पारमहंस्य पद को ऋषियों ने नमस्कार कीनो, स्वस्थशान्त इन्द्रिय सब संघ त्यागे ऋषभदेव जी भये, जिनसे जैनमत प्रगट भयो।
(भागवतपुराण 2-7-9-10 ज्वालाप्रसादभाष्य)
36. भुवनाम्भोजमार्तण्डं धर्मामृत पयोधरम्।
योगिकल्पतरुं नौमि देवदेवं वृषध्वजम्।। ज्ञानार्णव-1.2।।
37. भागवत स्कन्ध 5 अ. 5
38. जिनेन्द्रमत दर्पण, प्रथम भाग पृ. 10
39. अनेकान्त,वर्ष 1, पृ. 539
40. अनेकान्त, वर्ष 1, पृ. 539-540
41. यथाजातरूपधरो निर्ग्रन्थो निष्परिग्रहः जावालोपनिषद सू. 6
42. सन्यासः षटविधो भवति-
कुटिचक-वहूदक-हंसः-परमहंसः-तूरियातीत-अवधूतश्चेति-(सन्यासोपनिषद 13)
43. अथभिक्षुणाम् मोक्षार्थीनाम् कुटीचक-बहुदक-हंस-परमहंस चत्वारः
44. ईशादिविंशोत्तरशतोपनिषदः पृ. 146
45. ईशादिविंशोत्तरशतोपनिषदः पृ. 166
46. ईशादिविंशोत्तरशतोपनिषदः पृ. 313-316
47. ईशाद्यः. पृ. 415; सन्यासोपनिषद 59
48. ईशाद्यः. पृ. 27
49. ईशाद्यः. पृ. 21
50. ईशाद्यः. पृ. 368
51. ईशाद्यः. पृ. 524
52. i Ho. 111 472-485-Dr. N.N. Law (Calcutta)
53. भगवान पार्श्वनाथ-प्रस्तावना-ले. कामताप्रसाद-पृ. 32-49
54. दिगम्बरत्व और दिगम्बरमुनि-ले. कामताप्रसाद पृ. 31
55. पुरातत्व, वर्ष-2, अंक 4, पृ. 440
56. देखें फोटो सं. 1

57. भागवत पुराण 5,3,20
58. भागवत पुराण-5,6,12
59. मज्झिमनिकाय-40
60. ऋग्वेद 10,136,2-3
61. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान पृ. 13-14
62. ऋग्वेद 10,13,6,1
63. ऋग्वेद 10,136,4
64. जैनधर्म का उद्गम और विकास पृ. 15
65. जैन धर्म उद्गम और विकास पृ. 17
66. Religious Attitude and life in Islam, p. 298 and K.K. 739
67. The Dervishes-K.K. 738
68. The Higher Saints of Islam, called "Abdals" generally went about perfectly maked; as described by Miss Lucy M. Garnet in her EO excellent account of the lives of Muslim Dervishes, Entitled "Mysticism and Magic in Turkey" NJ., P.10
69. जिल्द और पृष्ठ के क्रमांक "मस्नवी" के उर्दू अनुवाद "इल्हामे मन्जूम" के हैं।
70. K.K. 739 and NJ, PP 8-9
71. स्थम्भ लेख नं. 7
72. सवदिसानं तापसानं-JBORS
73. वंन्सिओ जैन स्मा. पृ. 91
74. जै. सि. भा. वर्ष 1, किरण 4, पृ. 123
75. होली दरवाजा से मिला आयागपट-वीर, वर्ष 4, पृ. 303
76. आर्यवती आयागपट्ट-वीर वर्ष 4, पृ. 304
77. वीर, वर्ष 4, पृ. 310
78. सं. प्रा. जै. स्मा. प. 81-82 (General Cunningham) found a number of Fragmen tary maked Jain statues, some inscribed with dates ranging from 96 to 152 A.II.
79. SPCIV. Plate II (B)
80. बं. वि. ओ. जै. स्मा., पृ. 16
81. I HQ; Vol. VII P. 441
82. Modern Review, Ag. 1931, P. 150
83. A I VII 33-34 व व्र. प्रा. जै. स्मा. पृ. 126
84. म. प्रा. जै. स्मा., पृ. 60
85. Nanda were Jains. Cambridge History of India by Prof. E.J. Rapson, 1922, Vol.I Page-164. The nine kings of the Nands dynasty of Magadha were patrons of the Order (Sangha of

Mahavira) History of Aryan Rule in India by E.B. Havell-Page-59.

86. सप्तम गुजराती साहित्य परिषद रिपोर्ट पृ. 41.

87. "चन्द्रावदातसत्कीर्तिश्चन्द्रवन्मोदकर्तृम्। चन्द्रगुप्तिर्नृपस्तत्राउचकच्चास्गुणोदयः ज्ञानविज्ञानपारीणो जिनपूजापुरंदरः। चतुर्द्दानदक्षो यः प्रतापजित भास्करः "समासाद्य य सूरीशं (भद्रबाहु) पारीत्य प्रश्रयान्वितः। समभ्यर्च्यगुरोः पादावनगंधसदकादिकैः।। 226।। भद्रबाहु चरित्र, सम्पा. उदयलाल बनारस,2437

88. "That Chandragupta was a member of the Jaina Community is taken by their writers as a matter of course, and treated as a known fact, which needed neither agrument nor demonstration. The documentory evidence to this fact is of comparatively early date, and apparently absolved from all suspicion the testimony of Magasthenes would likewise seem to imply that Chandragupta submitted to the devotional teaching of the Sramanas as opposed to the doctrines of the prahmanas (Strabo, XV. 1.60)"
-J : RAS VOL IX PP. 175-176 (दि. दि. मुनि से उद्धृत पृ. 10)

89. Jaina tradition--Jaina aseetia-Sir Vineient Smith EHI.P.154. (दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि से उद्धृत पृ. 108)

90. Narasimhachar's Sravanabllagola, p. 25-40 वि.कों. भाग 7 पृ. 156-157 तथा जै. शि. सं. भूमिका पृ. 54-70

91. स्तम्भ लेख नं. 6
"The founder of the Maurayan..... (दि. दि. मुनि. पृ. 109 ले. कामता प्रसाद जी अर्त्तागंज

92. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि पृ. 110

93. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि पृ. 111

94. NJ., 1 tro P.2

95. Plinys XXXIV. 9-JRAS, Vol. IX, P. 232.

96. I HQ. Vol. IV P. 522.

97. सतादिसानुं भनिताम् तपति-इसिनं साधियनं अरहत निसीदिया समीपे---चोयथि अंगसतिकं तुरियं उपादयति" (दि. मुनि 123)
--J BORS., XIII 236-237

98. अनेकान्त, वर्ष 1, पृ. 228

99. दि. और दि. मुनि पृ. 157

100. दि. और दि. मुनि पृ. 157

101. IBID, P. 681
102. SSIJ., Pt. I. P. 47
103. IBID P. 55
104. SC. P. 247.
105. I HQ, VOL. IV. P. 564.
106. श्रमण महावीर-पृ. 107, ले. मुनि नथमल
107. वही पृ. 108-109
108. जैन आचार पृ. 153, ले. मोहन लाल मेहता.
109. कल्याण मुनि और सम्राट सिकन्दर, पृ. 13-14.
110. स्थानांग सूत्र, नवम स्थान, पृ. 683, (ब्यावर प्रकाशन)
111. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भाग 1, पृ. 313
112. तिलोयपण्णति गा. 1481, 1484
113. तिलोयपण्णति गा. 1002 से 1016
114. राजवार्तिक 3/36/3/202/21, एतेषु महानिमित्तेषु कौशलमष्टांग महानिमित्तज्ञता"।
115. दर्शनसार गा. 11-14.
116. भाव संग्रह-गा. 53-72
117. जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास पृ. 43 ले. भागचन्द्र भास्कर।
118. विशेषावश्यक भाष्य गा. 230-32; राजवार्तिक-6/10/2 में ज्ञान का अपलाप करने को "निन्हव" कहा गया है।
119. विशेषावश्यक भाष्य गा. 3233-3255
120. विशेषावश्यक भाष्य गा. 3356-3388
121. जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास पृ. 41, ले. डा. भागचन्द्र भास्कर नागपुर
122. श्वेताम्बर मत समीक्षा पृ. 270
123. जैन मित्र 10 वाँ वर्ष, 19-20 वाँ अंक के लेख का सार
124. इण्डियन सेन्टिकेरी, पु.नं. 30, "भारत में धार्मिक इतिहास"-लेख
125. श्वेताम्बर मत समीक्षा - पृ. 273
126. वही पृ. 274
127. जै. शि. सं. भाग 1, लेख सं. 102 के आधार पर अकलंक "देवसंघ" के प्रतिष्ठापक थे।
128. जै. शि. सं. भाग 2, लेख सं. 239
129. श्रमणों के द्वारा गाँव, जमीन आदि लेने की पुष्टि में निम्न शिलालेख देखे जा सकते हैं-लेख सं. 127, 95 जै. शि. सं. भाग 2
130. जै. शि. सं. भाग 2, लेख सं. 180 (दोड्ड-कणगलु में, गौण के खेत में एक पाषाण पर)

131. वही - लेख सं. 122, 123, 132
132. वही - लेख सं. 94
133. जै. शि. सं. भाग 4, लेख सं. 55
134. दक्षिण भारत में जैन धर्म पृ. 181
135. जैन साहित्य का इतिहास पृ. 276
136. जैन सिद्धान्त भास्कर भा. 2, किरण 4, पृष्ठ 28-29
137. पं. नाथूराम प्रेमीजी के अनुसार दिल्ली के उत्तर में जमुना के किनारे काष्ठा नगरी थी। जिस पर नागवंशियों की एक शाखा पर राज्य था। 14 वीं सदी में "मदन पारिजात" निबंध यही लिखा गया-जै. शि. सं. 3 पृ. 68
138. दक्षिण भारत में जैन धर्म पृ. 178
139. जै. शि. सं. भाग 3 पृ. 26
140. दक्षिण भारत में जैन धर्म पृ. 179 के आधार पर।
141. दर्शनसार गा. 25-26
142. जै. शि. सं. भाग 3, ले. सं. 166 (सन् 990)
143. वही ले. 178 (सन् 1040)
144. "जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास" के आधार पर ले. भागचन्द्र भास्कर

चित्र सं. 1

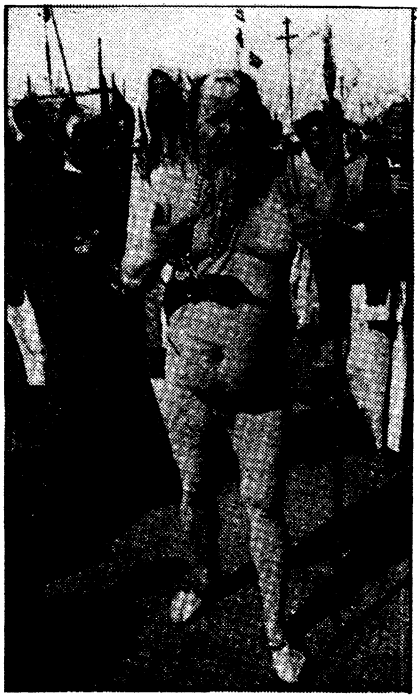

द्वितीय अध्याय

श्रमण धर्म का स्वरूप

धर्म का स्वरूप-

श्रमण धर्म की मीमांसा के पूर्व यह आवश्यक है कि यह निर्धारित हो कि धर्म क्या है ? और उसका स्वरूप कैसा हो ? क्योंकि धर्म के स्वरूप की मीमांसा हुए बिना श्रमण धर्म की मीमांसा ही नहीं की जा सकती है।

संसार का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है और दुःखों से डरता है। जीव की प्रत्येक वृत्ति सुख प्राप्ति के लिए ही होती है। यहाँ तक कि, जीव के आत्म वध (घात) जैसी वृत्तियाँ भी सुख प्राप्ति की आशा से ही होती है; क्योंकि इस वृत्ति में यह भ्रमपूर्णभाव निहित होता है कि, वर्तमान की शारीरिक अथवा मानसिक पीड़ा से मुक्ति का उपाय स्वयं की समाप्ति में है। अतः दुःख के अभाव रूप सुख की प्राप्ति के लिए ही यह मिथ्यात्व गर्भित कृत्य किया जाता है। इसीलिए आ. समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में धर्म का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि-

"देशयामि समीचीनं धर्मं कर्म निबर्हणम् ।
संसार दुःखतः सत्तवान योधरत्युत्तमे सुखे।। 2 ।।

रत्नकरण्डश्रावकाचार ग्रन्थ लिखने की प्रतिज्ञा रूप में समन्तभद्र कहते हैं कि, मैं उस कर्मों की निवृत्ति रूप समीचीन धर्म को कहूँगा जो जीवों को संसार दुख से निकालकर उत्तम सुख में स्थापित करे।

उपर्युक्त श्लोक में समन्तभद्र अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हैं कि, धर्म तो वही कहा जा सकता है कि, जिसको स्वीकारने पर तत्क्षण उत्तम सुख मिले अर्थात् जिसके पश्चात् किसी अन्य सुख साधन की खोज न करना पड़े, एवं जो स्वाधीन एवं पूर्ण हो वही धर्म कहा जा

सकता है। धर्म शब्द धृ+मन से निष्पन्न है। " धीयते लोकोऽनेन धरति लोकं वा धर्मः अथवा इष्टे स्थाने धत्ते इति धर्मः" अर्थात् जो इष्ट स्थान मुक्ति में पहुँचाता है अथवा जिसके द्वारा लोक श्रेष्ठ स्थान को प्राप्त करता है अथवा जो लोक को श्रेष्ठ स्थान में स्थापित करता है वही धर्म है।

धर्म को धारण करने वालों को, शक्ति और समर्पण की अपेक्षा से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम तो वे जो शक्ति से हीन हैं, एवं सम्पूर्ण समर्पण देने में भी अक्षम हैं फिर भी धर्मधारण करने के लिए लालायित हैं - इस श्रेणी में श्रावकगण आते हैं जिनको कि जैन दर्शन में ग्यारह प्रतिमाओं में विभक्त किया गया है।

द्वितीय, वे महापौरूषवन्त एवं समर्पित व्यक्तित्व आते हैं, जो धर्म धारणार्थ सदा उद्यमवन्त रहते हैं। इस वर्ग में "श्रमण" शामिल हैं; जो सदा "श्रम" में समभाव से अथवा शम रूप से लगे रहते हैं, जिनका मात्र यही व्यवसाय रहता है। धर्म का इस प्रकार का विभाजन आचार्य **पद्मनन्दि** ने किया है। उन्होंने कहा कि धर्म, सम्पूर्ण धर्म और देश धर्म के भेद से दो प्रकार का है। इनमें से प्रथम भेद में दिगम्बर श्रमण और द्वितीय भेद में श्रावकस्थित होते हैं।[1] यहाँ पर वस्तुतः धर्म तो एक ही है, परन्तु जो उसको सर्वांशतः पालन नहीं कर सकता है, उसे अपनी शक्ति अनुसार पालन करना चाहिए। अतः जितना धर्माचरण है, उतना तो श्रेष्ठ है, शेष आचरण अधर्म का ही कारण है, और वे पापाचरण से भी जब छूटेंगे तो ही उसे सम्पूर्णतः धर्मात्मा कह सकते हैं, और इसे ही द्वितीय शब्दों में महाव्रत-अणुव्रत कहते हैं। द्वितीय, यह तथ्य भी द्रष्टव्य है कि प्रथम श्रमण धर्म कहा पश्चात् श्रावक धर्म कहा; क्योंकि श्रमण के समक्ष जाने पर वे प्रथम मूलधर्म रूप श्रामण्य का ही उपदेश देते हैं, यदि श्रावक की उतनी शक्ति न हो तो फिर ग्यारह प्रतिमाएँ श्रावक धर्म धारण की व्यवस्थाएँ हैं, परन्तु मूल/साक्षात्/वास्तविक धर्म तो श्रामण्य ही है।

धर्म के स्वरूप को परिभाषित करते हुए जैन दर्शन में कहा "वत्थु सभावोधम्मो" अर्थात् वस्तु का जो स्वभाव है वही धर्म है। अतः इस जगत में प्रत्येक द्रव्य चेतन-अचेतन स्वयं में धर्मी है, इस अपेक्षा से **अधर्मी नामक तत्व जगत में है ही नहीं, परन्तु वह चेतन द्रव्य जो धर्म अर्थात स्वभाव को न जानकर अन्य द्रव्यों के धर्मों में हस्तक्षेप करने की असफल कोशिश करते हुए अपने धर्म से अज्ञात रहता है, जैन दर्शन के अनुसार वही विधर्मी है।** जैन दर्शन के अनुसार भगवान वस्तु स्वरूप से बन्धित होते हैं, वस्तु स्वरूप कभी भगवानों से बंधता नहीं है। जो भगवान वस्तु स्वरूप से नहीं बंधते, वे भगवान नहीं हुआ करते। **उदाहरणार्थ-अग्नि स्वरूप का प्रतिपादक अग्नि से बँधता है अर्थात् जैसी अग्नि है वैसा ही उसे कहना पड़ता है, अन्यथा उसका कथन असत्य है। अतः, अग्नि कदापि वक्ता के बन्धन को स्वीकार नहीं करती है, अपितु वक्ता अग्नि के बन्धन को स्वीकारता है। अग्नि का** स्वभाव (धर्म) त्रिकाल एक हुआ करता है, उसके दाहकत्व में तो हीनाधिकता हो सकती,

परन्तु दाहकत्व को तिलांजलि कदापि नहीं दे सकती है। यही वस्तु धर्म है।

श्रमण और उसका धर्म-

जैनधर्म के मोक्षमार्ग में श्रमणधर्म का अत्यधिक महत्व है। इस धर्म में मोक्षमार्ग की साधना के रूप में विभाजित श्रावक धर्म और श्रमण धर्म के विभाजन में वस्तुतः यथार्थ साधक तो श्रमण ही है, परन्तु श्रमण धर्म की साधना में तत्पर श्रावक धर्म है। अतः "सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः" में मोक्षमार्ग का अपर नाम तो श्रामण्य[2] ही है। परन्तु श्रमण धर्म को अंगीकार करने की भूमिका के रूप में श्रावक धर्म है। श्रावक धर्म मुख्यतः साक्षात् धर्म नहीं है। इस सन्दर्भ में एक तथ्य और यह है कि, श्रावक की तो उसकी शक्ति की अपेक्षा से ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन है, अर्थात् श्रावक के तो ग्यारह भेद मुख्यतः होते ही हैं, परन्तु श्रमण धर्म में इस प्रकार का कोई भेद नहीं। श्रामण्य की अपेक्षा से त्रिकालवर्ती सभी श्रमण समान हैं।

जैन धर्म में गृहस्थ परम्परा का भी चरम लक्ष्य श्रमण धर्म अंगीकार करना ही था, तभी तो आज भी भारत में मध्यप्रदेश के सागर, जबलपुर, कटनी आदि उत्तर प्रदेश में कानपुर, ललितपुर, आगरा, झाँसी आदि बहुत से नगर इसी प्रकार महाराष्ट्र, कर्नाटक, राजस्थान आदि के बहुत गांवों/शहरों में जैनों के घरों पर तथा मन्दिरों में पिच्छि रखी देखी जा सकती है। परन्तु जैन समाज के बहुत कम लोगों को इस परम्परा के प्रचलन का रहस्य पता हो। घरों में एवं स्थानीय मन्दिरों में पिच्छि रखने का कारण शायद यह था कि, पिच्छि रखने से गृहस्थ को गृहस्थ धर्म का उद्देश्य पिच्छि के प्रयोग की स्मृति दिलाता रहे, तथा उस गृहस्थ को इस बात का स्मरण रहे कि जिस पत्नि, बाल-बच्चों, धन कुटुम्बादिक को आखिर रूप से त्यागना ही है, तो फिर अब इतना अभी मोह क्यों ? इस बात की निरन्तर जागृति के लिए घर पर पिच्छि की स्थापना रहती थी। इस प्रसंग में एक तथ्य और भी है कि कमण्डलु रखने की प्रथा नहीं है, क्योंकि पिच्छि बिना तो साधु दस कदम से आगे चल नहीं सकता परन्तु कमण्डलु बिना भी वह चल सकता है एवं पिच्छि तो संयम का साधन है, परन्तु कमण्डलु नहीं, अतः घरों में पिच्छि रखने की प्रथा चली होगी। दूसरा कारण यह भी रहा होगा कि, जब साधु की पिच्छि संयम साधन के अयोग्य हो जाती थी; तो श्रावक, श्रमण का पिच्छि परिवर्तन में सहयोगी हो जाता था और परिवर्तित पिच्छि को अपने अहोभाग्य के रूप में स्मरण स्वरूप घर पर रख लेता था। परन्तु सद्भावना से चलायी गयी यह परम्परा अब अत्यन्त विकृत रूप धारण कर चुकी है। बल्कि समाज ने इस महान् कार्य को भी अपनी "वणिक बुद्धि" से वंचित नहीं रखा है। अब यह पिच्छि-परिवर्तन समारोहों में "बोलियां" लगाकर होता है। जो कि मानकषाय व व्यवसाय का केन्द्र बन चुका है।

धर्म के स्वरूप प्रसंग में, जैसा कि लिखा गया कि धर्म कभी भी प्रभावित नहीं होता जबकि धर्म और धर्मात्माओं से तो देश-काल प्रभावित होता है। जैसा कि राम, महावीर आदि धर्मात्माओं से देश-काल प्रभावित हुआ था। इस बीसवीं शताब्दी में भी गांधी जी की अहिंसक प्रवृत्ति से पाश्चात्यवासी प्रभावित हुए, और उनको भारत मुक्त करना पड़ा। चाहे कोई कितना भी कहे पर मैं तो यह दृढतापूर्वक कहूँगा कि **धर्म और धर्मात्मा पुरुष कभी भी देशकाल की मर्यादा में नहीं रहता, अपितु देशकाल की उच्छृंखल वृत्तियां धर्मात्माओं के जीवन से प्रभावित होती हैं।** देश-काल कभी भी एक से नहीं रहते, परिस्थितियाँ एवं प्रवृत्तियाँ कभी भी एक सी नहीं रहती हैं। जैसे यह एक ध्रुव नियम है उसी तरह धर्म सदैव एक सा एवं अप्रभावित रहता है यह भी नियम है। यदि धर्म का स्वरूप भी परिवर्तनशील हो तो एक आदर्श कल्पना की व्यवस्था कैसे संभावित होगी। नियमों में बदलाव आंशिक सत्यता का ही द्योतक होता है। धर्म कभी आंशिक सत्य नहीं होता है। धर्म सर्वांश एवं सर्वकालिक सत्य है। अतः उसमें बदलाव की कल्पना भी बालचेष्टा मात्र है।

श्रमण धर्म मोक्षमार्ग का साक्षात् धर्म है।अतः धर्म भी त्रिकाल एक सा ही होना चाहिए और किसी प्रकार की परिस्थितियों में भी उसे अप्रभावित रहना चाहिए। तभी वह श्रम अर्थात् उद्योगियों अर्थात् वीरों का धर्म कहा जा सकेगा। वस्तुतः श्रमण धर्म भी ऐसा ही है। उसका मूल स्वरूप त्रिकाल एक ही रहता है। उसमें किंचित् मात्र भी बदलाव संभव नहीं, ऐसा नहीं कि श्रावकों में शिथिलता या भ्रष्टता प्रवेश होने पर श्रमणों में भी ऐसा होना स्वीकृत होवे। जैनधर्म के अनुसार प्रतिपादित भूमिका का ज्ञान होना अत्यावश्यक है, तब ही इस श्रमण स्वरूप को सरलता से समझा जा सकता है। जिस भूमि पर रहना है उसके अनुरूप भी रहो। भूमि के विरुद्ध रहना यह एक द्रोह है फिर चाहे वह देशद्रोह के रूप में हो या धर्मद्रोह के रूप में। इसे "भूमिका विद्रोही" की संज्ञा दी जाती है। उत्कृष्टतर पवित्रता ही श्रामण्य की भूमिका है। **श्रमण पवित्रता के प्रतीक हैं। श्रमण वह पवित्र स्वच्छ दर्पण हैं कि, जिनको देखकर अपने मुख की अपवित्रता दिखती है, और उसको दूर करने की प्रेरणा मिलती है।** मुख चाहे थोड़ा गन्दा हो अथवा बहुत ज्यादा, परन्तु इन दोनों प्रकार के मुखों को देखने के लिए एक ही प्रकार के अत्यन्त स्वच्छ निर्दोष दर्पण की आवश्यकता होती है। दर्पण की स्वच्छता निरपेक्ष होती है, उस दर्पण को कभी यह शिकायत नहीं होती कि देखने वालों का मुख कैसा ? दर्पण का स्वरूप ही ऐसा है कि वह अपने स्वरूप को स्वच्छ रखे। एक अच्छे स्वच्छ दर्पण में ही एक मलिन मुख दिखता है। मलिनता के तो भेद होते ही हैं, परन्तु स्वच्छ दर्पण में कोई भेद नहीं होता है। वे सभी दर्पण एक से ही होते हैं। इसी प्रकार श्रमण एक स्वच्छ, निष्कलंक, निर्दोष आदर्शरूप दर्पण हैं। मलिन श्रावक अपनी मलिनता श्रमण की आदर्श चर्या के परिप्रेक्ष्य में ही देखता है, और अपनी मलिनता को दूर करने का प्रयत्न करता है। अतः **यह कथन कि "जैसे श्रावक वैसे श्रमण" नितान्त असंगत एवं भ्रामक है,** क्योंकि इसमें यह प्रश्न सहजतः होगा कि किस श्रावक के आधार पर श्रमण का स्वरूप निर्धारित हो।

जैन धर्म में श्रावक के ग्यारह भेद किये हैं, जिनको कि शास्त्रीय भाषा में प्रतिमा कहते हैं, तो प्रश्न है कि किस प्रतिमा के आधार पर श्रमण का स्वरूप निर्धारण हो ? पहली "दर्शन प्रतिमा" के आधार पर या ग्यारहवीं प्रतिमा के आधार पर हो, और फिर जैन दर्शन में इन प्रतिमाओं से पृथक सामान्यतः जैनधर्म के पक्षधर को भी पाक्षिक श्रावक कहा है।[3] अतः ऐसे श्रावक के आधार पर निर्णीत श्रमण के स्वरूप की क्या संगति होगी ? एक सूफी कथा प्रचलित है कि एक बालक बाग से गुजरा,उसने फल-फूल तोड़े यहाँ तक वृक्ष भी तोड़ डाले, परन्तु बागवान ने कुछ भी न कहा। उसके पीछे ही एक संत गुजरा, उसने आवश्यकतावश एक मामूली पत्ता तोड़ डाला। बागवान ने उसे पकड़ लिया। संत ने कहा कि कुछ समय पूर्व एक बालक गुजरा, उसने सारा बाग ही तहस-नहस कर दिया उससे कुछ भी नहीं कहा, मैंने मात्र एक पत्ता वह भी अपनी आवश्यकतावश तोड़ा, तो तुमने मेरा हाथ पकड़ लिया, जबकि मैं एक संत तुम्हारा पूजनीक और आदर्श भी हूँ। बागवान ने कहा, इसलिए कि तुम मेरे पूज्य एवं आदर्श थे, मैंने तुम्हारा हाथ ऐसा न करने के लिए पकड़ा। जब तुम संत पथ में दीक्षित हुए थे, तो तुमने ईश्वर की साक्षी में सार्वजनिक रूप से यह प्रतिज्ञा की थी कि, मैं जीवन में कभी भी सूक्ष्म जीवों की मन वचन काय से हिंसा को नहीं करूँगा और बिना आज्ञा के अपनी अति आवश्यकता की पूर्ति भी नहीं करूँगा। इसी प्रकार से पंच प्रकार के पापों के त्याग की प्रतिज्ञा ली थी। सामान्य जन ऐसा व्रत स्वीकार नहीं कर पाते हैं, परन्तु ऐसा करने के लिए तुम्हें आदर्श/वंदनीक माना था।

तुमने मेरे बाग का पत्ता तोड़ा। अतः एकेन्द्रिय जीव की हिंसा की एवं चोरी का दोष भी लगा, मात्र बात इतनी नहीं है, परन्तु तुम्हें देखकर अन्य जन भी ऐसा करते, क्योंकि तुम आदर्श पुरुष थे, ऐसी स्थिति में मेरे बाग का पत्ता भी नहीं बचता। अतः मैंने तुम्हारा हाथ अपनी सुरक्षा हेतु पकड़ा। बच्चे को इस कारण से नहीं पकड़ा कि, वह नासमझ है, माया-जाल में फंसा हुआ है और तो और वह किसी का आदर्श भी नहीं हैं, अतः उसने जितना बाग उजाड़ा उतना ही उजड़ा, अब नहीं उजड़ेगा, क्योंकि वह किसी का आदर्श नहीं था। उसको देखकर अन्य वैसा नहीं करेंगे। अतः बच्चे के द्वारा उजाड़ा गया बाग उजड़ा नहीं है, वह कालान्तर में पूर्ववत् हो जाएगा। आप ने भले ही आवश्यकतावश एक पत्ता तोड़ा, परन्तु कल आपकी आवश्यकताएं बढ़ेंगी और आप ऐसा करते रहेंगे इससे आदर्श की कल्पना ही समाप्त हो जाएगी। अतः मैंने पतित हो रहे आदर्श को संभाला, व्यक्ति को नहीं, व्यक्तित्व को पकड़ा है।

यह घटना आज के सन्दर्भ में भी पूर्णतः घटित है। श्रमण का स्वरूप त्रिकाल निरपेक्ष है। उनके आदर्श की कसौटी अन्य नहीं, क्योंकि वे स्वयं में एक कसौटी है। साधु की अखण्ड त्रिकाल कसौटी के संदर्भ में यदि यह कहा जाए कि वर्तमान में काल अच्छा नहीं है। अतः ऐसी दशा में मात्र वेश को देखकर वंदना कर लेनी चाहिए। और इस सन्दर्भ में वर्तमान पर पूर्व मुनि की छाया को मानकर पूजने जैसी स्थिति में, स्वरूप के बदलाव की

संभावना करना भी गलत है, हमें इस सन्दर्भ में सूक्ष्मता से आ. सोमदेव के भावों को पहिचानना होगा -जहाँ के उद्धरण दिये जाते हैं -देखें-

"काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके।
एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधराः नराः।। 796।।
यथा पूज्यं जिनेन्द्राणां रूपं लेपादि निर्मितम्
तथा पूर्व मुनिच्छाया पूज्याः संप्रति संयताः।। 797।। उपासकाध्ययन

इस श्लोक की संस्कृति टीका में पं. श्री जिनदास जी श्लोकार्थ को स्पष्ट करते हैं कि-"पंचम कालेऽपि जैन मुनयः विहरन्तीति निगदत्ति-काले इति-अस्मिन्कलौ काले दुःखमाख्ये पंचमकाले। चले चित्ते मनसि चंचले सति। देहे शरीरे च अन्नादिकीटके अन्नम् अत्तीति भक्षयतीति अन्नादी स चासौ कीटकः तस्मिन् सति। एतच्चित्रम् आश्चर्यं विद्यते यत् अद्यापि जिनरूपधारिणः नराः विद्यन्ते। अयं पंचमकालः शुभो नास्ति यतः सर्वे जनाः स्वैराचारपरायणाः पापरता दृश्यन्ते। चित्रमपि चलं धर्माचरणाद् पेतुमिच्छति। देहोऽपि अन्नाभिलाषरतः, तथापि अत्र भारते केचन जना जिनेन्द्रमुद्रांधृत्वा स्वपरहिताय यतन्ते।। 796।। यथेति-यथा लेपादि निर्मितं काष्ठपाषाण मण्यादिविरचितं जिनेन्द्राणां रूपं जिन प्रतिबिम्बं पूज्यम्। तथा पूर्वमुनिच्छायाः पूर्वे ये मुनयः पूर्वमुनयस्तेषां छाया यत्र तत्सदृशा इत्यर्थः। अष्टाविंशतिमूलगुणधारिणः संयताः संप्रति अस्मिन् काले पूज्याः मान्याः। परं यदि स्वाचारात् भ्रष्टा गृहस्थवत् असत्यं ब्रुवन्ति, मान्यान् मुनीनपि न मानयन्ति अहमपि न तेभ्यो हीनः इति ये मन्यन्ते। न ते नमस्कार योग्याः ये च तान्नमस्यन्ति ते तत्पापम् अनुमन्यमाना ज्ञातव्याः। ----पूर्व मुनिच्छाया इत्यत्र छायाशब्दः अल्पत्वद्योतकः तच्च अल्पत्वं मुनिचारित्रापेक्षया पूर्वेमुनयः तपस्विनः परीषहोपसर्गान् सहमाना आसन् नाधुना ते तथा हीन संहननधारित्वात्। परन्तु हीन संहननेऽपि मूलगुणानां पालनं भवत्येव अतः मूलगुणलोपाकारिणः मुनयः पूर्वमुनिच्छाया ज्ञातव्याः।। 797।।

उपर्युक्त संस्कृत टीका का भाव है कि इस पंचम काल में भी विचरते श्रमण एक आश्चर्य हैं, जबकि मनुष्य शरीर का गुलाम बना हुआ है। यह पंचम काल अच्छा काल नहीं है। सभी अपने आचरण से हीन हैं तथापि जिनेन्द्रमुद्रा को धारण करने वाले हैं। अतः इन वर्तमान श्रमणों पर पूर्वमुनियों की छाया मानकर अर्चना करना चाहिए। परन्तु यहाँ यह तात्पर्य नहीं कि हर किसी पर पूर्व मुनि की छाया मान ली जावे, अपितु जो अट्ठाइस मूलगुणों में सजग हैं, सच्चे मुनि हैं परन्तु हीन संहनन होने से एक-एक मास के उपवास नहीं कर सकते हैं। गर्मियों के समय पहाड़ों पर जाकर उग्र तपस्या नहीं कर सकते हैं, परन्तु "ज्ञानध्यानतपोरक्तः" हैं ऐसे मुनियों पर ही पूर्व मुनियों की प्रतिकृति मानकर पूजना चाहिए।

अट्ठाइस मूलगुणों का निष्कलंक पालन जैन श्रमण का बाह्य लक्षण है। और यही श्रमण की परीक्षा का माध्यम भी है। चूंकि उसके अन्तरंग मूल अर्थात् आत्मा की स्वच्छता को सामान्यतः जाना नहीं जा सकता है। अतः अट्ठाइस मूलगुण रूप व्यावहारिक गुणों को ही प्रमुखता दी है। चूंकि वन्द्य-वंद्यक भाव भी यथार्थ में व्यवहार क्रिया है। निश्चय नय से तो अपनी आत्मा ही वन्द्य है और वही वंद्यक भी, इसी कारण श्रमण के बाह्य गुणों को ही पूज्य माना गया है। तभी तो मूलाचार की टीका करते हुए वसुनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती ने पृथक रूप से मूलगुणों को भी नमस्कार किया है - देखें-

"मूलगुण संयतानामयं नमस्कारो मूलगुणान् सुविशुद्धान् संयतांश्च वन्दित्वा मूलगुणान् कीर्तयिष्यामि।"[4]

अर्थात् मूलगुणों और सुविशुद्ध अर्थात् निर्मल चारित्रधारी संयतों को नमस्कार करके मैं मूलगुणों को कहूँगा।

यहाँ पर मूलगुणों एवं सुविशुद्ध चारित्र को अलग-अलग नमस्कार करने का कारण यह है कि, श्रमण का मूल स्वरूप तो सप्तम गुणस्थान की दशा से युक्त भाव है, जो कि शुद्धपरिणति में होता है - यही सुविशुद्ध चारित्र है। परन्तु जब इन भावों से च्युत होकर विकल्प की भूमिका रूप छठवें गुणस्थान में आता है, तब उसे 28 प्रकार तक के भाव हो सकते हैं, जो अट्ठाइस मूलगुण कहलाते हैं। टीकाकार कहते हैं कि ये भाव भी चूंकि शुद्ध परिणति के साथ होते हैं, अतः ये भी पूज्य हैं। इस कारण दोनों भावों को शुभोपयोग एवं शुद्धोपयोग को नमस्कार किया है।

जैनधर्म में अन्तरंग शुद्धता एवं नग्नता को मुक्ति का कारण माना है। और वह आन्तरिक शुद्धता सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र की लीनता है और मोह-राग-द्वेष से रिक्तता ही उसकी नग्नता है। उपर्युक्त निश्चय- व्यवहार मूलगुणों की चर्चा करते हुए जयसेनाचार्य ने कहा है कि-

"तथाहि-निश्चयेन मूलमात्मा, तस्य केवल ज्ञानाद्यनन्तगुण मूलगुणास्ते च निर्विकल्पसमाधिरूपेण परमसामायिकाभिधानेन निश्चयेकव्रतेन मोक्षबीजभूतेन मोक्षे जाते सति सर्वे प्रकटा भवन्ति। तेन कारणेन तदेव सामायिकं मूलगुण व्यक्तिकारणत्वात् निश्चयमूलगुणो भवति। यदा पुनर्निविकल्पसमाधौ समर्थो न भवत्ययं जीवस्तदा यथा कोऽपि सुवर्णार्थी पुरुषः सुवर्णमिलभमानस्तत्पर्यायानपि कुण्डलादीन् गृह्णाति, न च सर्वथा त्यागं करोति, तथायं जीवोऽपि निश्चय मूलगुणभिधानपरमसमाध्यभावे छेदोपस्थानं चारित्रं गृह्णति। छेदे सत्युपस्थानं छेदोपस्थापनम्। अथवा छेदेन व्रतभेदेनोपस्थापनं छेदोपस्थापनं। तच्च संक्षेपेण पंचमहाव्रतरूपं भवति। तेषां व्रतानां च रक्षणार्थं पंचसमित्यादिभेदेन पुनरष्टाविंशति

मूलगुणभेदा भवन्ति।[5]

अर्थात् वस्तुतः आत्मा के केवलज्ञानादि अनन्तगुण मूलगुण हैं, और वे मूलगुण निर्विकल्प समाधि रूप परम सामायिक नाम निश्चय एक व्रत रूप मोक्ष के कारण होने से मोक्ष के होने पर सभी प्रगट होते हैं। अतः वह सामायिक मूलगुण केवलज्ञानादि गुणों की प्रगटता में कारण होने से सामायिक को ही निश्चय से श्रमण का एक ही मूलगुण कहा गया है। परन्तु जब वह श्रमण निर्विकल्प समाधिस्थ की सामर्थ्य नहीं रख पाता है तब उसकी वहिरंग प्रवृत्ति भी इस प्रकार की होती है, कि जिससे उसे अन्तरंग मूलगुण रूप सामायिक की ओर प्रेरित रख सके। अतः उसकी वहिरंग सर्वांगीण प्रवृत्ति 28 प्रकार से मूलगुण के प्रति सन्मुख होती है। क्योंकि 28 मूलगुणों के द्वारा आत्मा का शुद्ध स्वरूप साध्य है।[6] 28 मूलगुण उसके यथार्थ स्वरूप के नियामक नहीं, परन्तु सामायिक च्युत श्रमण की वहिरंग प्रवृत्ति 28 मूलगुणों से हीनाधिक नहीं होती है। अतः 28 मूलगुण यह श्रमण का यथार्थ स्वरूप नहीं, अपितु सामायिक च्युत श्रमण की ये 28 ही गतिविधियां होती हैं-यह त्रिकाल नियम है।

उदाहरणार्थ -टीकाकार ने कहा कि जैसे सुवर्णार्थी साक्षात सोने को प्राप्त न कर सकने के कारण वह विभिन्न गहनों के रूप में सोने को प्राप्त करना चाहता है। यद्यपि यह कोई नियम नहीं कि आभूषण का अभिलाषी सोने का इच्छुक होवे ही होवे, परन्तु सुवर्णार्थी को तो कोई न कोई रूप तो सोने का लेना ही पड़ेगा, अर्थात् आभूषण पर्याय की सुवर्ण के साथ व्याप्ति नहीं, वह तो चाँदी का भी आभूषण ले सकता है। परन्तु सुवर्ण की आभूषणादि पर्यायों के साथ व्याप्ति है कि उसे कोई न कोई पर्याय ग्रहण करनी ही होगी। उसी प्रकार अन्तरंग सामायिक के इच्छुक को निरन्तर सामायिक में न ठहर सकने के कारण उत्कृष्ट निष्कलंक वहिरंग प्रवृत्ति रूप 28 मूलगुणात्मक स्वरूप को स्वीकारना ही होगा, परन्तु वहिरंग प्रवृत्ति की अन्तरंग प्रवृत्ति के साथ नियामकता नहीं है।

मूलगुण-

इस प्रकार निश्चय मूलगुण एवं व्यवहार मूलगुण की चर्चा उपर्युक्त टीका में की है। व्यवहार से 28 मूलगुणों को निम्न प्रकार से आ. कुन्दकुन्द ने कहा है कि-

(1) **पाँच महाव्रत** - (1) अहिंसा महाव्रत, (2) सत्य महाव्रत, (3) अचौर्य महाव्रत, (4) परिग्रह त्याग महाव्रत, (5) ब्रह्मचर्य महाव्रत

(2) **पाँच समिति** - (6) ईर्यासमिति (7) भाषासमिति (8) एषणासमिति (9) आदान-निक्षेपणसमिति (10) प्रतिष्ठापना समिति

(3) **पाँच इन्द्रिय निरोध** - (11) स्पर्शन इन्द्रिय निरोध (12) रसनेन्द्रिय निरोध (13) घ्राणेन्द्रिय निरोध (14) चक्षु इन्द्रिय निरोध (15) कर्णेन्द्रिय निरोध।

(4) **षडावश्यक** - (16) समता (17) स्तुति, (18) वंदना (19) प्रतिक्रमण (20) प्रत्याख्यान (21) व्युत्सर्ग तथा शेष गुण- (22) केशलोंच (23) आचेलक्य (24) अस्नानव्रत

(25) भूमिशयन (26) अदंतधावन (27) खडे-खडे भोजन (28) एक भुक्ताहार।[7]

मूलगुणों की संख्या के विचार में, श्वेताम्बर सम्प्रदायँ ने 27 मूलगुण माने हैं, जो दिगम्बर सम्प्रदाय से अत्यन्त भेद रखते हैं। यद्यपि पंचमहाव्रत व इन्द्रयजय में समानता भी है। वे निम्न हैं।

(1) प्राणातिपात विरमण (2) मृषावाद विरमण (3) अदत्तादान विरमण (4) मैथुन विरमण (5) परिग्रह विरमण;(6) श्रोत्र (7) चक्षु (8) घ्राण (9) रसना (10) स्पर्श - इन पाँच इन्द्रियों का दमन;(11) क्रोध त्याग (12) मान त्याग (13) माया त्याग (14) लोभ त्याग (15) भाव सत्य (16) करण सत्य (17) योग सत्य (18) क्षमा (19) विरागता (20) मन-समाधारणता (21) वचन समाधारणता (22) कायसमाधारणता (23) ज्ञान सम्पन्नता (24) दर्शन-सम्पन्नता (25) चारित्र सम्पन्नता (26) वेदना - अधिसहन (27) मरणान्तिक अधिसहन[8]

यहाँ दिगम्बर परम्परा के केशलोंच, अस्नान, अदन्तधावन, नग्नता, स्थितभोजन और एकभक्त, आदि का उल्लेख नहीं है, तथापि इस परम्परा के आगम में नग्नता के उल्लेख पाये जाते हैं, जिसका वर्णन आगे किया जायेगा।

जैन श्रमण की शुद्रता का मापदण्ड उसकी चारित्रिक शुद्रता से है न कि क्षायोपशमिक ज्ञान के विकास से; इसी कारण श्रमण के 28 मूलगुण भी उसके चारित्रिक गुणों पर ही आधारित हैं। श्रमण के इन व्यवहार मूलगुणों का स्वरूप बतलाते हुए मूलाचार में कहा है कि-

"मूलगुणेसु"-मूलानि च तानि गुणाश्च ते मूलगुणाः। मूल शब्दोऽनेकार्थे यद्यपि वर्तते तथापि प्रधनार्थ वर्तमानः परिगृह्यते। तथा गुणा शब्दोऽप्यनेकार्थे यद्यपि वर्तते तथाप्याचरणाविशेष वर्तमानः परिगृह्ते। मूलगुणाः प्रधानानुष्ठानानि उत्तरगूणाधार भूतानि तेषु मूलगुणेषु विषयभूतेषु कारणभूतेषु वा सत्सु ये।[9] **अर्थात् मूलभूत जो गुण हैं वे मूलगुण** कहलाते हैं। यद्यपि "मूल" शब्द अनेक अर्थ में रहता है, फिर भी यहाँ पर प्रधान अर्थ में लिया गया है। उसी प्रकार "गुण" शब्द भी यद्यपि अनेक अर्थ में विद्यमान है तथापि यहाँ पर आचरण विशेष में वर्तमान अर्थ ग्रहण किया गया है। अतः उत्तरगुणों के लिए आधारभूत प्रधान अनुष्ठान को मूलगुण कहते हैं। ये गुण 28 मूलगुण और 34 उत्तरगुण[10] जीव के शुभभावात्मक परिणाम हैं। इन 34 उत्तरगुणों के आधार 28 मूलगुण ही हैं। अतः 28 मूलगुणों के निर्दोष पालने पर ही 34 उत्तरगुण पल सकते हैं। परन्तु मूलगुणों को छोड़कर केवल शेष उत्तरगुणों के परिपालन में ही प्रयत्न करने वाले तथा निरन्तर पूजा

आदि की इच्छा रखने वाले साधु का यह प्रयत्न मूलघातक होगा। कारण कि, उत्तरगुणों में दृढता इन मूलगुणों के निमित्त से ही प्राप्त होती है। अतः यह उसका प्रयत्न इस प्रकार का है जिस प्रकार कि युद्ध में कोई मूर्ख सुभट अपने शिर का छेदन को उद्यत शत्रु के अनुपम प्रहार की परवाह न करके केवल अंगुलि के अग्रभाव को खण्डित करने वाले प्रहार से ही अपनी रक्षा का प्रयत्न करता है।[11]

प्रवचनसार गा. 208-209 की टीका में जयसेनाचार्य ने 28 मूलगुणों को संक्षिप्त करके कहा कि "पंचमहाव्रत" ही संक्षिप्त से मूलगुण हैं; परन्तु पंच महाव्रत की रक्षा करने के लिए अर्थात् निरतिचार पालन के लिए पाँच समिति आदि के भेद से 28 मूलगुण होते हैं।[12] इन मूलगुणों की रक्षा के लिए 22 परीषह एवं 12 प्रकार का अन्तरंग-वहिरंग तप इस प्रकार उत्तरगुणों को पालनार्थ बतलाया है, और इन 34 उत्तरगुणों की रक्षा के लिए देव, मनुष्य, तिर्यंच एवं अचेतन कृत 4 प्रकार के उपसर्गों को जीतना एवं बारह प्रकार की अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करने को कहा गया है [13] इतने गुणों की पालना होने पर ही 28 मूलगुण एवं संक्षिप्त रूप से पंचमहाव्रत रूप गुणों का निरतिचार पालन श्रमण के संभव है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि वस्तुतः पाँच महाव्रत में ही शेष सभी गुण समाहित हैं, क्योंकि श्रमण के मुख्यव्रतों को महाव्रत कहा गया है। यहाँ पर "महान्" शब्द का "प्रधान" अर्थ है और व्रत शब्द, सावद्यनिवृत्ति रूप मोक्ष प्राप्ति के लिए निमित्तभूत आचरण में आता है, अर्थात् मोक्ष के लिए जो हिंसादि पापों का त्याग किया जाता है, इस कारण भी इन्हें महाव्रत कहते हैं। महाव्रत शब्द की उत्पत्ति में यह तथ्य भी है कि, इन व्रतों में स्थूल और सूक्ष्म भेदरूप सभी प्रकार की हिंसा, असत्य, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का पूर्ण त्याग होता है। इस कारण भी इन्हें महाव्रत कहते हैं। योगदर्शन में भी इन महाव्रतों को स्वीकारते हुए कहा कि ये महाव्रत जाति, देश, काल और समय के बन्धन से रहित सार्वभौम सार्वविषयक होते हैं।[14] स्वतः ही मोक्ष को प्राप्त कराने वाले होने से ये महान् व्रत महाव्रत कहलाते हैं। ये महाव्रत प्राणियों की हिंसा की निवृत्ति में कारणभूत हैं।[15]

श्रमण के उपर्युक्त संक्षिप्ततः पंचमहाव्रत एवं विस्तार से 28 मूलगुणों पर जैनधर्म के परिप्रेक्ष्य में ही विस्तृत विचार किया जा रहा है।

पंच महाव्रत

(1) अहिंसा महाव्रत-

पंच महाव्रतों में प्रथम महाव्रत अहिंसा महाव्रत है। द्रव्य और भाव के भेद से होने वाली दो प्रकार की हिंसा में प्रमादमूल है, क्योंकि प्रमाद मूलक हिंसा को ही जैनधर्म में मुख्यतः हिंसा स्वीकृत किया है।[16] प्रमाद का स्वरूप आ. पूज्यपाद ने बतलाते हुए कहा कि -

"कुशलेष्वानादरः प्रमादः[17] अर्थात् कुशल कार्यों में अनादर का भाव प्रमाद है। कुशल अर्थात् "कौ पृथिव्याम् शलः व्रह्मः प्रभु यस्मिन् सः कुशलः" अर्थात् जो अपने व्रह्मस्वरूप आत्मा की प्रभुता में व्याप्त है वह कुशल है और यदि स्पष्ट कहें तो जो परम सामायिक अवस्था में है वही कुशल है; तथा इन कुशल कार्यों के प्रति अनादर रूप प्रवृत्ति में स्थित दशा को प्रमाद दशा कहते हैं। चूंकि इस अवस्था में स्वरूपस्थ अवस्था का घात है। अतः प्रमाद होने से हिंसा कही गयी है। निश्चय नय से तो श्रमण की सामायिक अवस्था ही अहिंसा महाव्रत है; परन्तु इस दशा में स्थित न होने पर इस दशा की ओर सन्मुखता लिये हुए भावयुक्त परजीवों की रक्षा रूप भाव को व्यवहार से अहिंसामहाव्रत कहा है। जो कि व्यवहार से कहे गये मूलगुण का उद्देश्य है, चूंकि यह व्रत शेष गुणों का आधारभूत है, अतः इसका उल्लेख प्रथम किया गया है।

इस अहिंसा महाव्रत में, काय, इन्द्रिय, गुणस्थान, मार्गणा, कुल, आयु और योनि इनमें सभी जीवों को जानकर के कायोत्सर्ग आदि में हिंसा आदि का त्याग करना अहिंसा महाव्रत है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस ये काय हैं, क्योंकि पृथ्वीकायिक जलकायिक, आदि जीव इन कायों में रहते हैं। अतः जब महाव्रती श्रमण पृथ्वी काय से जल काय में सम्पर्क करेगा तो उसके पूर्व वह अपनी पिच्छि से शरीर का परिमार्जन करेगा, छाया से धूप में आने के सम्पर्क से पूर्व वह अपने शरीर का परिमार्जन अवश्य करता है, क्योंकि छाया के समय जो जीवाणु शरीर से सम्पर्क रखे हुए है, धूप के समय वे अवश्य मरण करेंगे। अतः उन जीवों के प्रति भी दया भाव एवं विवेक के वश होकर धूप में प्रवेश के पूर्व सम्पूर्ण शरीर को पिच्छि से परिमार्जित करते हैं। इसी प्रकार से धूप से छाया में जाने पर विधान है। उसकी ऐसी वृत्ति के अभाव में इस व्रत में दोष अवश्यम्भावी है।

स्पर्शन, रसना घ्राण, चक्षु और क्षोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ है। एक स्पर्शनिन्द्रिय जिनके है, वे जीव एकेन्द्रिय कहलाते है। स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ जिनके हैं वे द्विन्द्रिय कहलाते हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण ये तीन जिनके हों वे त्रिन्द्रिय हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ जिनके हैं वे चतुरिन्द्रिय है, तथा स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पंच इन्द्रियों से युक्त को पंचेन्द्रिय जीव कहते हैं।

गुण शब्द से गुणस्थान का ग्रहण होता है। ये गुणस्थान चौदह हैं। जिनके द्वारा जीव खोजे जाते हैं उन्हें मार्गणा कहते हैं उनके चौदह भेद हैं। जाति के भेद को कुल कहते हैं। बड, पलाश, शंख, सीप, खटमल, पतंग मनुष्य इत्यादि जातियों के भेद हैं। सीमन्त, पटल आदि की अपेक्षा नारकियों में भेद हैं। भवनवासी आदि से देवों में भेद हैं। ये भेद ही जाति, कुल, नाम से कहे जाते हैं। शरीर के धारण को आयु कहते हैं। यह आयु देव, मनुष्य तिर्यंच

और पशु गति में स्थिति रहने के लिए कारण है। जीव की उत्पत्ति के स्थान को योनि कहते हैं। इसके सचित्त, अचित्त, मिश्र, शीत, उष्ण, मिश्र और संवृत, विवृत और मिश्र ऐसे नव भेद हैं। इन काय इन्द्रिय, गुणस्थान, मार्गणा, कुल, आयु, और योनियों में सभी जीवों को जानकर अथवा इनको और सभी जीवों के स्वरूप को जानकर हिंसा से विरत होता है।[18]

जो उपर्युक्त काय आदि के आश्रित रहने वाले जीवों के भेद-प्रभेदों को जानकर पुनः गमन-आगमन, भोजन, शरीर का हिलाना-डुलाना, संकोचना, हाथ-पैर आदि फैलाना इत्यादि प्रसंगों में जीवों के वध से उनको पीडा देने या कुचल देने आदि से जो घात होता है वह हिंसा है। उसका त्याग ही अहिंसा महाव्रत है; अथवा कायोत्सर्ग आदि क्रियाओं के प्रसंग में सावधानी रखते हुए जीवों के वध का परिहार करना अहिंसा व्रत महाव्रत है।[19] इस महाव्रत में हिंसा का मन-वचन काय से पूर्णतया त्याग कर देना होता है। तथा इसमें सम्पूर्ण आरम्भ और परिग्रह का त्याग हो जाता है।

वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदान-निक्षेपण समिति और आलोकितपान भोजन इन पाँच भावनाओं से बनाया गया अहिंसाव्रत स्थिर होकर उत्कृष्ट माहात्म्य को प्राप्त कराता है।[20] इन भावनाओं से अहिंसा की पुष्टि होती है, क्योंकि वचन का निरोध करने से कठोर आदि से होने वाली हिंसा नहीं होती। मन का निरोध होने से दुर्विचार से होने वाली हिंसा नहीं होती। ईर्या समिति पूर्वक चलने से मार्ग में चलने से होने वाली हिंसा नहीं होती। देखकर उपकरणों को ग्रहण करने और देखकर रखने से उठाने-रखने में होने वाली हिंसा नहीं होती। देखकर दिन में खानपान करने से भोजन सम्बन्धी हिंसा का बचाव होता है। श्रमण को इतनी क्रियाएँ तो करनी ही होती है। तभी अहिंसा का पालन पूर्णतः सम्भव है।

2. सत्य महाव्रत :

राग-द्वेष-मोह के कारणभूत असत्य वचन तथा परपीडा कारक सत्य वचन को गौण कर शास्त्रानुसार उत्तम वचन बोलना सत्य महाव्रत है। सत्य महाव्रतधारी मुनि गर्हित, सावद्य और अप्रिय वचनों से भी दूर रहता है। वह कभी भी कर्कश, निष्ठुर आदि भाषा का प्रयोग नहीं करता जिससे किसी को दुःख हो।[21] अनेकान्तात्मक रूप वस्तु का निर्णय करके स्याद्वाद और नयवाद का प्रयोग इसी व्रत के अन्तर्गत आता है।

तत्वार्थ सूत्र में इस महाव्रत के पालने में सहयोगी पंचभावनाओं को बतलाया है। "क्रोध लोभ भीरूत्व-हास्य प्रत्याख्यानान्यनुवीची भाषणं च पंच"[22] अर्थात् क्रोध का त्याग करना, लोभ का त्याग करना, भय का त्याग करना और शास्त्र की आज्ञानुसार निर्दोष वचन बोलना ये पाँच सत्यव्रत की भावनाएं हैं।

जगत में लोग क्रोध से, या लोभ में या भयभीत होकर या हँसी-मजाक में झूँठ बोलते हैं। किसी भी व्यक्ति के द्वारा बुद्धिपूर्वक झूठ बोलने के ये 4 कारण होते हैं, और यदि चारों बातें न भी हों तो उस विषय की अज्ञानता के कारण व्यक्ति झूँठ बोलता है। अतः इन पंच कारणों के त्याग करने को कहा गया है। इसीलिए श्रमण को शास्त्राभ्यास में अनुरक्त होने को कहा गया हैः ताकि उसकी अज्ञानता का नाश हो। शास्त्रों में भिन्न-भिन्न स्थानों पर प्रयोजन साधने के लिए अनेक प्रकार का उपदेश दिया है, उसे यदि सम्यग्ज्ञान के द्वारा यथार्थ प्रयोजनपूर्वक पहिचाने तो जीव के हित-अहित का निर्णय हो। अतः "स्यात्" पद की सापेक्षता सहित जो तत्व का निर्णय करता है, आगम के विपरीत अर्थ नहीं करता है वही सच्चा श्रमण है।

श्वेताम्बरीय आगम आचारांग सूत्र में भी इसी प्रकार की पंच भावनाएं हैं- (1) वक्तव्यानुरूप चिन्तन पूर्वक वचन बोले (2) क्रोध का परित्याग करे, (3) लोभ का परित्याग करे, (4) भय का परित्याग करे (5) हास्य का परित्याग करे।[23] चूर्णिकार ने प्राचीन परम्परा का कुछ भिन्न एवं भिन्न क्रम का, किन्तु इसी आशय का पाठ प्रस्तुत किया है। तदनुसार संक्षेप में पंच भावनाएं निम्नतः है। (1) हास्य का परित्याग (2) अनुरूप चिन्तन पूर्वक भाषण (3) क्रोध का परित्याग (4) लोभ का परित्याग (5) भय का परित्याग।[24]

3. अचौर्य महाव्रत :

ग्राम, नगर, मार्ग आदि में किसी की गिरी हुयी, भूली हुयी, रखी हुयी वस्तु को स्वयं नहीं लेना,[25] दूसरों के द्वारा संग्रहीत शिष्य[26] पुस्तक, आदि को भी न लेना तथा दूसरों के द्वारा बिना दी गयी ऐसी योग्य वस्तु को भी न लेना, चाहे वह योग्य वस्तु शिष्य के रूप में ही क्यों न हो। क्योंकि श्रमणों में प्रमुख आचार्य का यह कर्तव्य है कि यदि कोई श्रमण किसी संघ से आता है, और वह आचार्य उस नवागत श्रमण को उसके आचार्य की आज्ञा के बिना संघ में प्रवेश दे देता है तो आचार्य को शिष्यादान के रूप में चोरी जैसा महान् पाप लगता है। इस विषय में मूलाचार की आचारवृति की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं "तथा पर के द्रव्यों को (क्षेत्र वास्तु-उपकरण, छात्र) बिना दिये हुए नहीं लेवें; पर से बिना पूछे हुए किसी वस्तु को ग्रहण का त्याग करना अदत्त परिवर्जन व्रत है। और यह भी है कि अपने आत्मद्रव्य को छोडकर "परद्रव्य को अपने नहीं करने रूप जो अभिप्राय है वह अचौर्य नाम का तृतीय व्रत है।[27]

धर्मसंग्रह (श्वे.) की टीका में अदत्त के चार भेद किये हैं-स्वामी के द्वारा अदत्त, जीव के द्वारा अदत्त, तीर्थंकर के द्वारा अदत्त और गुरू के द्वारा अदत्त। जो स्वामी के द्वारा नहीं दिया गया वह पहला अदत्त है जैसे-तृण, काष्ठ, वगैरह। जो स्वामी के द्वारा दिया गया भी हो परन्तु जीव के द्वारा न दिया गया हो वह दूसरा अदत्त है जैसे-पुत्र की इच्छा

के बिना माता-पिता के द्वारा अपना पुत्र, गुरू को अर्पित करना। तीर्थंकर के द्वारा निषिद्ध वस्तु को ग्रहण करना तीसरा अदत्त है। और स्वामी के द्वारा दिये जाने पर भी गुरू की अनुज्ञा के बिना लेना चतुर्थ अदत्त है। चारों ही प्रकार का अदत्त साधु के लिए त्याज्य है।[28]

इस व्रत की स्थिरता के लिए ग्रन्थों में पाँच प्रकार की भावनाओं के माध्यम से स्थिरता का विधान है[29]

"अचौर्यव्रती साधु को निर्जन गुफा वगैरह में अथवा दूसरों के द्वारा छोडे गये स्थान में बसना चाहिए। भिक्षाओं के समूह को अथवा भिक्षा में प्राप्त द्रव्य को भैक्ष कहते हैं उसकी शुद्धि के लिए सावधान रहना चाहिए अर्थात् पिण्ड शुद्धि नामक अधिकार में कहे गये दोषों से बचना चाहिए। साधर्मी जनों के साथ "यह मेरा है, यह तेरा है" इस तरह का विवाद नहीं करना चाहिए। तथा अन्य श्रावक वगैरह को अभ्यर्थना से रोकना नहीं चाहिए।[30] इन्हीं भावनाओं को प्रकारांतर से भी कहा गया है।

"योग्य को ग्रहण करने वाला, स्वामी के द्वारा अनुज्ञात को ग्रहण करने वाला, गृहीत में भी असक्ति को छोड़ने वाला तथा दिये हुए में से भी प्रयोजन मात्र को ग्रहण करने वाला साधु, पर- वस्तु में सर्वथा निरीह होता है। तथा भोजनपान में और शरीर में गृद्धता को त्यागने वाला परिग्रह से दूर रहने वाला और शरीर तथा आत्मा के भेद को जानने वाला साधु पर-वस्तु में निरीह होता है।"[31]

"ग्रन्थकार पं. आशाधर ने पहले अचौर्यव्रत की भावना तत्वार्थ सूत्र के अनुसार कही थी। अन्य ग्रन्थों में अन्य प्रकार से पाँच भावनाएं बतलायी है। आचार शास्त्र के प्रतिपादित मार्ग के अनुसार योग्य ज्ञानादि के उपकरणों की याचना करना पहली भावना है। और उसके स्वामी की अनुज्ञा से ग्रहण करना दूसरी भावना है। गोचरी के समय गृहस्वामी के द्वारा अनुज्ञा न मिलने पर उसके घर में प्रवेश न करना तीसरी भावना है। स्वामी की अनुज्ञा से गृहीत योग्य वस्तु में भी आसक्ति न होना चतुर्थ भावना है। स्वामी के द्वारा दिये जाने पर भी प्रयोजनमात्र ग्रहण करना पाँचवी भावना है।[32]

प्रश्नव्याकरण सूत्र (श्वे.) के अनुसार पाँच भावनाएँ इसी प्रकार की हैं - (1) विविक्तवास (2) अनुज्ञात संस्तार ग्रहण (3) शय्या परिकर्मवर्जन (4) अनुज्ञात भक्तादि भोजन (5) साधर्मिको में विनय अर्थात् सभी वस्तुएं उसके स्वामियों की और गुरू आदि की अनुज्ञापूर्वक ही ग्राह्य है।

इस प्रकार दिगम्बर-श्वेताम्बर के विभिन्न ग्रन्थों का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि इस अदत्तादान महाव्रत के स्वरूप एवं उसकी भावनाओं में कुछ साम्प्रदायिक तथ्यों को छोड़कर अधिकांशतः समानता ही है।

इस तरह इस व्रत के निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि चूंकि चोर के न दया होती है और न लज्जा न उसकी इन्द्रियाँ वशीभूत होती है और न विश्वसनीयता। अतः अचौर्य महाव्रती श्रमण को इन सभी दुर्गुणों से विमुक्त कहकर[33] निश्चयरूप से परमपद की प्राप्ति बतलाते हुए आशाधर जी कहते हैं कि - "यह समस्त जगत शुद्ध चिन्मात्र अर्थात् समस्त विकल्पों से अतीत अविचल चैतन्य के साक्षात्कार में उपयोग लगाने से विमुख हो रहा है। इस अपकार के अहंकार से गर्वित होकर लोभ अपनी भुजाएं ठोंक कर अट्ठहास करता है। ऐसे तीनों लोकों को जीतने वाले उस लोभ को भी जीतकर जो पराये धन को विष्टा के तुल्य और महापाप रूपी विष का स्रोत मानते हैं, और अपनी महत्ता से आकाश के मद को छिन्न-भिन्न करके लक्ष्मी को अपनी दासी बना लेते हैं। वे सन्तोष रूपी रसायन के व्यसनी साधु सदा जीवित रहें अर्थात् दया, इन्द्रिय संयम और त्यागरूप भाव प्राणों को धारण करें।[34]

4. ब्रह्मचर्य महाव्रत :

ज्ञानदर्शन रूप से जो वृद्धि को प्राप्त हो वह ब्रह्म कहलाता है। यहाँ जीव को ब्रह्म कहा गया है। अपने और पर के देह से आसक्ति छोडकर शुद्ध ज्ञान- दर्शनादिक स्वभाव रूप आत्मा में जो प्रवृत्ति करता है वह ब्रह्मचर्यव्रती है। वह दश प्रकार के अब्रह्म का त्याग करता है - स्त्री विषयाभिलाषा, वीर्य विमोचन, संसक्त द्रव्य सेवन, इन्द्रियावलोकन, स्त्री सत्कार, स्व शरीर संस्कार, अतीत भोगों का स्मरण, अनागत भोगों की कामना और इष्ट विषय सेवन।[35] ब्रह्मचर्य महाव्रती श्रमण इन दस प्रकार के अब्रह्म का त्याग करते हुए "तीन प्रकार की स्त्रियों को और उनके चित्र को माता- पिता, पुत्री और बहिन के समान देखकर जो स्त्रीकथा आदि से निवृत्ति है वह तीन लोक में पूज्य ब्रह्मचर्य व्रत कहलाता है।[36] आचार्य वसुनन्दि ने कहा कि-"वृद्धा, बाला, युवती के भेद से तीन प्रकार की स्त्रियों को माता, पुत्री और बहिन के समान सम्यक् प्रकार से समझकर तथा चित्र लेप आदि भेदों में बने स्त्रियों के प्रतिबिम्ब को एवं देव मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी स्त्रियों के रूप देखकर उनसे विरक्त होना, स्त्रियों के कोमल वचन, उनका मृदुस्पर्श, उनके रूप का अवलोकन, उनके नृत्य गीत, हास्य कटाक्ष, निरीक्षण आदि में अनुराग का त्याग करना, स्त्री कथादि निवृत्ति का अर्थ है।[37]

स्त्री पर्याय तीनों गतियों में पायी जाती है। अतः स्त्री के मूल रूप से 3 भेद किये गये हैं। देवों में यद्यपि बाल, वृद्ध और युवती का भेद नहीं होता, तथापि विक्रिया से यह भेद सम्भव हो सकता है। इन तीनों प्रकार की स्त्रियों के बाल, वृद्ध और यौवन की अपेक्षा तीन

अवस्थाएं होती है। इस प्रकार से 9 भेद हुए। नौ प्रकार के भेदों में मन-वचन-काय से गुणा करने पर 27 भेद एवं 27 को कृत, कारित, अनुमोदना से गुणा करने पर 81 भेद होते हैं। फिर 81 को चेतन और अचेतन दो भेदों से गुणा कर दिया जाए तो 162 भेद प्राप्त होते हैं। अचेतन का विकल्प काष्ठ, पाषाण आदि की प्रतिमाओं एवं चित्रों से संभव है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत नव प्रकार का, इक्यासी एवं 162 प्रकार का होता है।

उपर्युक्त ब्रह्मचर्य महाव्रत को निरतिचार पालने के लिए, पाँच प्रकार की भावनाओं पूर्वक स्त्रियों आदि में राग को पैदा करने वाली कथाओं के सुनने का त्याग, उनके मनोहर अंगों को देखने का त्याग, पूर्व भोगों के स्मरण का त्याग, गरिष्ठ और इष्ट रस का त्याग, तथा अपने शरीर के संस्कार का त्याग-इन पाँच भावनाओं से ब्रह्मचर्य का पालन किया जा सकता है।[38]

भगवती आराधना की विजयोदया टीका में ब्रह्मचर्य के त्याग की चर्चा करते हुए कहा कि, अब्रह्म के त्याग में तत्पर साधु, कस्तूरी आदि गंध, चार प्रकार की माला, कालागुरू आदि धूप, मुख को सुवासित करने वाले जाति फल आदि अथवा अनेक सुगन्धित द्रव्यों का मिश्रण हाथों से शरीर की मालिश, पैरों से शरीर को दबवाना आदि कार्य ब्रह्मचर्य के घातक एवं हिंसा परक होने से छोड़ देता है।[39]

श्रमण और महिला वर्ग व्यवहार :

जैनधर्म के श्रमणाचार प्ररूपक साहित्य में श्रमण को आर्यिका से भी फिर चाहे वह कितनी ही तपस्वी ही क्यों न हो, उससे भी दूर रहने का विधान मिलता है। जैनाचार्य यह भली-भांति जानते थे कि स्पर्शन इन्द्रिय के विषय से विरक्ति अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इसी कारण उन्होंने इस प्रकरण को निर्दोष व लोकापवाद रहित बनाने के लिए आर्यिका जनों से भी दूर रहने का विधान किया है। श्रमण (आचार्य) और आर्यिका का भी वचन व्यवहार अत्यावश्यक धार्मिक कार्यों तक ही सीमित है। सामान्य श्रमण (आचार्य, उपाध्याय रहित) तो आर्यिका से भी किसी भी तरह का वार्तालाप नहीं कर सकता, सामान्य महिलाजनों के साथ वार्तालाप के प्रश्न का अवकाश ही कहाँ शेष रहता है। आचार्य/उपाध्याय श्रमण के यहाँ कुछ आर्यिकाएं एक साथ मिलकर उनके पास अध्ययन आदि अथवा शंका-समाधान हेतु जा सकती हैं, परन्तु अकेले नहीं। यहाँ भी नवदीक्षित आर्यिका संभाषण नहीं करे, अपितु दीक्षा ज्येष्ठ आर्यिका, आमने-सामने नहीं बैठते हुए, थोड़ा तिरछे बैठकर अधोनत मुद्रा में अति विनीत भाव में मंद स्वर से अपनी जिज्ञासा प्रगट करे।

आचार्य वट्टकेर कहते हैं कि "तरुण श्रमण किसी भी तरूणी आर्यिका या अन्य किसी स्त्री से कथा वार्तालाप न करे। यदि इसका उल्लंघन करेगा तो आज्ञा कोप, अनवस्था (मूल का नाश) मिथ्यात्वाराधना, आत्मनाश, और संयमविराधना, इन पापों के

कारणभूत दोषों से दूषित हो जाएगा।[40] अध्ययन या शंका समाधान आदि धार्मिक कार्य के लिए आर्यिकाएं या स्त्रियाँ, यदि श्रमण संघ के पास आये तो उस समय श्रमण को वहाँ अकेले नहीं ठहरना चाहिए और बिना प्रयोजन वार्तालाप नहीं करे, कदाचित् धर्मकार्य के प्रसंग में बोलना भी ठीक है ।[41]

श्रमणों के लिए आर्यिकाओं की वसतिका में भी ठहरने का निषेध पद-पद पर मिलता है। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि श्रमण को क्षणमात्र की क्रियाएं भी वहाँ नहीं करनी चाहिए, अर्थात् वहाँ बैठना, लेटना, स्वाध्याय, आहार, भिक्षाग्रहण, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, एवं मलोत्सर्ग आदि क्रियाएं भी न करें[42]।

इस उद्धरण से "महिलाओं के हाथ से आहार-ग्रहण का निषेध" भी विचारणीय हो जाता है। हो सकता है कि इस पर विचार इस तरह से किया जा सकता है कि पुरूष की मौजूदगी में, ही आहार ग्रहण करे, यद्यपि कुछ पौराणिक घटनाएं इसके अपवाद स्वरूप भी मिलती हैं। परन्तु यह सम्भवतः राजमार्ग न हो, क्योंकि "वृद्ध, तपस्वी बहुश्रुत और जनमान्य श्रमण भी आर्याजन से संपर्क रखता है, तो वह लोकापवाद का भागी बन जाता है, फिर तो जो श्रमण युवा है, बहुश्रुतज्ञ भी नहीं है, और उत्कृष्ट तपस्वी तथा चारित्रवान भी नहीं है, वे आर्याजन के संपर्क से लोकापवाद के भागी क्यों नहीं होंगे।[43]

जिस श्रमणाचार में आर्यिका जैसी तपस्विनी जनों से भी संपर्क का निषेध किया गया हो, वहाँ बाला कन्या, तरूणी, वृद्धा, सुरूप, कुरूप सभी प्रकार के स्त्री वर्ग से संपर्क का प्रश्न ही पैदा नहीं होता है। श्रमणाचार में आचार्य को अपने ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए आर्यिका से पाँच हाथ, उपाध्याय छह हाथ तथा साधु सात हाथ दूर रहता है। चूंकि संयम रूपी रत्न की सुरक्षा तो साधु को भी करनी है, अतः उसे दूर रहने का विधान है। ऐसी स्थिति में जबकि आर्यिका से भी दूर रहने का निर्देश हो, तो सामान्य महिला वर्ग से निकटता होना असम्भव सा है, वहाँ तो कई हाथों दूर रहना ही विवेक संगत लगता है, एक मात्र आहारचर्या की स्थिति को छोड़कर और तब **महिला जनों से चरण स्पर्श कराने जैसी बात बनती ही नहीं है**। जिसके जीवन में लौकिक सदाचार का भी सद्भाव न हो, उससे ऐसे व्यवहार की कल्पना सहज की जा सकती है । यदि काई महिला सात हाथ से नजदीक आकर चरण स्पर्श का प्रयत्न करती है, तो वे साधु ब्रह्मचर्य महाव्रत पर उपसर्ग मानेंगे । अन्यथा मुनिव्रत से भ्रष्ट हैं ही । क्योंकि ऐसी वृत्ति स्त्री स्पर्श सुख की कोटि में आती है, और चूंकि स्त्री का रुप निरपेक्ष होता है,[44] अर्थात माता-बहिन, लूली, लंगड़ी आदि से किसी रुप में ही सही, अन्ततः वह स्त्री ही है, और कामान्ध उसमें कोई भेद नहीं करता है अतः अकामी उनसे दूर ही रहता है ।

इस तरह साधु, मात्र आर्यिकाओं से ही दूर नहीं रहता, अपितु जिन-जिन प्रकरणों से वह परतन्त्र हो सकता है, उन सब से दूर रहने का उद्यम करता है। क्योंकि बाह्यवस्तु के

निमित्त से होने वाला असंयम उस वस्तु के त्याग से ही सम्भव है।[45]

उत्तराध्ययन में भी समाधि के बाधक ऐसे ही तत्वों को छोडने के लिए कहा गया है।[46]

5. परिग्रह त्याग महाव्रत :

परिग्रह त्याग महाव्रत का दूसरा नाम आकिंचन्य व्रत भी है, इसका अर्थ होता है निर्ममत्व। अतः ममत्व का या मूर्च्छा का त्याग आकिंचन्यव्रत है। वस्तुतः मूर्च्छा का नाम ही परिग्रह है।[47] यही तथ्य पुरूषार्थसिद्धयुपाय में भी देखने को मिलता है। वहाँ कहा है-

या मूर्च्छानामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहोऽयमिति ।
मोहोदयादुदीर्णा मूर्च्छा तु ममत्व परिणामः ।।[48]

अर्थात् "जो यह मूर्च्छा है उसे ही परिग्रह जानना चाहिए। मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले ममत्व परिणाम को मूर्च्छा कहते हैं। चारित्र मोहनीय के भेद लोभ के उदय में ही परिग्रह संज्ञा होती है। इसी बात को गोम्मटसार ग्रन्थ में भी कहा है कि "उपकरण के देखने से, उसके चिन्तन से, मूर्च्छा भाव होने से और लोभ कर्म की उदीरणा होने पर परिग्रह की संज्ञा होती है।[49] पूज्यपाद ने "मूर्च्छा परिग्रहः" की टीका में, बाह्य गाय, भैंस मणि-मुक्ता आदि चेतन-अचेतन वस्तुओं के और राग आदि उपाधियों के संरक्षण, अर्जन के संस्कार रूप व्यापार को मूर्च्छा कहा है। इस पर से यह शंका की गयी कि यदि मूर्च्छा का नाम परिग्रह है तब तो बाह्य वस्तु परिग्रह नहीं कही जाएगी। क्योंकि मूर्च्छा से तो आभ्यन्तर का ही ग्रहण होता है। इसके उत्तर में कहा है-"उक्त कथन सत्य है, क्योंकि प्रधान होने से आभ्यन्तर को ही परिग्रह कहा है।

बाह्य में कुछ भी पास न होने पर भी "मेरा यह है" इस प्रकार संकल्प करने वाला परिग्रही कहा है" इस पर पुनः शंका होती है कि फिर तो बाह्य परिग्रह नहीं ही रहा, प्रत्युत्तर में कहा कि बाह्य परिग्रह हैं क्योंकि मूर्च्छा का कारण है। पुनः शंका कि यदि "यह मेरा है" इस प्रकार का संकल्प परिग्रह है तो सम्यग्ज्ञान आदि भी परिग्रह कहलायेंगे क्योंकि जैसे राग आदि परिणाम में ममत्व परिणाम परिग्रह कहा जाता है[50] वैसे ही सम्यग्ज्ञानादिक में भी ममत्वभाव होता है। प्रत्युत्तर में कहा कि जहाँ प्रमत्तभाव का योग है वहीं मूर्च्छा है। तथा सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र से युक्त व्यक्ति अप्रमत्त होता है, उसके मोह का अभाव होने से मूर्च्छा नहीं है, अतः वह अपरिग्रही है। दूसरी बात यह है कि ज्ञान आदि तो आत्मा का स्वभाव है उसे छोड़ा नहीं जा सकता, अतः वह परिग्रह में सम्मिलित नहीं है। किन्तु राग आदि तो कर्म के उदय से होते हैं, वे आत्मा के स्वभाव नहीं है, अतः त्याज्य हैं। उनमें "यह मेरे है," ऐसा संकल्प करना परिग्रह है। यह संकल्प सब दोषों की

जड़ है। "यह मेरा है" ऐसा संकल्प होने पर ही उसकी रक्षा का भाव आता है। उसमें हिंसा अवश्य होती है। परिग्रह की रक्षा के लिये व उसके उपार्जन के लिए झूँठ बोलता है, चोरी भी करता है। अतः परिग्रह सब अनर्थों की जड़ है। और इसको तीन प्रकार से कहा गया है-

(1) जीव से सम्बन्धित, (2) जीव से असम्बन्धित (3) और जीव से उत्पन्न हुए, ये तीन प्रकार के परिग्रह हैं।[51] इनका शक्ति से त्याग करना चाहिए, और इतर परिग्रह अर्थात् शरीर, संयम उपकरण पिच्छि-कमण्डलु आदि ज्ञानोपकरण पुस्तक आदि में निर्मम होना चाहिए,[52] क्योंकि ये अन्य परिग्रहों की तरह नहीं छोड़े जा सकते हैं। शरीर की स्थिति ऐसी है कि, निर्मम होने पर भी यह साथ रहता है। यद्यपि "जिस शरीर में धर्म के साधक जीव का निवास है उस शरीर की रक्षा बड़े आदर के साथ करना चाहिए। इस प्रकार की शिक्षा जिनागम का ऊपरी छिलका है, और "देह त्यागने ही योग्य है यह शिक्षा जिनागम का मूल है।"[53] परन्तु इसका त्याग नाश करके नहीं किया जा सकता है - ऐसा करने पर तो "आत्महनन" का पाप लगता है। पिच्छि कमण्डलु संयम के साधन हैं, अतः नजदीक होते हुए भी इनसे निर्मम रहा जाता है। हाँ, यदि श्रमण पिच्छि का उपयोग तकिया, आदि भोग के रूप में करता है, या मन्त्र-तन्त्र, गण्डा, तावीज या आशीर्वाद के रूप में भी करता है, तो वह श्रामण्य से च्युत हो श्रमणाभास है। इसी प्रकार पुस्तकादि के होते हुए भी उनसे निर्मम ही रहता है।

श्रमण अन्तरंग एवं बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह का त्यागी होता है। जैसे बाहर में तुष से वेष्टित चावल का छिलका दूर हुए बिना अन्दर से शुद्ध नहीं हो सकता, **वैसे ही बाह्य परिग्रह में आसक्त हुआ जीव अभ्यन्तर कर्ममल को छोडने में असमर्थ होने से अन्तःशुद्ध नहीं हो सकता**[54]। किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि केवल बाह्य परिग्रह ही छोडने योग्य है, या बाह्य परिग्रह के छोडने से अन्तरंग परिग्रह से छुटकारा मिल जाता है। बाह्य परिग्रह की तरह अन्तरंग परिग्रह भी छोडना चाहिए तथा उसके लिए सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए। बाह्य परिग्रह छोड़ देने पर भी यदि शरीर के प्रति भी ममत्व भाव बना रहा, तो शरीर के नग्न रहने पर भी परिग्रह से छुटकारा नहीं हो सकता है।

आभ्यन्तर परिग्रह निम्न हैं -

मिथ्यात्व - वस्तु के यथार्थ स्वरूप का अश्रद्धान, स्त्रीवेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद (स्त्रीवेद - नो कषाय के उदय से पुरूष में, पुरूषवेद- कषाय के उदय से स्त्री में और नपुंसक वेद- नोकषाय के उदय से दोनों में रमण की अभिलाषा) हास्य, भय, जुगुप्सा, रति, अरति, शोक तथा चार कषाय ये चौदह अन्तरंग परिग्रह हैं एवं खेत, गृह, सुवर्णादि, धान्य गेहूँ आदि, कुप्य वस्त्र आदि भाण्ड, दास-दासी, हाथी आदि चौपाये, शय्या-आसन ये दस बाह्य परिग्रह हैं। सोमदेव के उपासकाध्ययन में यान को नहीं गिनाया है और शय्या

तथा आसन को अलग-अलग गिनकर दस संख्या की पूर्ति की है।[55]

श्वेताम्बर साहित्य में सिद्धसेन गणि की तात्पर्य टीका में (7/12) अन्तरंग परिग्रह की संख्या तो चौदह बतलायी है, किन्तु बाह्य परिग्रह की संख्या नहीं बतलायी। उनमें से अभ्यन्तर परिग्रह के चौदह भेद हैं-राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यादर्शन, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा और वेद। बाह्य परिग्रह वास्तु, क्षेत्र, धन, धान्य, शय्या, आसन, यान, कुप्य, द्विपद, त्रिपद, चतुष्पद और भाण्ड हैं।

आभ्यन्तर परिग्रह में वेद को एक गिना है और राग- द्वेष को मिलाकर चौदह संख्या पूर्ण की है। किन्तु बाह्य परिग्रह गिनने से 12 होते हैं। इनमें त्रिपद नवीन है जो अन्यत्र नहीं है। वैसे इस परम्परा में 9 बाह्य परिग्रह गिनाये है। यथा- धर्म संग्रह की टीका में कहा है-धन, धान्य, क्षेत्र, वास्तु रूप्य, सुवर्ण, कुप्प, द्विपद, चतुष्पद ये बाह्य परिग्रह हैं। हेमचन्द्र ने भी 9 बाह्य परिग्रह गिनाये हैं।[56]

उपर्युक्त अन्तरंग एवं बहिरंग के भेद से 24 प्रकार के परिग्रह का त्याग श्रमण को होता है। क्योंकि वह श्रमण दीक्षाकाल में शुद्ध- बुद्ध एक स्वभाव रूप निज आत्मा का ही ग्रहण करने की प्रतिज्ञा एवं उसका ग्रहण कर चुका है। अपनी आत्मा के अलावा शेष सभी 24 परिग्रह का त्याग वह मन-वचन-काय एवं कृत-कारित-अनुमोदना से पूर्व में ही कर चुका है।[57] इन परिग्रहों का त्याग होने से संसार भ्रमण का कारणभूत राग द्वेषादि का अभाव हो जाता है, और राग द्वेषादि का अभाव होने से संसरण से मुक्त होने का पथ प्रशस्त हो जाता है।[58]

जैन दर्शन मूलतः आत्म प्रवृत्ति प्रधान है बाह्य निवृत्ति की मुख्यता नहीं है । इसीलिए श्रमण का मूलगुण "सामायिक" भी प्रवृत्ति परक है। जब श्रमण की सामायिक अवस्था से निवृत्ति होती है; तब उसकी परद्रव्यों के प्रति किस प्रकार की प्रवृत्ति का भाव रहता है यह पंच महाव्रतों का प्राण है। पाँच पापों का सम्बन्ध पर द्रव्यों के प्रति ममत्व एवं स्थिरता से है, एवं पापों की भी शुरूआत सर्वप्रथम हिंसा से ही होती है। इस संसार में सूक्ष्म जन्तुओं का घात तो तीर्थंकर के शरीर को छोडकर सभी के होता है। परन्तु हिंसा का सम्बन्ध उससे नहीं है। क्योंकि जयसेनाचार्य ने प्रवचनसार की टीका करते हुए कहा कि- **"सूक्ष्मजन्तुघातेऽपि यावतांशने स्वस्थभावचलनरूप रागादिपरिणतिलक्षण भावहिंसा तावतांशेन बन्धो भवति, न च पादसंघट्टनमात्रेण" तपोधनस्य रागादिपरिणतिलक्षणभाव हिंसा नास्ति । ततः कारणाद्बन्धोऽपि नास्तीति।**"[59] अर्थात् सूक्ष्म जन्तुओं के घात होने पर भी जितने समय तक स्वस्थ भाव चलन रूप रागादि परिणति रहेगी अर्थात् स्व आत्मा, स्थ-ठहरना, अपनी आत्मा में ठहरने रूप भाव से या कहें कि सामायिक के भाव से चलन रूप या डिगने पर उत्पन्न हुयी रागादिक प्रवृत्ति ही भाव हिंसा है। यहाँ पर "स्वस्थ भाव

चलन रूप" शब्द का प्रयोग अत्यन्त मार्मिक हुआ है। हम दैनिक व्यवहार में एक दूसरों के स्वास्थ्य के बारे में पूछते हैं कि आपका स्वास्थ्य कैसा है ? इस लोक व्यवहार में भी जैन दर्शन ने हमारे दैनिक जीवन में भी अति आध्यात्मिकता का स्वर फूँका है।

स्वस्थस्य भावः स्वास्थ्यः इति अर्थात् जिसमें स्वस्थता अर्थात् आत्मिक स्थिरता-राग द्वेषादि का अभाव हो उसे स्वास्थ्य कहते हैं। दैनिक व्यवहार में स्वास्थ्य शब्द का प्रचलन इसलिए हुआ कि, हमारी भारतीय संस्कृति जैन संस्कृति से अत्यधिक प्रभावित रही है। जैन संस्कृति अध्यात्म प्रधान रही है जिससे भारत देश आध्यात्मिक प्रधान हुआ। सन्तों की साधनास्थली भारत देश होने की वजह से पूर्वकाल में परस्पर श्रावकगण कुशलक्षेम के रूप में पूँछा करते थे कि इस संसार में रहते हुए भी आपकी स्वरूप स्थिरता के प्रति उदासीनता तो नहीं है ? अतः परस्पर में आत्म परक भाव में स्वास्थ्य शब्द का प्रयोग करते थे। यह मूलतः संस्कृत शब्द है। संस्कृत देववाणी है अर्थात् देवलोग, सज्जन लोग जिस भाषा का प्रयोग करें उसे देववाणी कहते हैं। सज्जन पुरुष विषय-कषाय की वार्ता न करके धार्मिक वार्ता ही श्रेष्ठ समझते हैं, तथा दूसरी तरफ विषय-कषायप्रधान धर्म मुस्लिम में इस लोक व्यवहार का बाह्य विषय की प्रधानता लिये हुए "तनदुरूस्थ" शब्द का प्रयोग करते हैं। उनके यहाँ शरीर की शाश्वत मान्यता की वजह से, शरीर की कुशलता पूछने का भाव निहित रहता है। भाषा-विज्ञान का यह नियम है कि व्यक्ति की आन्तरिक रूचि की छाप व्यक्ति के दैनिक व्यवहार एवं उसके शब्द संयोजन पर स्पष्ट रूप से पड़ती है। व्यक्ति उन्हीं शब्दों का अधिकांशतः प्रयोग करता है, जैसी उसकी मानसिक प्रवृत्ति रहती है। कठोर व्यक्ति कठोर शब्दों का प्रयोग एवं सरल व्यक्ति ऋजु शब्दों का प्रयोग अधिकांशतः करता है। अतः स्वस्थ भाव चलन रूप में स्वरूप की जितनी अस्थिरता होगी, उतने अंशों में राग होगा, एवं जितने अंशों में राग उत्पन्न होगा उतने अंशों में ही पापों का बंध होगा, न कि पैरों के नीचे जीव के मर जाने मात्र से पाप बंध जाता है। यह जैनधर्म का अत्यन्त मार्मिक सिद्धान्त है। इसी कारण जयसेनाचार्य ने "निश्चयहिंसारूपोऽन्तरंगच्छेदः सर्वथा प्रतिषेध्यः"[60] जैसे भाव व्यक्त किये हैं।

पाँच महाव्रतों के विस्तृत स्वरूप का वर्णन किया जा चुका है। अब उनके महत्व का समर्थन पूर्वक उनकी रक्षा के लिए रात्रिभोजन विरति नामक छठे अणुव्रत का कथन करते हुए यह बताते हैं कि, उत्तरोत्तर अच्छी तरह किये गये अभ्यास के द्वारा इन व्रतों के सम्पूर्ण होने पर निर्वाण रूप फल की प्राप्ति होती है।[61]

रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग रात्रिभोजन निवृत्ति है एवं उसे अणुव्रत कहा है। क्योंकि जैसे हिंसा आदि पापों का सर्वथा त्याग किया जाता है उस तरह भोजन का सर्वथा त्याग नहीं किया जाता, किन्तु केवल रात्रि में ही भोजन का त्याग किया जाता है। दिन में तो समय पर भोजन किया जाता है, अतः उसे अणुव्रत कहा है, अर्थात् भोजन क्रिया

की आंशिकतः निवृत्ति, अतः यह वस्तुतः अणुव्रत रूप महाव्रत है, एवं गृहस्थों के लिए अणुव्रत रूप अणुव्रत है।

भगवती आराधना में जब इस विषय से सम्बन्धित मन्तव्य देखते है[62] तो वहाँ कहा है कि "यदि मुनि रात्रि में भिक्षा के लिए विचरण करता है तो त्रस जीवों और स्थावर जीवों का घात करता है। रात्रि के समय वह दाता के आने का मार्ग, उसके अन्नादि रखने का स्थान, अपने खड़े होने के स्थान, उच्छिष्ट भोजन के गिरने का स्थान अथवा दिया जाने वाला आहार योग्य है या नहीं यह सब वह कैसे जान सकता है ? जो सूक्ष्मजीव दिन में भी कठिनता से देखे जा सकते हैं, उन्हें रात्रि में कैसे देखकर उनका बचाव कर सकता है? रात्रि में आहार के पात्र वगैरह का शोधन कैसे हो सकता है? सम्यक् रीति से देखे बिना ही एषणा-समिति की आलोचना करने पर साधु का सत्यव्रत कैसे रह सकता है? स्वामी के सोने पर उसके द्वारा नहीं दिया गया आहार ग्रहण करने से चोरी का दोष लगता है। दिन में किसी पात्र में आहार लेकर रात्रि में खाने से अपरिग्रह व्रत का लोप होता है। किन्तु रात्रिभोजन का ही त्याग करने से पांचों ही व्रत परिपूर्ण होते हैं। अतः पाँचों व्रत की रक्षा के लिए रात्रिभोजन निवृत्ति भी महत्वपूर्ण व्रत है।

तत्वार्थ सूत्र के सातवें अध्याय के प्रथम सूत्र में हिंसा आदि पाँच पापों के त्याग को व्रत कहा है। उसकी सर्वार्थसिद्धि, तत्वार्थवार्तिक आदि टीकाओं में यह शंका की गयी है कि रात्रि भोजन विरमण नाम का छठा अणुव्रत है। उसको भी यहाँ कहना चाहिए ? इसका समाधान यह किया गया कि उसका अन्तर्भाव अहिंसाव्रत की आलोकितपान भोजन भावना में होता है। अतः उसे नहीं कहा है।

तत्वार्थाधिगम भाष्य (श्वे.) में इसकी कोई चर्चा नहीं है। किन्तु सिद्धसेन गणि ने उसकी टीका में इस चर्चा को उठाया है, जो सर्वार्थसिद्धि व तत्वार्थवार्तिक का ही प्रभाव प्रतीत होता है। उसमें कहा है जैसे-असत्य आदि का त्याग अहिंसाव्रत के परिपालन के लिए होने से मूलगुण है, उसी तरह रात्रिभोजन विरति भी मूलगुण होना चाहिए ? इसका उत्तर है कि महाव्रतधारी के लिए ही वह मूलगुण है, क्योंकि उसके बिना मूलगुण पूर्ण नहीं हो सकते। अतः अहिंसा आदि मूलगुणों के ग्रहण में उसका ग्रहण आ जाता है। तथा जैसे रात्रिभोजन त्याग सब व्रतों का उपकारी है, वैसे उपवास आदि उपकारी नहीं है। अतः महाव्रतों का वह मूलगुण है, शेष उत्तरगुण है, किन्तु अणुव्रतधारी का रात्रिभोजन त्याग उत्तरगुण है, क्योंकि उसमें आहार का त्याग होता है। अथवा वह उपवास की ही तरह तप है। श्वेताम्बर आगम साहित्य में भी पाँच महाव्रतों के साथ छठे रात्रिभोजन निवृत्ति का निर्देश पाया जाता है। किन्तु उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं बतलायी है।

अहिंसा रूप अथवा हिंसा विरति आदि पाँच रूप सम्यक् चारित्र सावद्ययोग से विरत साधु का अथवा योग के लिए प्रयत्नशील साधु का शरीर है। उसे उत्पन्न करने के लिए, रक्षण करने के लिए, और निर्मल करने के लिए माता के तुल्य होने से आगम के ज्ञाता पुरुष तीन गुप्तिओं और पाँच समितियों को माता मानते हैं। इसलिए व्रतों का पालन करने वालों को इष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए इन आठ प्रवचन माताओं की आराधना का निर्देश प्राप्त है।[63]

जैसे माताएं पुत्रों के शरीर को जन्म देती हैं, उनका पालन करती हैं, रोगादि होने पर शोधन करती हैं उसी तरह गुप्ति और समितियाँ मुनि के सम्यक् चारित्र रूप शरीर को जन्म देती हैं, पालन करती हैं और शुद्ध करती हैं। गुप्ति और समितियों के बिना सम्यक् चारित्र की उत्पत्ति, रक्षा और निर्दोषता सम्भव नहीं है। इसी कारण आगम में इन्हें रत्नत्रय रूप प्रवचन की माता कहा है। अतः सामायिक या छेदोपस्थापना चारित्र के आराधक साधु को इनका पालन सावधानीपूर्वक अवश्य करना चाहिए। इनमें प्रमादी होने से महाव्रत की रक्षा की बात तो दूर उनका जन्म ही संभव नहीं है।

गुप्ति का सामान्य लक्षण-

"गुपूरक्षणे" अर्थ में गुप्ति शब्द गोप् धातु से बना है जिसका अर्थ रक्षण है, अर्थात् जिससे संसार के कारणों से आत्मा की रक्षा होती है उसे गुप्ति कहते हैं। इसी अर्थ को दृष्टि में रखते हुए पं. आशाधर ने गुप्ति का सामान्य लक्षण दिया है कि "लोगों के द्वारा की जाने वाली पूजा, लाभ और ख्याति की इच्छा न करने वाले" साधु को सम्यग् दर्शन आदि रत्नत्रय स्वरूप अपनी आत्मा को मिथ्यादर्शन आदि से रक्षा करने के लिए पाप योगो का निग्रह करना चाहिए।[64] जैसे राजा रत्नों से अर्थात् अपनी-अपनी जाति के उत्कृष्ट पदार्थों से शोभायमान नगर की प्राकार, खाई और उसके बाहर की कच्ची चारदीवारी से रक्षा करते हैं, उसी तरह व्रती को सम्यग्दर्शन आदि रत्नों से शोभित अपनी आत्मा की रत्नत्रय को नष्ट करने वाले उपायों से मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्ति के द्वारा रक्षा करनी चाहिए।[65]

मनोगुप्ति आदि का विशेष लक्षण :

रागद्वेष और मोह के त्यागरूप अथवा आगम का विनयपूर्वक अभ्यास और धर्म तथा शुक्लध्यान रूप मनोगुप्ति है। कठोर आदि वचनों का त्याग वचनगुप्ति है अथवा मौनरूप वचन गुप्ति है। शरीर से ममत्व का त्याग रूप स्वभाव वाली अथवा हिंसा, मैथुन और चोरी से निवृत्ति रूप स्वभाव सर्वचेष्टाओं से निवृत्ति रूप वाली काय गुप्ति है। समस्त हेय-उपादेय को तत्व रूप से देखकर जीवन मरण आदि में समबुद्धि रखने वाला साधु इन गुप्तिओं का पालन करते हुए ज्ञानावरण आदि कर्मों में लिप्त नहीं होता।[66]

गुप्तिओं में लगने वाले अतिचार-

मनोगुप्ति के अतिचार :

आत्मा के राग-द्वेष मोह रूप परिणति, शब्द विपरीतता, अर्थ विपरीतता एवं ज्ञान विपरीतता तथा दुष्प्रणिधान अर्थात् आर्त-रौद्र रूप ध्यान या ध्यान में मन न लगाना ये मनोगुप्ति के यथायोग्य अतिचार हैं।[67]

वचनगुप्ति के अतिचार :

कर्कश आदि वचन मोह और संताप का कारण होने से विष के तुल्य हैं। उनको श्रोताओं के प्रति बोलना और स्त्री, राजा, चोर और भोजन विषयक विकथाओं में, मार्ग विरूद्ध कथाओं में आदरभाव तथा हुंकार आदि क्रिया अर्थात् हुं-हुं करना, खकारना, हाथ से या भ्रू के चालन से इशारा करना ये वचनगुप्ति के यथायोग्य अतिचार हैं।[68]

कायगुप्ति के अतिचार :

कायोत्सर्ग सम्बन्धी बत्तीस दोष- "यह शरीर मेरा है" इस प्रकार की प्रवृत्ति, शिव आदि की प्रतिमा के सम्मुख शिव आदि की आराधना करने जैसी मुद्रा में खडे होना अर्थात् दोनों हाथों को जोडकर शिव आदि की प्रतिमा के अभिमुख खडा होना अथवा जनसमूह से भरे स्थान में एक पैर से खडे होना, ये सब कायोत्सर्ग रूप काय गुप्ति के अतिचार हैं। तथा जहाँ जीव-जन्तु, काष्ठ पाषण आदि निर्मित स्त्री प्रतिमाएँ और परधन प्रचुर मात्रा में हो ऐसे देश में अयत्नाचार पूर्वक निवास अहिंसादित्याग रूप काय गुप्ति का अतिचार है। अथवा अपध्यान सहित शरीर के व्यापार की निवृत्ति अचेष्टा रूप काय गुप्ति के अतिचार है।[69]

पूर्व में गुप्ति का लक्षण मन वचन काय से ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा की रक्षा करना ही गुप्ति का स्वरूप बतलाया था। परन्तु ऐसा श्रमण जो चेष्टा रूपी प्रतिहारी के द्वारा मोक्षमार्ग की देवी गुप्ति से वहिष्कृत किया गया है, एवं वह पुनः गुप्ति की आराधना का अवसर प्राप्त करना चाहता हैं तो उसे गुप्ति की सखी समिति का आश्रय लेना चाहिए।[70]

अभिप्राय यह है कि जैसे कोई नायक किसी नायिका को रिझाना चाहता है, किन्तु अवसर नहीं पाता तो वह उस नायिका को अपने अनुकूल करने के लिए उसकी सखियों का सहारा लेता है यही उसके लिए श्रेयस्कर है। उसी तरह जो श्रमण गुप्ति की आराधना करना चाहता है, उसे समिति का पालन करना चाहिए, क्योंकि समिति गुप्ति की सखी है। यतः समिति गुप्ति के स्वभाव का अनुसरण करती है। अतः समितियों में गुप्तियाँ पायी जाती हैं, किन्तु गुप्तियों में समितियाँ नहीं पायी जाती हैं। गुप्तियाँ निवृत्ति प्रधान होती हैं और समितियाँ प्रवृत्ति प्रधान, चूंकि 28 मूलगुण बाह्य प्रवृत्ति प्रधान है। अतः समितियों को मूलगुण में शामिल किया गया है न कि गुप्तियों को, जहाँ समितियों को गुप्तिओं की

सखी कहा है वहाँ गुप्तियों को मोक्षमार्ग की देवी कहा है। इस देवी के द्वार की रक्षिका है "चेष्टा"। जैसे द्वार रक्षिका अपने स्वामी की अवज्ञा करने वाले को वहाँ से निकाल देती है, वैसे ही जो मुनि शारीरिक चेष्टा करना चाहता है वह गुप्ति के द्वार से हट जाता है, किन्तु श्रमण मोक्ष की देवी गुप्ति की आराधना नहीं छोड़ता। अतः शारीरिक चेष्टा करते हुए भी उसे समितियों का आलम्बन लेना पडता है। ऐसी स्थिति में उसे पुनः गुप्तियों के पालन का अवसर मिलता है। यदि वह चेष्टा करते हुए भी समितियों का पालन नहीं करता तो वह गुप्तियों का पालन नहीं कर सकता और तब उसे मोक्ष तो दूर मोक्षमार्ग की भी प्राप्ति सम्भव नहीं है। कहा भी है-"कर्मों के आने के द्वार तो बन्द करने में लीन साधु के तीन गुप्तियाँ कही हैं, और शारीरिक चेष्टा करने वाले मुनि के पाँच समितियाँ बतलायी हैं।"

पंच समिति

समिति शब्द सम् और इति के मेल से बनता है। "सम्" अर्थात सम्यक् इति अर्थात् गति या प्रवृत्ति को समिति कहते हैं । आगम में कहे हुए क्रम के अनुसार दया भाव पूर्वक गमनागमन करना समिति है। साधु को जीवनयात्रा के लिए पाँच समिति आवश्यक रूप से करनी होती है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना, बोलना, भोजन, पिच्छि आदि का ग्रहण-स्थापन, और मलमूत्र का त्याग। इस प्रकार ईर्या- समिति, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण एवं उत्सर्ग के भेद से समिति पाँच प्रकार की होती है।[71]

6. ईर्या समिति :

प्रायश्चित्त आदि शास्त्रों के अर्थ को जानने वाला जो मुनि आत्मकल्याण के साधन सम्यग्दर्शन आदि और उनके सहायक अपूर्व चैत्यालय, समीचीन उपाध्याय आदि की प्राप्ति के लिए अपने स्थान से अन्य स्थान को जाना चाहता है वह मनुष्य, हाथी, घोड़े आदि के द्वारा अच्छी तरह से रौंदे हुए और सूर्य की किरणों से प्रासुक मार्ग के अन्तर्मुहूर्त बाद आगे चार हाथ जमीन देखकर दिन में गमन करता है, तथा दया भाव से प्राणियों की रक्षा करने के लिए सावधानी पूर्वक मध्यम गाते से गमन करता है उस मुनि को ईर्या समिति होती है।[72] तथा जिसमें ईर्या समिति का पालन न हो सके ऐसे वाहन, मोटर, पालकी आदि का जीवन पर्यन्त उपयोग नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसा करने पर ईर्या समिति का प्रयोग नहीं होता है, तथा परिग्रह का प्रसंग होने से श्रामण्य भंग होता है। आचार्य शिवार्य ने कहा कि "जिसकी चक्षु दुर्बल हो अथवा जिसके श्रोत्र दुर्बल हो, जो जंघाबल से हीन हो अथवा विहार करने में सक्षम न हो उसे भक्त प्रत्याख्यान (समाधिमरण) करना चाहिए।[73] इससे यह फलित होता है कि जैन श्रमण मृत्युपर्यन्त चश्मा, क्रान के उपकरण एवं वाहन आदि का उपयोग नहीं कर सकते हैं। जबकि वर्तमान में चश्मा, पालकी आदि के उपयोग का प्रचलन है, जो जैनधर्म सम्मत नहीं है।

आचार्य शिवार्य[74] ने कहा है कि मार्गशुद्धि, उद्योतशुद्धि, उपयोगशुद्धि, आलम्बनशुद्धि इन चार शुद्धियों के साथ गमन करने वाले मुनि के सूत्रानुसार ईर्या समिति आगम में कही है। मार्ग में चींटीं आदि त्रसजीवों का आधिक्य न हो; बीज, अंकुर, तृण, हरित वृक्ष, कीचड़ आदि का न होना मार्गशुद्धि है। चन्द्रमा, नक्षत्र आदि का प्रकाश अस्पष्ट होता है, और दीपक आदि का प्रकाश अव्यापी होता है; अतः सूर्य का स्पष्ट और व्यापक प्रकाश होना उद्योतशुद्धि है। पैर के रखने के स्थान पर जीवों की रक्षा की भावना होना उपयोगशुद्धि है। गुरू, तीर्थ, तथा यतिओं की वन्दना आदि के लिए या शास्त्रों के अपूर्व अर्थ ग्रहण करने के लिए या संयतों के योग्य क्षेत्र की खोज के लिए या वैयावृत्य करने के लिए या अनियत आवास के कारण स्वास्थ्य लाभ के लिए या श्रम पर विजय प्राप्त करने के लिए या अनेक देशों की भाषा सीखने के लिए अथवा शिष्यों के प्रतिबोध के लिये गमन करना आलम्बनशुद्धि है। न बहुत जल्दी और न बहुत धीरे चलना, आगे चार हाथ जमीन देखकर चलना, पैर दूर-दूर न रखना, भय और आश्चर्य को त्यागकर चलना, विलासपूर्ण गति से न चलना, कूदकर न चलना, भागकर न चलना, दोनों हाथ नीचे लटकाकर चलना, निर्विकार, चपलतारहित, ऊपर तथा इधर-उधर देखकर न चलना, तरतृण (हरे पत्ते) से एक हाथ दूर रहकर चलना, पशु-पक्षी एवं मृगों को भयभीत न करते हुए चलना, विपरीत योनि में जाने से जीवों को उत्पन्न हुयी बाधा को दूर करने के लिए निरन्तर पिच्छि से शरीर का परिमार्जन करते हुए चलना, सामने से आते हुए मनुष्यों से संघट्टन न करते हुए चलना, दुष्ट गाय, बैल, कुत्ता आदि से बचते हुए चलना, मार्ग में गिरे हुए भूसा, तुष, भस्म, गीला गोबर, तृणों के ढेर, जल, पत्थर, लकड़ी का टुकड़ा आदि से बचते हुए चलना, चोरी और कलह से दूर रहना, इस प्रकार से गमन करने वाले यति के ईर्या समिति होती है। दशवैकालिक में[75] कहा है कि "आगे युग प्रमाण भूमि को देखता हुआ और बीज, हरियाली, प्राणी, जल तथा सजीव मिट्टी को टालता हुआ चले। दूसरे मार्ग के होते हुए गडढे ऊबड़-खाबड़, भू-भाग, ठूंठ और सजल मार्ग से न जावे।

इस प्रकार श्रमण ईर्या समिति का पालन करते हैं।

7- भाषा समिति :

चुगली, हंसी, कठोरता, परनिन्दा, अपनी प्रशंसा और विकथा आदि को छोड़कर अपने और पर के लिए हितरुप वचन बोलना भाषा समिति है।[76] अनगार धर्मामृत में अन्य प्रकार से बतलाते हुए कहा कि कर्कशा, परूषा, कटुंवी, निष्ठुरा, परकोपिनी, छेदंकरा , मध्यकृशा, अतिमानिनी, अनयंकरा, और भूतहिंसाकरी , इन दस प्रकार की दुर्भाषा को छोडकर हित, मित, और असन्दिग्ध वचन बोलने वाला साधु भाषा समिति का पालक होता है।[77]

8- एषणा समिति :

भोजन के अन्तरायों से, अंगार आदि दोषों से, भोज्य वस्तु सम्बन्धी शंका आदि दोषों से तथा उद्गम और उत्पादन आदि दोषों से रहित, वीर चर्या के द्वारा प्राप्त पूय, रुधिर आदि दोषों से तथा अधःकर्म नामक महान् हिंसा दोषों से रहित, भाव से शुद्ध, अपना और पर का उपकार करने वाले शरीर की स्थिति को बनाये रखने में समर्थ विधिपूर्वक भक्ति के साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय, सत्शूद्र के द्वारा दिया गया भोजन समय पर शीत उष्ण आदि में समान भाव से उचित प्रमाण में आहार लेने वाला तपस्वी एषणा समिति का पालक होता है।[78] *नियमसार गा. 62 की टीका में पद्मप्रभमलधारिदेव ने इस समिति को और* स्पष्ट करते हुए कहा कि "प्रतिग्रह" अर्थात् "आहार जल शुद्ध है, तिष्ठ! तिष्ठ! तिष्ठ!" ऐसा कहकर आहार ग्रहण की प्रार्थना करने पर एवं उच्च स्थान, पाद प्रक्षालन, अर्चन, प्रणाम, योगशुद्धि (मन वचन काया की शुद्धि) और भिक्षाशुद्धि - इन नवविधि से आदर करके, श्रद्धा, शक्ति, अलुब्धता, भक्ति, ज्ञान, दया - इन (दाता) के सात गुणों सहित शुद्ध योग्य आचार वाले उपासक द्वारा दिया गया (नव कोटि से शुद्ध, प्रशस्त और प्रासुक) भोजन जो परम तपोधन लेते हैं, उसे एषणा समिति कहते हैं।

9. आदान निक्षेपण समिति :

आदान-निक्षेपण समिति का पालक साधु स्थिर चित्त होकर प्रथम अपनी आँखों से अच्छी तरह देखकर फिर पिच्छि से साफ करके ही ज्ञान के उपकरण पुस्तकादि, संयम का उपकरण पिच्छि, शौच का उपकरण कमण्डलु आदि को ग्रहण करता एवं रखता है; रखने के पश्चात् यदि कितना ही काल व्यतीत हो गया हो, तो भी सम्मूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति की संभावना से पुनः उस रखी हुयी पुस्तकादि का सावधानी से निरीक्षण करता है।[79]

बिना देखे, बिना प्रमार्जन किये पुस्तकादि का ग्रहण करना या रखना सहसा नामक पहला दोष है। बिना देख- प्रमार्जन करके पुस्तकादि का ग्रहण या रखना, 'अनाभोगित' नाम का दूसरा दोष है। देख करके भी सम्यक् रीति से प्रमार्जन न करके ग्रहण करना या रखना 'दुःप्रमृष्ट' नामक तीसरा दोष है। पहले देखकर प्रमार्जन किया किन्तु कितना ही काल व्यतीत हो जाने पर पुनः यह देखे बिना ही कि शुद्ध या अशुद्ध ग्रहण या निक्षेप करना अप्रत्यवेक्षण नामक चौथा दोष है।[80]

उपर्युक्त चारों दोषों का परिहार करने वाले के आदाननिक्षेपण समिति होती है।

10. उत्सर्ग समिति :

शरीर के मलत्याग का नाम उत्सर्ग है। 'मूलाचार' में इस पाँचवीं समिति को प्रतिष्ठापना समिति से अभिहित किया गया है। यह समिति, दो- इन्द्रिय आदि जीवों तथा हरे तृण आदि से रहित, साँप की बांबी आदि भय के कारणों से रहित, वन की, श्मशान

की आग से जले हुए या हल के द्वारा अनेक बार खोदे गये, अथवा ऊसर भूमि में दिन के समय मल, मूत्र, कफ, नाक, बाल, वमन आदि का त्याग करने वाले मुनि के पलती है। रात्रि के समय यदि मल-मूत्र की बाधा हो तो दिन में प्रज्ञाश्रमण मुनि के द्वारा अच्छी तरह देखे गये तीन स्थानों में से किसी एक शुद्धतम स्थान में उल्टे हाथ से अच्छी तरह देखकर मूत्रादि का त्याग करना उत्सर्ग समिति है। रात्रि के सम्बन्ध में लिखा है - यदि मलत्याग शीघ्र हो जाए, तो मुनि को गुरू के द्वारा प्रायश्चित्त नहीं देना चाहिए, क्योंकि उस दोष में उसका वश नहीं था।[81]

'मूलाचार' में इस समिति का स्वरूप बतलाते हुए कहा कि एकान्त, जीव जन्तु रहित, दूरस्थित, मर्यादित, विस्तीर्ण और विरोध रहित स्थान में मल-मूत्रादि का त्याग करना प्रतिष्ठापना समिति है।[82] इसकी आचार वृत्ति टीका में स्पष्ट करते हुए कहा कि "जहाँ पर असंयत जनों का गमनागमन नहीं है, ऐसे विजनस्थान को एकान्त कहते हैं। हरितकाय और त्रसकाय आदि से रहित जले हुए अथवा जले के समान ऐसे स्थण्डिल-खुले मैदान को उचित कहते हैं, ऐसे स्थान पर ही मल-मूत्रादि का त्याग करना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार आधुनिक काल में प्रचलित फ्लेश आदि में मल मूत्रादि का त्याग श्रमण नहीं कर सकते हैं, क्योंकि ऐसे स्थान हिंसा के स्थान हैं, यदि ऐसे स्थान पर श्रमण मल मूत्रादि क्षेपण करता है तो वह जैन श्रमण नहीं है। अतः निष्कर्ष रूप में एकान्त, अचित्त, दूर गूढ, विशाल और विरोधरहित प्रदेशों में सावधानीपूर्वक जो मल आदि का त्याग करता है वही मल-मूत्र विसर्जन के रूप में प्रतिष्ठापना समिति है।

पंच इन्द्रिय जय :

श्रमण के लिए पंच इन्द्रिय- जयी बतलाया है, क्योंकि पंचेन्द्रिय जन्य सुख क्षणिक होने से विनाशक है और अतीन्द्रिय सुख ही चिर स्थायी है। अतः आचार्य योगीन्दु देव[83] ने उसी के ग्रहण की प्रेरणा करते हुए कहा है कि -ये पंचेन्द्रिय विषय क्षणभंगुर हैं, बारम्बार दुर्गति के दुःख देने वाले हैं। अतः विषयों का सेवन अपने कंधे पर कुल्हाड़ी का मारना जैसा है, ऐसा व्याख्यान जानकर विषयसुख को छोड़, वीतराग परमात्म सुख में ठहरकर निरन्तर शुद्धोपयोग की भावना करनी चाहिए।[84] ऐसी शुद्धोपयोगी होने की भावना के लिए जो विद्यमान विषयों को छोड़ता है, उसकी प्रशंसा करते हुए पुनः योगीन्दु देव कहते हैं-जो कोई ज्ञानी विद्यमान विषय को छोड़ देता है, उसकी मैं पूजा करता हूँ; जिसका सिर गंजा है वह तो दैवादेव मुंडा हुआ है।[85]

आचार्य योगीन्दु देव का यह कथन लौकिक पद्धति में व्यवहार नय की अपेक्षा से किया है। परन्तु यथार्थतः जैनधर्म में चक्रवर्ती पद को त्यागकर बना श्रमण एवं एक गंजा पुरूष की तरह मुंडा हुआ अर्थात् जिसके पास कुछ भी नहीं था ऐसे पुरूष के द्वारा श्रामण्यावस्था

स्वीकारना, वस्तुतः इन दोनों की पूज्यता में अथवा ऊँच-नीच का भेद करना एक मानसिक क्षुद्रता और एक अपराध है, क्योंकि **यदि चक्रवर्ती ने छह खण्ड की विभूति और उससे अपने को अधिक मानना छोड़ा अर्थात् परवस्तु से अपने व्यक्तित्व की पहिचान का त्याग किया तो निर्धन व्यक्ति ने भी छह खण्ड के न होने पर उत्पन्न हुयी अपनी उस हीन भावना को छोड़ा। अतः दोनों ने ही छह खण्ड को त्यागा है।** इसलिए दोनों ही समकोटि के हैं। परन्तु देखने की बात तो यह है कि उन्होंने ग्रहण क्या किया। यदि दोनों ने अनन्तानुबन्धी, प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान कषायों के अभाव में आत्मतत्व को ग्रहण किया है, तो वे समान हैं। यही इन्द्रियजय है और यही यथार्थ श्रामण्य दशा है।

यहाँ पंचेन्द्रिय निरोध का भेद रूप से स्वरूप प्रस्तुत कर रहे हैं।

11. स्पर्शनइन्द्रिय निरोध :

जीव और अजीव से उत्पन्न हुए एवं कठोर, कोमल आदि आठ भेदों से युक्त सुख और दुःख रूप स्पर्श में मोह रागादि नहीं करना स्पर्शनिन्द्रिय निरोध है।

12. रसना-इन्द्रिय निरोध :

अशन आदि से चार भेद रूप, पंच रसयुक्त, प्रासुक, निर्दोष, पर के द्वारा दिये गये रुचिकर अथवा अरुचिकर आहार में लम्पटता का नहीं होना रसना इन्द्रिय निरोध है।

13. घ्राणेन्द्रिय निरोध :

जीव और अजीव स्वरूप सुख और दुःख रूप प्राकृतिक तथा पर निमित्तक गन्ध में जो राग द्वेष का नहीं करना है वह श्रमण का घ्राण- इन्द्रिय निरोध व्रत है।

14. चक्षु-इन्द्रिय निरोध :

सचेतन और अचेतन पदार्थों की क्रिया, आकार और वर्ण के भेदों में मुनि के जो राग-द्वेष आदि संग का त्याग है वह चक्षु इन्द्रिय निरोध व्रत है ।

15. कर्ण इन्द्रिय निरोध :

षडज, श्रृषभ, गान्धार आदि शब्द और वीणा आदि अजीव से उत्पन्न हुए शब्द ये सभी रागादि के निमित्त हैं, इनका उपभोग नहीं करना कर्णेन्द्रिय निरोध व्रत है।

षडावश्यक :

रोग आदि से पीड़ित होने पर भी इन्द्रियों के अधीन न होकर मुनि के द्वारा जो दिन-रात के कर्तव्य किये जाते हैं, उन्हें आवश्यक कहते हैं। जो वश्य अर्थात् इन्द्रियों के

अधीन नहीं होता है उसे अवश्य कहते हैं, एवं अवश्य के कर्म को आवश्यक कहते हैं।[86] अवश जितेन्द्रिय श्रमण स्वसंवेदन श्रद्धा से युक्त आत्मा में निःशंक अवस्थान के लिए षड् आवश्यक करता है। इन षडावश्यकों के पालन करने का एक मात्र उद्देश्य आत्मा में निश्चल स्थिति है। ये आवश्यक क्रियाएँ तब तक ही की जाती हैं जब तक कि उसे शुद्ध आत्मा की चिर स्थायी प्राप्ति न हो जाती है।[87] अतः इन षडावश्यकों का सामान्य वर्णन प्रस्तुत है। विशेष विवेचन चतुर्थ अध्याय में औघिक समाचार प्रकरण के अन्तर्गत किया जाएगा।

16. समता आवश्यक :

जीवन मरण, लाभ-अलाभ में, संयोग-वियोग में, मित्र-शत्रु में तथा दुःख-सुख में समभाव होना समता है, इसे सामायिक भी कहते हैं। त्रिकाल में वन्दना करना अर्थात् प्रातः मध्यान्ह एवं सायंकाल में विधिवत् रूप से कम से कम एक मुहुर्त (48 मिनट) तक सामायिक होती है।[88]

17. स्तुति :

ऋषभ आदि तीर्थंकरों के नाम का कथन और गुणों का कीर्तन करके उनको मन-वचन-काय पूर्वक नमस्कार करना स्तुति नामक आवश्यक जानना चाहिए।

18. वन्दना :

अर्हन्त, सिद्ध और उनकी प्रतिमा, तप में, श्रुत या गुणों में बड़े गुरू का एवं स्वगुरू का कृतिकर्मपूर्वक अथवा बिना कृतिकर्म के मन-वचन-काय पूर्वक प्रणाम करना वंदना है।[89]

19. प्रतिक्रमण :

अहिंसादि व्रतों में जो अतिचार आदि दोष उत्पन्न हुए हैं, उनको निन्दा-गर्हा पूर्वक शोधन करना - दूर करना प्रतिक्रमण है।

20. प्रत्याख्यान :

मन-वचन-काय से भविष्य के दोषों का त्याग करना प्रत्याख्यान है। आहार- ग्रहण करने के पश्चात् गुरू के समीप अगले दिवस तक चार प्रकार के आहार के त्याग रूप प्रतिज्ञा को प्रत्याख्यान कहते हैं।

अतीत काल के दोष का निराकरण करना प्रतिक्रमण है। अनागत और वर्तमान काल में द्रव्यादि दोष का परिहार करना प्रत्याख्यान है। यह दोनों में अन्तर है। तप के हेतु सावद्य या निरवद्य वस्तु का त्याग करना ही प्रत्याख्यान है। किन्तु प्रतिक्रमण दोषों के

निराकरण हेतु ही है।

21. कायोत्सर्ग :

दैवसिक, रात्रिक आदि नियम क्रियाओं में आगमकथित प्रमाण के द्वारा आगम में कथित काल पर जिनेन्द्र देव के गुणों के चिन्तवन से सहित होते हुए शरीर से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग नाम का आवश्यक है।

इन षडावश्यकों का विस्तृत विवेचन चतुर्थ अध्याय में पद-विभागीक समाचार प्रकरण के अन्तर्गत किया जाएगा।

22. केशलोंच :

जैन श्रमण अपने सिर एवं दाढ़ी के बाल स्वयं हाथों से ही लोंच लेते हैं। यह केश-लोंच प्रतिक्रमण सहित दिवस में, दो-तीन या चार मास में उत्तम, मध्यम, जघन्य रूप लोंच उपवास पूर्वक ही करते हैं।[90] इस केशलोंच का प्रारम्भ दीक्षाकाल से ही किया जाता है। श्वे. के उत्तरा. में कहा है कि "दीक्षा लेने वाले साधक को सर्वप्रथम अपने सभी वस्त्राभूषणों का त्याग करना पड़ता है। तदनन्तर अपने सिर एवं दाढ़ी के बालों को दोनों मुट्ठियों से स्वयं उखाड़ना पड़ता है[91] जिसे केशलोंच कहते हैं। संयोगवश यदि कदाचित् दीक्षार्थी दीक्षा के समय केश रहित हो तो कोई आवश्यक नहीं, क्योंकि 11वीं प्रतिमा वाला श्रावक जिसने 2 दिन पूर्व ही बालों का लोंच किया हो, तो फिर दीक्षा के समय केशलोंच का क्या औचित्य होगा? परन्तु सामान्यतः दीक्षा के समय केश अपने हाथ से उखाड़ने ही होते हैं। कारण कि, इस पर से उसके आध्यात्मिक बल की तथा शरीर के प्रति उपेक्षित भाव की परीक्षा होती है, क्योंकि यदि नवागंतुक श्रमण का आध्यात्मिक वैराग्य कम या दीक्षा की दृढ़ता नहीं हुयी, तो ऐसा वह नहीं कर सकता है, और इससे जो किसी लौकिक कारणवश दीक्षा लेते हैं, उन पर तो कम से कम रोक लग ही जाती है और इससे शिथिलाचार भी पनप नहीं पाता है, यद्यपि यह बात अन्तिम तौर पर नहीं कही जा सकती है।

सामान्यतः 4 मास तक का केशलोंच जघन्य कहा जाता है, परन्तु ऋषभदेव आदि के उदाहरण भी प्राप्त हैं कि, जिन्होंने छह मास की तपस्या की अवधि में केशलोंच नहीं किया था। पद्मपुराण में इनकी ध्यान अवस्था का वर्णन करते हुए कहा कि "इन्द्रियों की समान अवस्था धारण करने वाले भगवान ऋषभदेव छह मास तक कायोत्सर्ग से सुमेरू पर्वत के समान निश्चल खड़े रहे। हवा से उठी हुयी उनकी अस्त- व्यस्त जटाएं ऐसी जान पड़ती थी, मानों समीचीन ध्यानरूपी अग्नि से जलते हुए कर्म के धूम की पंक्तियां हों।[92] श्रमण बाहुबली का स्वरूप भी इसी प्रकार का था। देखें - कन्धोंपर्यन्त लटकती हुयी केशरूपी लताओं को धारण करने वाले वे बाहुबली मुनिराज अनेक काले सर्पों के समूह को धारण करने वाले हरिचन्दन वृक्ष का अनुकरण कर रहे थे।[93] तपस्या की ऐसी स्थिति होते हुए

भी दीक्षा काल में राजा ऋषभदेव ने भी अपने बढ़े हुए बालों का लोंच किया था।[94]

भगवती आराधना में केशलोंच न करने के दोष-गुण बतलाते हुए कहा कि-केशलोंच न करने वालों के केश जूं आदि सम्मूर्च्छन जीवों के आधार होते हैं। और वे सम्मूर्च्छन जीव शयन आदि में दुष्परिहार होते हैं। तथा अन्यत्र से आये हुए कीट आदि देखे जाते हैं।[95] इसकी विजयोदया टीका में स्पष्ट करते हुए कहा कि जो बालों में तेल मर्दन नहीं करता, सुगन्धित वस्तु नहीं लगाता, उन्हें पानी से नहीं धोता, उसके केशों में सम्मूर्च्छन आदि जूं पैदा होते हैं। साधु के सोने पर, धूप में जाने पर, सिर से किसी के टकराने पर उन जीवों को बाधा पहुँचती है। बाधा का अर्थ है कि भिन्न देश, काल और स्वभाव होने से जीवों से जीवों को बाधा होती है। ऐसी स्थिति में उस बाधा को दूर करना अशक्य होता है, इस प्रकार केशलोंच न करने पर अहिंसा महाव्रत नहीं पलता है। यदि केशलोंच में केश कर्तन का विकल्प निकाला जाएगा तो प्रथम तो कर्तन में कैची आदि की अपेक्षा होने के कारण पराधीन है, एवं कर्तन के साधन मांगने पर दीनता आदि दोष एवं परिग्रह का प्रसंग प्राप्त होगा। तथा द्वितीय, कर्तन में केश-संस्कार आदि का प्रसंग आएगा और निर्विकार दशा प्राप्त नहीं हो सकेगी। अतः केश की लुंच प्रक्रिया ही सर्वोत्तम, सुगम एवं सहज-साधन है। आचार्य पद्मनन्दि ने भी इसी प्रकार के भाव व्यक्त किये हैं।[96]

लोंच के गुणों का कथन करते हुए आचार्य शिवार्य ने कहा कि "लोंच करने पर सिर मुण्डा हो जाता है। मुण्डना के होने पर निर्विकारता होती है। उससे विकार रहित क्रियाशील होने से प्रगृहीततर चेष्टा होती है।

इस सन्दर्भ में विजयोदया टीका में प्रश्न किया कि "सिर- मुण्डन मुक्ति का उपाय नहीं है, क्योंकि वह रत्नत्रय रूप नहीं है जैसे असत्य बोलना, तब इस अनुपयोगी गुण के कहने से क्या लाभ है ? इसके उत्तर में कहा है कि मुण्डन होने पर निर्विकारता होती है। लीला सहित, गमन, श्रृंगार, कथा, कटाक्ष द्वारा निरीक्षण ये सब विकार हैं, जो ये सब नहीं करता वह निर्विकार होता है, और जिसकी चेष्टाएं विकार रहित होती हैं, वह रत्नत्रय में उद्योग करता है।

एवं च केशलोंच से आत्मा दमित होती है और सुख में आसक्त नहीं होता है। तथा स्वाधीनता, निर्दोषता, और निर्ममत्व होता है। केशलोंच करने से आत्मा की धर्म में श्रृद्धा प्रदर्शित होती है। तथा अपने धर्म पर श्रृद्धा प्रकाशित करने से दूसरे की भी धर्म श्रद्धा उत्पन्न होती है, और उसमें वृद्धि होती है। इस तरह उपवृंहण नामक गुण भी भावित होता है। लोंच से कायक्लेश नामक उग्र तप होता है। तथा दुख सहन करने से अन्य दुःखों को भी सहन करने में समर्थ होता है। दुःख सहन करने से अशुभ कर्मों की निर्जरा होती है।[97]

केशलोंच करने की विधि बतलाते हुए आचार्य शिवार्य कहते हैं कि "शिर दाढ़ी और मूँछ के केशों का लोच हाथ की अंगुलियों से करते हैं। दाहिने हाथ से प्रारम्भ करके बाएं तरफ आवर्त रूप करते हैं।[98] यह केशलोंच करते समय शिर पर भस्म (राख) लगा लेते हैं,[99] ताकि बाल आसानी से पकड़ में आ जावे और यदि उखाडते हुए खून आदि निकले तो भस्म खून को बन्द कर सके तथा वह भस्म जीवाणु अवरोधक भी होता है।

इस प्रकार इस विधि से किया गया केशलोंच वैराग्य, परीषह जय और संयम का प्रतीक है। (श्वे.) उत्तराध्ययन में इसे कायक्लेश तप के अन्तर्गत रखा गया है।[100] अदीनता, निष्परिग्रहता, वैराग्य और परीषह की दृष्टि से श्रमणों को केशलुंचन करना आवश्यक मानते हुए मूलगुण में समाहित किया है।[101]

23. आचेलक्य :

दिगम्बर परम्परा में श्रमण को निर्वस्त्र रहना आवश्यक है, और निर्वस्त्र का सीधा अर्थ सम्पूर्ण नग्न ही माना है। इसके बिना उसके अपरिग्रह और अहिंसाव्रत असंभव माने हैं। वस्त्र परिग्रह हैं और उसकी स्वच्छता के लिए हिंसा आवश्यक है, जो कर्मबन्धन का ही कारण होने से कभी भी मुक्ति का कारण नहीं हो सकती है। इसी कारण इसको मूलगुण में समाहित किया है। भ. महावीर को इसी कारण निगण्ठनातपुत्र कहा गया। जैसे हाथी को उन्मार्ग में जाने से रोकने के लिए अंकुश आवश्यक है, वैसे ही इन्द्रिय विषय-भोगों से रोकने के लिए परिग्रह त्याग अत्यावश्यक है।

दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं में श्रमणों के लिए दस प्रकार का कल्प बतलाया है। कल्प, व्यवस्था या सम्यक् आचार को कहते हैं। इन दस कल्पों का पालन श्रमण को अवश्य करना होता है। अतः इन्हें स्थित कल्प कहते हैं। वे स्थित कल्प निम्न प्रकार से हैं:-

(1) अचेलकपना (2) उद्दिष्ट का त्याग (3) वसति कर्म के पिण्डादिक का त्याग (4) राजपिण्ड का त्याग (5) कृतिकर्म (6) महाव्रत (7) पुरुष की ज्येष्ठता (8) प्रतिक्रमण (9) षड्ऋतुओं में एक-एक महीना को एक स्थान पर रहना (10) वर्षाकाल में चार मास तक एक स्थान पर रहना।

यहाँ पर यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि इस कल्पों में महाव्रत को गिना देने पर भी अचेलक कल्प को पृथक् और सबसे प्रथम गिनाया है। इससे भी महावीर के अचेलक धर्म का समर्थन मिलता है।

"अचेलक" शब्द में चेल अर्थात् वस्त्र तो परिग्रह का उपलक्षण मात्र है। अतः अचेलकता का अर्थ तो सर्व परिग्रह का त्याग ही है। वस्त्र मात्र का त्याग करने से और शेष परिग्रह रखने से साधु नहीं होता। अतः यदि आचेलक्य से वस्त्र मात्र का ही त्याग कहा होता तो वस्त्र के सिवाय अन्य परिग्रह को ग्रहण करने वाला साधु होता ? लेकिन ऐसा नहीं होता है। अतः आचेलक्य का अर्थ तो वस्त्र को लेकर सर्व परिग्रह का ही त्याग समझना चाहिए। क्योंकि परिग्रह के लिए ही असि, मसि, कृषि आदि षड् कर्म करके मनुष्य प्राणियों का घात करता है। पराये धन को ग्रहण करने की इच्छा से उसका घात करता है, झूँठ बोलता है, चोरी करता है, अपरिमित तृष्णा करता है, और मैथुन करता है। ऐसा करने पर अहिंसा आदि व्रत नहीं हो सकते। किन्तु परिग्रह का त्याग करने पर अहिंसा आदि व्रत स्थिर रहते हैं।[102]

तत्वार्थ सूत्र में जो बाइस परीषहों की चर्चा में शीत, उष्ण, मच्छर, तृण स्पर्श परीषहों के सहन करने का उल्लेख है वह भी अचेलता को ही सिद्ध करता है। तथा यह सूत्र भी अचेलकता को बतलाता है।-"वस्त्रों का त्याग कर देने पर भिक्षु पुनः वस्त्र ग्रहण नहीं करता।[103] सदा भिक्षु अचेल होकर जिनरूप को धारण करता है। (श्वे.) दशवैकालिक सूत्र में कहा है कि नग्न, मुण्डित और दीर्घ नख और रोमवाले तथा मैथुन से विरक्त साधु को आभूषणों से क्या प्रयोजन है।[104] इस प्रकार अचेलता स्थिति कल्प है।

दिगम्बर परम्परा में तो अचेलता की प्रतिष्ठा है ही तथा श्वे. आगमों में भी इसको सम्माननीय स्थान मिला है; परन्तु अचेल साधु श्वे. परम्परा में अभी तक के इतिहास में प्रायः नहीं पाये जाते। हम यह तो पूर्व में ही सिद्ध कर आये हैं कि 24 तीर्थंकरों के द्वारा आचेलक्य का ही उपदेश दिया गया था। यहाँ पर हम आचारांग के लोकसार नामक पाँचवे अध्ययन में चारित्र का वर्णन है, वहाँ के उल्लेख को देखते हैं कि-

"लोक में जितने परिग्रह वाले हैं, उनका परिग्रह अल्प हो या बहुत, सूक्ष्म हो या स्थूल, सचेतन हो या अचेतन, वे सब इन परिग्रह वाले गृहस्थों में ही अन्तर्भूत होते हैं। इन परिग्रह वालों के लिए यह परिग्रह महाभय का कारण है, संसार की दशा जानकर इसे छोड़ो। जो इस परिग्रह को जानता भी नहीं है, उसे परिग्रह से होने वाला महाभय नहीं होता है।[105]

इस परिग्रह का यह स्वरूप बतलाते हुए अचेल होने को ही कहा है। आगे छठे अध्ययन के दूसरे उद्देश्य में कहा है कि-"इस प्रकार सुख्यात धर्मवाला और आचार का परिपालक जो मुनि कर्मबन्ध के कारण कर्मों को छोडकर अचेल अर्थात् वस्त्र रहित रहता था, उस भिक्षु को यह चिन्ता नहीं सताती मेरा वस्त्र जीर्ण हो गया है, वस्त्र मांगूगा, या जीर्ण वस्त्र को सीने के लिए धागा मांगूगा, आदि-आदि। इस प्रकार भ्रमण करते हुए उस अचेल

भिक्षु को तृण स्पर्श होता है, ठंड लगती है, गर्मी लगती है, डांस मच्छर काटते हैं। अचेलपने में लाघव मानता हुआ वह भिक्षु परस्पर में अविरुद्ध अनेक प्रकार के परिषहों को सहता है। ऐसा करने पर वह तप को अच्छी तरह धारण करता है। इस प्रकार भगवान महावीर ने भव्य जीवों को जो तृण स्पर्श आदि का सहन करना बतलाया है उसे सहन करो।[106] यद्यपि अचेल का ऐसा विधान होते हुए भी सू. 208-209-220 में अति अपवाद स्थिति में लज्जा सहन करने में असमर्थ होने पर वस्त्र ग्रहण बतलाया है, तथापि यहाँ झुकाव तो अचेल की तरफ इस (श्वे.) सम्प्रदाय के आदि काल में रहा है।

आगमिक साहित्य के विशिष्ट अभ्यासी पं. वेचरदास जी का कहना है कि "अंगों में दीक्षित होने वाले मुनि के लिए मात्र दो ही उपकरण-एक पात्र दूसरा रजोहरण ग्रहण करने की बात आती है।"[107]

मूल आगमिक साहित्य से हटकर उत्तरकालीन श्वेताम्बर साहित्य के आलोचन से ज्ञात होता है कि आचारांग में यद्यपि शीत असहिष्णु और लज्जालु भिक्षुओं के लिए जो वस्त्र और लंगोटी दी गयी थी, उसी ने महावीर के अचेलक धर्म को क्रमशः सचेल बना दिया। **कारणवश भी दी गयी सुविधा द्रोपदी का चीर है, जो मात्र बढना ही जानती है।** ठीक ऐसे ही जब लोगों के मन में यह बात बैठ गयी कि कठोर मार्ग से जिस लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता, उस लक्ष्य तक पहुँचाने को अपेक्षाकृत सुखद मार्ग भी है, तो कौन विवेकी सुखदमार्ग को त्यागकर दुःखद मार्ग से जाना स्वीकार करेगा। क्योंकि मार्ग साध्य नहीं अपितु साधन है। बौद्धों के यहाँ भी साधुओं को दी गयी सुविधा का किस सीमा तक दुरूपयोग किया यह उनके विनय पिटक ग्रन्थ में देखने को मिलता है। वही श्वेताम्बरीय सम्प्रदाय के श्रमणों में हुआ।

इस प्रकार से जब महावीर के अचेलक धर्म का अनुयायी भी क्रमशः इस प्रकार से अपनी मूल पहिचान को छोड बैठा; तो उनके सामने ज्वलन्त प्रश्न था कि फिर किस प्रकार से इन अचेलता के उल्लेखों को धूमिल किया जाए। क्योंकि इन उल्लेखों के रहते वे निःशंक, एवं अपनी प्रवृत्तिओं पर पूर्ण समर्थन प्राप्त नहीं कर सकते थे जैसा कि मैंने पूर्व में संघ- भेद के प्रकरण में लिखा है। अतः ऐसी विषम परिस्थिति में खोजे गये उपायों को श्वे. मुनि कल्याणविजय जी के ही शब्दों में देखें-"आचारांग के उस अचेलकता प्रतिपादक उल्लेख को जिनकल्प प्रतिपादक करार दिया जा चुका था, और उस समय के ग्रन्थकार चोलपट्टक की गणना स्थविर कल्पियों के मूल उपकरणों में कर चुके थे।"[108]

उस समय तो चोल पट्टक को परिग्रह न मानकर इससे अधिक को ही परिग्रह माना जाता रहा था, किन्तु थोडा सा परिग्रह स्वीकारने का परिणाम यह निकला कि श्रमणों के क्रमशः एक-एक वस्त्र की वृद्धि में एक बहुत बड़ा वस्त्रों का ढेर ही लग गया। इसे ही यदि

मुनि कल्याणविजय जी के शब्दों में ही देखें तो "पहले प्रति-प्रति व्यक्ति एक ही पात्र रखता था, पर आर्यरक्षित सूरि ने वर्षाकाल में एक मात्रक नामक अन्य पात्र रखने की जो आज्ञा दी, उसके फलस्वरूप आगे जाकर मात्रक भी एक अवश्य धारणीय उपकरण हो गया। इसी तरह झोली में भिक्षा लाने का रिवाज भी लगभग इसी समय चालू हुआ जिसके कारण पात्र निमित्तक उपकरणों की वृद्धि हुयी। परिणामस्वरूप स्थविरों के कुल 14 उपकरणों की वृद्धि हुयी। जो इस प्रकार से है-(1) पात्र (2) पात्रबन्ध (3) पात्रस्थापन (4) पात्र प्रमार्जनिका (5) पटल (6) रजस्त्राण (7) गुच्छक (8-9) दो चादर (10) ऊनीवस्त्र (11) रजोहरण (12) मुख वस्त्रिका (13) मात्रक (14) चोल पट्टक।

ये उपधि औघिक अर्थात् सामान्य मानी गयी और आगे जाकर इसमें जो कुछ उपकरण बढाये गये वे औपग्राहिक उपधि में संस्तारक, उत्तरपट्टक, दंडासन और दंड ये विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये सब उपकरण आज भी श्वेताम्बर श्रमण में पाये जाते हैं।

बढती हुयी वस्त्र की आवश्यकताओं को और अधिक प्रामाणिकता देने के लिए अचेलक प्रतिपादक आचारांग, स्थानांग एवं कल्पसूत्र के अचेलक वाक्यों को जिनकल्प प्रतिपादक कहा जाने लगा; और जब इतने से भी काम न चला तो अचेलक का अर्थ नाग्न्य जैसे स्पष्ट शब्दों की व्याख्याएँ भी परिवर्तित की जाने लगी और परिग्रह विरमण में भी आभ्यन्तर परिग्रह के ममत्व के त्याग पर ही जोर दिया जाने लगा यहाँ ऐसे कुछ स्थल प्रस्तुत हैं-

तत्वार्थ सूत्र श्वेताम्बर सम्मत पाठ में भी नाग्न्य परीषह का उल्लेख है। उसका अर्थ करते हुए सिद्धसेन गणि कहते हैं।[109] नाग्न्य परीषह का यह आशय नहीं है कि कोई उपकरण ही न रखा जाए जैसे कि दिगम्बर साधु लेते हैं; किन्तु प्रवचन में कहे हुए विधान के अनुसार नाग्न्य होना चाहिए। बीच में शिष्य प्रश्न करता है कि दस प्रकार के कल्प में आचेलक्य कल्प भी तो आवश्यक है, तो उसका उत्तर देते हुए गणी जी कहते हैं-"तुम्हारा कथन ठीक है किन्तु आचेलक्य जिस प्रकार कहा गया है उसी प्रकार करना चाहिए। तीर्थंकर जिनकल्प एक भिन्न ही है, तीर्थंकर जन्म से तीन ज्ञान के धारी होते हैं, और चारित्र धारण करने पर चार ज्ञान के धारी होते हैं। अतः उनका पाणिपात्री होना और एक देवदूष्य धारण करना युक्त है। किन्तु साधु तो उनके द्वारा उपदिष्ट आचार का पालन करते हैं। जीर्ण, खण्डित और समस्त शरीर को ढांकने में असमर्थ वस्त्र ओढते हैं। इस प्रकार का वस्त्र रखते हुए भी वे अचेलक ही हैं, जैसे नदी उतरते समय शिर पर कपड़ा लपेटे हुए मनुष्य सवस्त्र होने पर भी नग्न कहलाता है, वैसे ही गुह्यप्रदेश को ढांकने के लिए चोलपट्ट धारण करने वाला साधु भी नग्न ही है।"

गणी जी ने तो जिनकल्प को केवल "जिनों" की ही वस्तु कही है, मानों उनके अनुयायी धारण कर ही नहीं सकते। शायद गणी जी के समय मात्र चोलपट्ट ही प्रचलित हो। परन्तु अधिक वस्त्रों की परम्परा चली तो परवर्ती श्रमणों ने भी उसी उक्ति का सहारा लेकर अपने वृद्धिंगत वस्त्रों को मान्यता प्रदान की। दशवैकालिक में एक सूत्र आया है-

"नगिणस्य वा वि मुण्डस्य दीहरोमनहंसिणो ।
मेहुण - उवसंतस्य कि विभूसाई कारिअं ।। 64।।

इसमें कहा है कि नंगे, मुंडे हुए, दीर्घ रोम और दीर्घ नख वाले तथा मैथुन से विरत साधु को आभूषणों से क्या प्रयोजन है ? इसके "नगिणस्स" पद का अर्थ चूर्णिकार ने तो नग्न ही किया है यथा-नागिणो णग्गो भण्णई" किन्तु हरिभद्र[110] सूरि ने नग्न के उपचार नग्न और निरूपचरित नग्न ये दो भेद करके कुचेलवान् साधु को उपचरित नग्न कहा है, और जिनकल्प को निरूपचरित नग्न कहा है। परन्तु यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि दशवैकालिक सूत्र में भी जिनकल्प और स्थविर कल्प का ऐसा निर्देश नहीं है।

जब तक श्वेताम्बर सम्प्रदाय में अल्पचेल की पद्धति प्रचलित रही, तब तक टीकाकारों[111] को इस अचेल का अर्थ अल्पचेल करते हुए पाते हैं। किन्तु जब साधु अधिक वस्त्र रखने लगे तो अचेल का अल्पचेल अर्थ संगत नहीं रहा। अतः तब अचेल[112] का अर्थ कम मूल्य वाले वस्त्र किया जाने लगा।

यहाँ यदि अचेल और नाग्न्य का अर्थ अल्पचेल या अल्पमूल्य चेल धारण करना हो तो अचेल या नाग्न्य परिषह नहीं बन सकती, कम या कम मूल्य के वस्त्र धारण करना साधु के लिए परीषह नहीं है। अल्प वस्त्र धारण करने से शीत ऋतु में शीत की बाधा हो सकती है, डांस मच्छर से बचना कठिन हो सकता है। किन्तु उसके लिए तो शीत परीषह और दंसमसक परीषह गिनाई गयी है। नाग्न्य परीषह तो तभी सफल है जब मनुष्य यथाजात रूप हो उसकी कामेन्द्रिय निरावरण हो।[113]

दशवैकालिक सूत्र के छठवें अध्ययन में लिखा है-

जं वि वत्थ व पायं वा कंवलं पायपुंछणं ।
तं वि संजमलज्जहा धरंति परिहरंति अ ।। 19।।

इसका अर्थ करते हुए हरिभद्र सूरि ने लिखा है कि "पात्र वगैरह संयत के लिए है और वस्त्र लज्जा के लिए है। वस्त्र बिना स्त्री आदि की उपस्थिति में विशिष्ट श्रुताभ्यास से रहित साधु निर्लज्ज हो सकता है।" इससे यह स्पष्ट है सच्चा श्रमण महा-परीषह

स्वरूप है, और उसके बचने के लिए ही वस्त्र धारण किया जाता है। अतः जो सवस्त्र है उसे नाग्न्य परीषह नहीं होती। और यदि महामूल्यवान रंग-बिरंगे वस्त्र धारण करने वाले भी निर्ग्रन्थ श्रमण कहे जाते हैं तो सग्रन्थ किसे कहा जाएगा ?

अतः निष्कर्ष रूप में कहा जाएगा कि परिग्रह रहित श्रमणों की दशा नग्न ही होती है। यद्यपि यह कोई नियम नहीं कि जो नग्न हो वह परीषह-जयी हो ही हो; क्योंकि ऐसे तो पागल आदि पुरूष आदिवासी पुरूष एवं पशु आदि भी नग्न होते हैं। उन्हें भी श्रामण्य भाव को प्राप्त मानना पड़ेगा। अतः बाह्य से अन्तरंग की व्याप्ति नहीं परन्तु जिसके अन्तरंग में महावैराग्य एवं निर्ग्रन्थता के भाव होंगे वह निश्चित ही बाहर में भी महावैराग्य रूप नग्न है। अतः अन्तरंग से बाहर की व्याप्ति है। जो पुरूष अपने स्वरूप में मग्न होगा उसे बाहर की धोती, पायजामा आदि की गांठ बाँधने की आदत ही कहाँ होगी। अतः वह तो स्वयं ही नग्न वृत्ति को धारण कर लेगा। वस्तुतः श्रमण अतीन्द्रिय आनन्द में इतने ज्यादा मग्न होते हैं कि, बाह्य शरीर की क्या स्थिति है इसका विकल्प ही नहीं रहता अतः शरीर नग्न हो जाता है।

एक वैज्ञानिक आर्केमिडीज का प्रसंग है कि उसे अपने किसी सूत्र की खोज नहीं हो पा रही थी, जिससे दिन-रात वह उसके चिन्तन में रहता था। एक दिन नग्न स्नान करते हुए उसे सूत्र का समाधान मिला, तो वह उसी दशा में अत्यन्त भाव विभोर होकर नग्न ही सड़कों पर दौड़ता हुआ, दूरस्थ राजा के पास पहुँचा। राजा ने कहा कि तुम नग्न हो, पहले कपडे पहिन कर आओ। परन्तु उस वैज्ञानिक ने एक भी नहीं सुनी, और जब अपने खोजे गये सूत्र को बतला दिया तब उसे शरीर के प्रति भी विचार आया। वस्तुतः यही स्थिति नग्न जैन श्रमणों की है। वे अपने द्वारा खोजे गये अपने स्वरूप की सत्ता में इतने लीन रहते हैं, और उसमें इतने भाव विभोर रहते हैं कि बाह्य वस्त्रादिक की चिन्ताएँ-उन्हें पहिनना, साफ करना, आदि से दूर होकर निर्विकार नग्न रहकर विचरण करते हैं। ऐसे निर्विकार पुरूष को देखकर स्त्रियाँ कामासक्त भी नहीं होती हैं। वस्तुतः स्त्रियाँ जब कामी की भाषा पहिचानती हैं, तो अकामी की भी भाषा जानकर अकाम भाव को प्राप्त करतीं हैं।

अतः संक्षिप्त निष्कर्ष में वस्त्र रहित स्वरूप जनता में विश्वास पैदा करने वाला होता है। विषयों से होने वाले शारीरिक सुख में अनादर भाव होता है। सर्वत्र स्वाधीनता रहती है और परीषह को सहना होता है। अतः **आचेलक्य वेष ही श्रमण का सर्वश्रेष्ठ लिंग हो सकता है।**

24. अस्नान व्रत :

जल से स्नान करने से जलकाय और त्रस जीवों की विराधना होती है, तथा शरीर के प्रति ममत्वभाव भी उत्पन्न होता है, स्नान करने से प्राणिसंयम एवं इन्द्रियसंयम इन दोनों

संयमों का घात होता है। अतः साधुगण दोनों प्रकार के संयम की रक्षा करने के लिए स्नान का त्याग करते हैं। इससे कषाय का निग्रह रूप इन्द्रिय संयम और जीवों की रक्षा रूप प्राणि संयम का पालन होता है।

मूलाचार गा.31 की आचारवृत्ति में, अस्नान व्रत में, उबटन लगाना, आँख में अंजन डालना, गर्मियों के समय पर मस्तकादि में जल का छिडकना, आदि क्रियाएँ जो कि शरीर के अंग उपांगों को सुखकर हैं उनका परित्याग करना स्नानादि वर्जन बतलाया है।

यथार्थ दृष्टि से देखा जाए तो स्नान के द्वारा शरीर तो शुद्ध नहीं होता है, बल्कि जीव हिंसा एवं आरम्भ आदि ही उससे होते हैं। यही कारण है कि श्रमणों के मूलगुण में ही उसका निषेध किया गया है। स्नान का उद्देश्य पवित्रता प्राप्त करना होता है। श्रमण अपनी चेतना में ही श्रद्धावनत होते हैं, अतः उसको ही पवित्र रखना चाहते हैं। इसी तथ्य को उद्घाटित करते हुए आ. **पद्मनन्दि** ने **"स्नानाष्टकम्"** में कहा है कि **"चित्त में पूर्व के करोड़ों भावों में संचित हुए पाप कर्म रूप धूलि के सम्बन्ध से प्रगट होने वाले मिथ्यात्व आदि मल को नष्ट करने वाली जो विवेक बुद्धि उत्पन्न होती है, वही वास्तव में साधुओं का स्नान है।** इससे भिन्न जो जलकृत स्नान है वह प्राणी समूह को पीडाजनक होने से पापोत्पादक है। अतः उससे न तो धर्म सम्भव है और न ही स्वभाव से अपवित्र शरीर की पवित्रता ही संभव है।[114]

इस प्रकार से चारित्र के अभिलाषी मुनि के स्नान आदि के न करने से जल, मल, एवं स्वेद से सर्वांग लिप्त हो जाने पर भी जो महाव्रत से पवित्र है, वह अस्नान नामक व्रत अत्यन्त गुणरूप है एवं दो प्रकार के संयम की रक्षा करने वाला है अर्थात् यहाँ स्नानादि का वर्जन करने से मुनि के अशुचिपना नहीं होता है, क्योंकि उनके व्रतों से पवित्रता मानी गयी है।

25. भूमि शयन :

श्रमण के अट्ठाइस मूलगुणों में एक भूमिशयन नामक मूलगुण भी है। इस मूलगुण का भाव स्पष्ट ही है कि भूमि अर्थात् जमीन/पृथ्वी को भूमि कहते हैं। इस मूलगुण का विशेष वर्णन भगवती आराधना में प्राप्त नहीं होता है। जमीन पर शयन का कारण यह है कि इससे अहिंसा महाव्रत का पालन होता है क्योंकि यदि पहले से तृणादिक पडे हुए होंगे तो उसके अन्दर विद्यमान जीवों का घात होगा। अतः उसका निषेध ही किया गया है। परन्तु यदि ऐसा संभव न हो सके, (स्वास्थ्य आदि खराब हो, या सल्लेखना का समय हो) तो स्वयं अपने हाथ से भूमि पर बहुत मामूली सी घास आदि शुद्धि पूर्वक डाले। वह भी अपने शरीर प्रमाण हो। शरीर प्रमाण का अर्थ है कि- वह तृण आदि शरीर के बराबर लम्बाई-चौडाई में ही मामूली बिछाया गया हो, अधिक न हो एवं काठ और शिलापट्ट पर

भी वह शयन कर सकता है। मूलाचार की आचार वृत्ति में कहा है[115] तृणादिक स्वयं के द्वारा बिछाया गया हो तो उसी पर शयन कर सकता है, अन्य के द्वारा बिछाये गये तृण पर नहीं शयन कर सकता है जैसा कि आजकल कुछ साधु करते हैं। जिससे बहुत संयम का घात न हो ऐसा अत्यन्त अल्प तृण ही ग्राह्य होना चाहिए एवं च तृण, काठ, शिलापट्ट में से किसी एक का ही प्रयोग कर सकता है। तृणादिक का प्रयोग तो विशेष परिस्थिति में ही किया जा सकता है। आचार्य पद्मनन्दि ने तो तृणादिक के प्रयोग को दुर्ध्यान का कारण बतलाया है। उन्होंने कहा कि इन दिगम्बरों के गृहस्थ के योग्य अन्य स्वर्णादिक का ग्रहण करना तो बने ही कैसे ? उनके तो **शय्या के लिए त्रणादि का ग्रहण करना अंगीकार करना भी दुष्टध्यान का कारण पाप का कारण तथा निर्ग्रन्थ की हानि का कारण होता है एवं लज्जास्पद** होता है परन्तु क्या करें ? अब जो निर्ग्रन्थों के भी ग्रहण है सो यह कलिकाल का ही अतिशय ग्रहण करके प्रवेश हुआ है।[116]

आ.पद्मनन्दि ने जिस तृणादिक को दुर्ध्यान का कारण कह कर विरोध किया और उस तृण को परवर्ती ग्रन्थकारों ने प्रथम तो समर्थन करते हुए आंशिक रूप से अपवाद स्थिति में स्वीकार किया। परन्तु वर्तमान में इसको पूर्णतः स्वीकार कर लिया गया है। मैंने इस मूलगुण के एक सर्वे में देखा कि आज अधिकांश जैन श्रमण शरीर प्रमाण तो क्या एक-एक फिट तक की मोटाई रूप में तृण के ऊपर, सम्पूर्ण शयन क्षेत्र में दूसरों के द्वारा बिछाये गये तृणों पर शयन करते हैं। मैंने देखा कि मुनि निर्वाण सागर आदि कुछ ही इसके अपवाद हैं, वे तृणचटाई आदि का उपयोग नहीं करते हैं।

जहाँ पर स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक लोग न होवें और असंयत जनों के आने-जाने से रहित हो ऐसे गुप्त एकान्त प्रदेश साधु के शयन करने के योग्य हैं। वहाँ पर दण्ड के समान शरीर को करके अर्थात् दण्डाकार या धनुष के समान शयन तथा रात्रि के पिछले प्रहर पर किंचित मात्र ही शयन करना चाहिए। यह भूमि शयन मूलगुण स्वरूप है।

26. अदंत धोवन :

अंगुली, नख, दांतोन एवं तृण विशेष के द्वारा पत्थर या छाल आदि के द्वारा दाँत के मल का शोधन नहीं करना यह संयम की रक्षा रूप अदन्त धावन व्रत है तथा इससे वीतरागता की पुष्टि एवं प्रसिद्धि होती है।

27. एकभुक्ताहार :

उदय एवं अस्तकाल में से तीन-तीन घडी से रहित मध्यकाल के एक, दो अथवा तीन मुहूर्त काल में एक बार भोजन करना यह एकमुक्त मूलगुण है।

28. स्थिति भोजन (खड़े-खड़े भोजन) :

दिगम्बर परम्परा में श्रमण को खड़े-खड़े हाथ में ही भोजन करने का विधान है। खड़े-खड़े भोजन करने का मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि प्रथम तो खड़े-खड़े भोजन करने में आकण्ठ उदरपूर्ति नहीं हो पाती है जिससे प्रमाद नहीं होता है। दूसरा कारण है कि कदाचित् बैठकर आहार लें तो कभी श्रेष्ठ सिंहासन मिले तब हर्ष होय, और न मिले तब द्वेष होय, इस भांति राग द्वेष होते संयम का अभाव होय।[117] स्थिति भोजन का तात्पर्य यह भी है कि "जब तक खडे होकर और अपने हाथ को ही पात्र बनाकर उन्हीं के द्वारा भोजन करने की सामर्थ्य रखता हूँ, तभी तक भोजन करने में प्रवृत्ति करूँगा, अन्यथा नहीं। इस प्रतिज्ञा का निर्वाह और इन्द्रिय संयम तथा प्राणि संयम साधन करने के लिए श्रमणों को स्थिति भोजन का विधान है।[118] दिगम्बर परम्परा में तो यह चर्या अद्यावधि अक्षुण्य है। परन्तु श्वेताम्बर परम्परा में उनकी मान्यतानुसार महावीर तो स्थिति भोजन ही करते थे[119]। परन्तु इस परम्परा में बैठकर एवं पात्र में भोजन करने की प्रथा है। भगवान बुद्ध प्रारम्भिक काल में पाणिपात्री एवं स्थित भोजन करने वाले थे, परन्तु जब उन्हें यह दुष्कर लगा तो उन्होंने नवीन धर्म चलाया लेकिन श्वेताम्बर परम्परा इतना न कर सकी और वह महावीर की ही अनुयायी बनी रही।

स्थित होकर आहार की विधि बतलाते हुए आशाधर जी कहते हैं कि "हाथ धोकर यदि स्थान पर चींटी आदि चलते-फिरते दिखायी दें या इसी प्रकार का कोई अन्य निमित्त उपस्थित हो तो साधु को मौनपूर्वक दूसरे स्थान पर चले जाना चाहिए। तथा जिस समय भोजन करें उसी समय दोनों पैरों के मध्य में चार अंगुल का अन्तर रखकर तथा हाथों की अंजुली बनाकर खडे होवे। जितने समय तक साधु भोजन करे उतने समय तक ही उन्हें इस विधि से स्थित रहना चाहिए।[120]

समीक्षा:-

पूर्वोक्त कहे श्रमण के स्वरूप में संक्षिप्त रूप में सामायिक तथा विस्तार रूप से 28 मूलगुणों का एक मात्र उद्देश्य जीव-दया पूर्वक आत्मशान्ति प्राप्त करना रहा है, जो कि मूलगुणों के विवेचन से स्पष्ट ही होता है। मूलगुणों में सबसे पहिले अहिंसा महाव्रत को रखने का भी यही कारण रहा है, और यही शेष सभी मूलगुणों में छाया रहा है। सत्यमहाव्रत, अचौर्य अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य में पापों से विरतिपूर्वक दूसरों के प्राणों की रक्षा ही साध्य है। इसी प्रकार पंचइन्द्रिय विजय में भी, इन्द्रिय द्वारा परद्रव्यों में आसक्ति और उनकी प्राप्ति के प्रयत्न में होने वाली हिंसा से बचने का उद्देश्य है। तथा इन्द्रियों को जीतने के लिए कहा,ताकि जब यह इन्द्रियजयी हो जाएगा, तो फिर उनकी आसक्ति में होने वाली हिंसा नहीं होगी, तथा आत्मसाधना सुलभ होगी। इसी तरह पंच समिति के माध्यम से जैनाचार्यों ने जीवों की सम्पूर्ण जीवन पद्धति को पकड़ा है। संज्ञी पंचेन्द्रिय प्राणी में

मुख्यतः पाँच प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं, और उनसे हिंसा के अवसर होते हैं। प्रथम,जीव पैदा होता है, तो वह चलता है, बोलता है, भाषा का प्रयोग करता है, शक्ति का संचय होने पर शरीर की प्रवृत्ति होती है। शरीर की शक्ति का उपयोग सामान्यतः परद्रव्यों को हिलाने-डुलाने, उठाने-धरने में करता है। शरीर में भोजन ग्रहण कराके मांस-मंजा-वीर्य आदि के द्वारा शक्ति संचित होकर अवशिष्ट सामग्री बाहर निकलती है। यह एक मानव की सम्पूर्ण सामान्यतः जीवन क्रिया होती है। यह प्रक्रिया विवेक और अविवेक इन दो शैलियों में आयोजित होती है। श्रमण की यह जीवन दशा किस शैली में आयोजित हो, इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु यदि श्रमण को चलने का विकल्प हो तो सूक्ष्म जीवों तक को बचाते हुए चले; यदि बोलने का विचार उठे तो, वही एवं उतना ही बोले कि जिससे जीवों का हित हो, अपने संघ के अलावा गृहस्थ जनों को आदेश देने का उसे अधिकार ही नहीं है, इस प्रकार वह हित-मित-प्रिय वचन ही बोले, आहार का विकल्प हो तो योग्य, निर्दोष, शुद्ध भोजन ही करे, वस्तुओं को उठाने-रखने का विकल्प हो तो जीव दया का विशेष ध्यान रहे। यहाँ तक कि यदि मल-मूत्र त्याग का भी विकल्प हो तो समुचित, निर्विघ्न, लोकापवाद रहित, अहिंसक स्थान पर ही वह ऐसा करे।

वस्तुतः जिस श्रमण ने राग-द्वेष- मोह जन्य अपने आत्मा की हिंसा को बचाया, ऐसे सच्चे अहिंसक के बाह्य प्रवृत्ति ही ऐसी होती है। उसकी अहोरात्र चर्या षडावश्यकों में ही आयोजित रहती है। इसके साथ अन्य कार्य जैसे केशलोंच में उसकी सिंह एवं स्वाभिमान वृत्ति आचेलक्य उसके शारीरिक पक्ष पर भी उत्कृष्ट उदासीनता, निर्विकारता की चरम स्थिति उसके आदर्श परिणामों की मूर्ति एवं विशिष्ट विश्वसनीयता का आधार है। अस्नानव्रत, शरीर के श्रृंगार की अनावश्यकता की परिचायक, और आत्मिक श्रृंगार एवं पवित्रता की प्रसिद्धि; भूमि शयन, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य में इन्द्रिय दम की दृष्टि तथा अदंत धोवन, एक भुक्ताहार, स्थिति भोजन भी उत्कृष्ट तप तथा शरीर के प्रति अनैकान्तिक दृष्टिकोण की परिचायक है। क्योंकि भोजन करते हैं और नहीं भी करते हैं। भोजन करते तो इसलिए हैं कि शरीर की स्थिति बनी रहे, परन्तु अति अल्प करते हैं, अतः भोजन नहीं भी करते हैं। इस प्रकार उनके 28 मूलगुण अहिंसा एवं अपरिग्रह के इर्द-गिर्द ही ठहरते हैं, अथवा कहें परम सामायिक के सहचर हैं। अन्तरंग परम सामायिक के होने पर बहिरंग शुद्धि होती ही है, किन्तु बहिरंग जीवों के दया में प्रमाद एवं परिग्रह की अभिलाषा में निर्मल शुद्धात्मानुभूति रूप शुद्धि नहीं होती है। विशेष प्रकार के वैराग्य पूर्वक परिग्रह का त्याग होता है तब ही चित्त शुद्धि होती है। लेकिन यदि ख्याति-पूजा-स्वर्ग इत्यादिक भोग सामग्री के लाभ की अभिलाषा के कारण बहिरंग श्रमण दशा धारण होने से चित्त शुद्धि नहीं होती है; तब तो वह वेशी है मुनि नहीं।[121] अतः ऐसी दशा में उसके 28 मूलगुण एक स्वांग मात्र है चित्त शुद्धि पूर्वक किया गया बाह्याचरण ही 28 मूलगुण की आत्मा है।

यहाँ यह ज्ञात होना चाहिए कि जैनधर्म में इन 28 मूलगुणों को हीनाधिक न होने की बात भी कही है,[122] अर्थात् इन 28 मूलगुणों में यदि एक गुण भी कम होगा तो वह जैन श्रमण नहीं है। इसका भाव इतना मात्र है कि इन क्रियाओं को विपरीत रूप से करता है तो वह संयम भ्रष्ट है। उपर्युक्त क्रिया में से किसी-किसी में प्रवृत्ति ही न हो तो श्रामण्य में दूषण नहीं है। जैसे समिति स्वरूप में देखें कि यदि श्रमण चले तो ईर्या-समिति के पालन का प्रश्न उठेगा और यदि वह कुछ दिन/मास चले ही नहीं तो उसके ईर्या- समिति आदि न होने से ईर्या समिति का पालक समझा जाए ? जैसे कि बाहुबली तपस्या हेतु एक वर्ष तक खडे रहे, तो उनके पाँचों समिति नहीं हुयी। आहार ही नहीं किया तो एक भुक्ताहार कैसे संभव ? और स्थिति भोजन कैसे रहा ? खुले में रहने से अस्नानव्रत कैसे रहा, शयन ही नहीं तो भूमिशयन कैसे ? व्रतों में अतिचार न लगने से आलोचनादिक कैसे ? जबकि वे सच्चे श्रमण थे। इसी प्रकार अन्य अनेकों श्रमणों के साथ संगत बैठता है। अतः निष्कर्ष रूप में 28 मूलगुणों के हीनाधिक न होने के निर्देश का भावार्थ यही है कि, यदि वह कोई भी बाह्य क्रिया करेगा तो वह 28 मूलगुण की सीमा का अतिक्रमण नहीं करेगा। **28 मूलगुण श्रमण के शुभ भावों का मापदण्ड है।** अतः इस कोटि के शुभ भावों जैसा ही उसका जीवन होगा। श्रमण की विकल्पात्मक भूमिका में ये मूलगुण आचरणीय हैं, ध्यानावस्था में इनका स्थान नहीं है। इसी कारण श्रमण बाहुबली एक वर्ष तक तप करते रहे, केशलोंच न करने एवं खुले में रहने से पानी पड़ने पर भी स्नान-जन्य पाप के भागी नहीं हुए। परन्तु इस आधार पर वर्षात् में बुद्धि पूर्वक पानी में खडे होकर स्नान की पूर्ति नहीं की जा सकती है। अतः यह कहा जा सकता है कि यदि श्रमण को बाह्य क्रिया का कोई विकल्प होगा तो वह 28 मूलगुणों की परिधि में ही होगा, न ही उस परिधि का उल्लंघन होगा और न ही संकोचन-यही मूलगुणों का स्वरूप है।

श्रमण दीक्षा की पात्रता :

जगत् में प्रत्येक कार्य की सम्पन्नता के लिए कार्यवाहक को उस कार्य में दीक्षित होने के लिए कुछ न कुछ पात्रता की आवश्यकता होती है। कार्य कोई न कोई आधार को लिये हुए ही होता है, बिना आधार के कोई कार्य सम्पन्न नहीं होता है। उसी प्रकार श्रमण चर्या में दीक्षित होने के लिए उसके योग्य आधार की अत्यन्त आवश्यकता होती है। **जैसे सिंहनी का दूध स्वर्ण के पात्र में ही टिकता है, उसी प्रकार श्रमण दीक्षा का भी आधार उत्कृष्ट शुभभावात्मक सदाचारमय जीवन होता है।** साथ ही दीक्षा लिये जा रहे पद की पूर्णतः जानकारी होना भी आवश्यक है, यह ही राजमार्ग है। इसीलिए मैंने श्रमण के स्वरूप विवेचन में प्रथम 28 मूलगुणों पर विस्तृत विचार किया, तत्पश्चात् ही दीक्षा की पात्रता का विवेचन कर रहा हूँ। श्रमण का स्वरूप समझे बिना एवं उसकी पात्रता का ज्ञान किये बिना धारण की गयी श्रमण चर्या सम्यक् एवं चिरस्थायी नहीं होती है। तभी तो राजा ऋषभदेव के साथ दीक्षित हुए 4 हजार राजाओं ने दीक्षा का स्वरूप समझे बिना एवं अपनी सामर्थ्य एवं परिणाम की तौल किये बिना ही दीक्षित होने पर पुनः भ्रष्ट होकर उन्मार्गी बने। अतः

श्रमण दीक्षा के पूर्व उसका स्वरूप समझना भी अत्यन्त आवश्यक है।वस्तुतः दीक्षा लेना आसान है, भावुकता में आकर कोई भी व्यक्ति दीक्षा ले सकता है, परन्तु उसका यथार्थ निर्वाह सब किसी से नहीं हो सकता है।[123]

तन्त्रवार्तिक में दीक्षा शब्द की व्युप्पत्ति परक अति सुन्दर अर्थ किया है-

"दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुबन्धनम्।
दान-क्षपण-सामर्थ्याद् दीक्षा सा कथिताबुधैः।।

अर्थात् दीक्षा का आद्य अक्षर ज्ञानसद्भाव दान परक है तथा अन्त्य अक्षर पशुबन्धन जन्म- बन्धन के क्षय का सूचक है। इस प्रकार दान और क्षपण के सामर्थ्य से युक्त विधि को दीक्षा कहते हैं। दीक्षा की पात्रता के सम्बन्ध में आ. वीरनन्दि ने आचारसार में स्पष्ट करते हुए कहा कि,प्रथम तो जिसने सांसारिक इन्द्रिय जन्य भोग को हेय एवं उनको आत्मिक गुणों का घातक होने का विचार किया है; तथा संसार शरीर और भोगों से उत्पन्न हुयी क्लेश रूपी अग्नि से जिसका हृदय सन्तप्त है जो अक्षय, अविनाशी पदरूपी अमृतानन्द का अन्वेषण करने का इच्छुक है, जिनवाणी के श्रवण आदि गुणों से जिसकी बुद्धि पवित्र हो गयी है, श्रेष्ठ भव्यता का जो भूषण है, जिसने अन्य मिथ्यादृष्टियों कथित चारित्र के दूषण को जान लिया है। तदनन्तर राग द्वेष से उत्पन्न संसार रूपी कारागृह से भीरू, शूद्रवर्ण से रहित, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण वाला, अखण्डित अंगयुक्त, राजा और लोक से अविरुद्ध, पारिवारिक जनों से अनुमति लिया हुआ वह भव्य, आचार्यवर के समीप जाकर दीक्षार्थ निवेदन करता है।[124]

आ. वीरनन्दि के उपर्युक्त अंश के आधार पर यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि, श्रमण-दीक्षा के लिए समुचित पात्रता अत्यन्त अपेक्षित है, और वे पात्रताएं अनेक रूपों में पायी जाती हैं। जिनका विभाजन हम निम्न प्रकार से कर सकते हैं।

1. संसारिक विषयों की तुच्छता अनुभव करते हुए उत्कृष्ट यथार्थ वैराग्य का धारक हो।
2. सत्यान्वेषिणी बुद्धिपूर्वक तत्वों के हेय-ज्ञेय-उपादेय रूप से आत्महितकारी तत्वों का निर्णय कर लिया हो।
3. जिनवाणी के श्रवण से जिसकी बुद्धि पवित्र हो गयी हो।
4. मिथ्यादृष्टियों द्वारा कथित चारित्रिक दूषण का भी परिज्ञान हो।
5. कुल से श्रेष्ठ, परिपूर्ण अंगवाला एवं लोकविरुद्ध कार्यों से दूर हो।
6. पारिवारिक जनों को सूचित करके आया हो।

पात्रता के उपर्युक्त षडाधारों की अत्यन्त आवश्यकता है। जैनधर्म में दीक्षा के प्रसंग अधिकांशतः पूर्व में संचित ज्ञान वैराग्य का प्रबल प्रवाह तथा साथ ही दैवात् किसी श्रमण का संयोग एवं उनसे धर्म श्रवण और फिर दीक्षित, अथवा वैराग्य की मंदगति में जब मृत्यु या संसार की क्षण भंगुरता का दर्शन, तदनंतर वैराग्य का प्रबल प्रवाह तदनुसार श्रमण दीक्षा अंगीकार, यह ही श्रमण दीक्षा के प्रसंगों का सार कहा जा सकता है। विभिन्न दीक्षार्थियों के दीक्षा प्रसंगों को जैन पुराणों के सन्दर्भ में भी देखा जा सकता है।

प्रथम, रविषेणाचार्य विरचित पद्मपुराण के दीक्षा प्रसंग प्रस्तुत कर रहे हैं।

"इन्द्रजीत और मेघवाहन ने अनन्तवीर्य मुनिराज से अपने भव पूँछे। ------ अपने अनेक भव सुनकर संसार सम्बन्धी वस्तुओं में प्रीति छोड़, परम संवेग से युक्त होकर इन्द्रजीत और मेघनाद ने कठिन दीक्षा धारण कर ली। इनके सिवाय जो कुम्भकर्ण तथा मारीचि आदि अन्य विद्याधर थे, वे भी अत्यन्त संवेग से युक्त होकर कषाय तथा रागभाव छोड़कर उत्तम मुनि पद से स्थित हो गये।[125]

2. भरत यद्यपि 150 स्त्रियों के स्वामी थे। सुन्दर महलों के निवासी थे, तथापि संसार से सदा विरक्त रहते थे। वे राम के वनवास के पूर्व ही दीक्षा लेना चाहते थे, पर ले न सके। राम के आगमन पर उनका वैराग्य प्रकृष्ट हो गया, राम लक्ष्मण ने उनको बहुत रोका। कैकेयी बहुत दुःखित हुयी, परन्तु कोई असर न पड़ा। अन्त में उनकी भाभियों ने अनुरक्त करने के उद्देश्य से जलक्रीडा का प्रस्ताव रखा, विनीत भरत को भाभीयों की भावनाओं का सम्मान करना पडा। परन्तु विभिन्न क्रीडायें उनको प्रभावित न कर सकी। इसी बीच त्रिलोक मण्डन गजराज के उपद्रव के कारण बात आयी गयी हो गयी (83 पर्व तक)। कालान्तर में (86 पर्व से) भरत का महामुनि देशभूषण के मुख से अपने भवान्तर का परिज्ञान होने पर वैराग्य उमडता है। वे अत्यन्त संवेगी होकर विनीत स्वर में दीक्षा याचना करते हैं, एवं समस्त परिग्रह का त्यागकर पर्यङ्कासन से स्थित हो महाधैर्य से युक्त अपने हाथ से केशलुंच कर डालते हैं। भरत के अनुराग से प्रेरित होकर "कुछ अधिक एक हजार राजाओं ने क्रमागत राजलक्ष्मी का परित्याग कर मुनिदीक्षा धारण की। जिनकी शक्ति हीन थी ऐसे कितने ही लोगों ने मुनिराज को नमस्कार कर विधिपूर्वक गृहस्थ धर्म धारण किया (अनुग्रशक्तयः केचिन्नमस्कृत्य मुनि जनाः अपासांचक्रिरे धर्म विधिनागार संगतम्।। 86/12)। जो निरन्तर अश्रुओं की वर्षा कर रही थी, तथा जिसकी चेतना अत्यन्त आकुल थी, ऐसी भरत की माता कैकेयी घबडाकर उनके पीछे-पीछे दौडती जा रही थी, सो वह बीच में ही पृथ्वी पर गिर पडी एवं मूर्च्छित हो गयी। कालान्तर में उसने सोचा कि "मैं भी ऐसा कार्य करूँगी जिससे पापों से मुक्त होऊं" वह जिनेन्द्र प्रणीत धर्म से तो पहले ही प्रभावित थी, इसलिए महान् वैराग्य से युक्त हो एक सफेद साडी से युक्त हो गयी। तदनन्तर निर्मल सम्यक्त्व को धारण करती हुयी उसने तीन सौ स्त्रियों के

साथ-साथ पृथिवीमती नामक आर्यिका के पास दीक्षा ग्रहण कर ली। (प.पु.86/17-24)

3. मथुरा का राजा मधु शत्रुघ्न से घमासान युद्ध में अत्यन्त घायल हुआ। जिससे वह बड़ी धीरता एवं पश्चात्ताप के साथ दिगम्बर मुनियों के वचनों का स्मरण करने लगा, तथा अपने प्रमाद पर विभिन्न दृष्टिकोणों से पश्चात्ताप करने लगा। ऐसी दशा में जीवन-पर्यन्त सावद्य योग का त्याग करके प्रत्याख्यान में तत्पर होता है। तत्वविचार में तत्पर हुआ वह पंचपरमेष्ठी को स्मरण करता हुआ समीचीन ध्यान में आरूढ़ हो, अंतरंग एवं बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह छोडकर ही बाह्य में हाथी पर बैठे-बैठे ही उसने केश उखाड़ कर फेंक दिये। मधु के शरीर में गहरे घाव योद्धाओं को दिख रहे थे, परन्तु दुर्धर धैर्य धारण किये हुए उस पारलौकिक योद्धा मुनि मधु को अपनी आत्मा ही दिख रही थी।
देखा तो तत्काल आया और पापों का पश्चात्ताप किया। तदनन्तर समाधि-मरण कर मुनि मधु क्षणमात्र में ही सनत्कुमार स्वर्ग में उत्तम देव हुए (प.पु. 89/95-115)

4. वीर शिरोमणि राजा श्रीनन्दन हमरमंगल नामक एक माह के बालक को राज्य देकर अपने पुत्रों के साथ प्रीतिंकर मुनिराज के समीप दीक्षित हुए थे। समय पाकर श्रीनन्दन राजा केवलज्ञान उत्पन्न कर सिद्धालय में प्रविष्ट हुए और उनके उक्त पुत्र उत्तम मुनि हो सप्तर्षि हुए। (92/1-7)

(यहाँ पर एक माह का पुत्र किसका था यह उल्लेख नहीं है।)

5. एक दिन सप्तऋषि मुनि ने वटवृक्ष के नीचे वर्षा योग धारण किया था..... । आहारार्थ वे एक दिन अयोध्या नगरी में प्रविष्ट हुए - विधिपूर्वक भ्रमण करते हुए अर्हदत्त सेठ के घर पहुंचे। उन मुनियों को देखकर चिन्ताग्रसित भ्रमित हो अर्हदत्त सेठ इस प्रकार विचारने लगा कि, यह वर्षाकाल कहाँ और मुनियों की चेष्टा कहाँ ? इस नगरी के आस- पास प्राम्भार पर्वत की कन्दराओं, नदी के तट पर वृक्ष के मूल में, शून्य घर में, जिनालयों में तथा अन्य स्थानों में जहाँ कहीं जो मुनिराज स्थित हैं, उत्तम चेष्टाओं को धारण करने वाले वे मुनिराज समय का खण्डन कर अर्थात् वर्षायोग पूरा किये बिना इधर-उधर परिभ्रमण नहीं करते। परन्तु ये मुनि आगम के अर्थ को विपरीत करने वाले हैं, ज्ञान से रहित हैं, आचार्यों से रहित हैं और आचार से भ्रष्ट हैं अतः यहाँ घूम रहे हैं। यद्यपि वे मुनि असमय में आए थे तो भी अर्हदत्त सेठ की भक्ति एवं अभिप्राय को ग्रहण करने वाली वधू उन्हें आहार देकर सन्तुष्ट किया था।

तदनन्तर पृथिवी से चार अंगुल ऊपर चलते हुए उनको द्युति भट्टारक ने देखा। सप्तर्षियों ने मन्दिर में प्रवेश किया। तब द्युति भट्टारक ने खड़े होकर नमस्कार करना आदि विधि से उनकी पूजा की। द्युति भट्टारक के शिष्यों ने यह हमारे आचार्य चाहे

जिसकी वन्दना करने के लिए उद्यत हो जाते हैं इस प्रकार से निन्दा का विचार किया। बाद में ज्ञात होने पर शिष्यों ने पश्चात्ताप भी किया। कालान्तर में सेठ अर्हदत्त को सारी जानकारी मिलने पर अपने को बहुत धिक्कारा----**जो मुनि को देखकर आसन नहीं छोडता....नमस्कार आहार से सन्तुष्ट नहीं करता वह मिथ्यादृष्टि है। अतः वन्दना करने की प्रतिज्ञा की।** (पद्मपुराण सर्ग 92)

6. सप्तर्षियों के आगमन का समाचार सुनकर **शत्रुघ्न** दर्शनार्थ पहुँचे एवं पारणा के लिए प्रार्थना की। तब प्रमुख मुनि ने कहा कि हे नरश्रेष्ठ! **जो आहार मुनियों के लिए संकल्प कर बनाया है, उसे ग्रहण करने के लिए मुनि प्रवृत्ति नहीं करते।** जो न स्वयं की गयी है, न दूसरों से करायी गयी है और न मन से जिसकी अनुमोदना की गयी है, ऐसी भिक्षा को विधिपूर्वक ग्रहण करने वाले योगियों का तप पुष्ट होता है।----तदनन्तर शत्रुघ्न ने नगर में कुछ दिन रहने के लिए कहा----इतना कहकर श्रद्धा से भरा हुआ शत्रुघ्न चिन्ता करने लगा कि मैं प्रमाद रहित हो विधिपूर्वक मुनियों के लिए मन वांछित आहार कब दूँगा। (प.पु. 92/46-52)

7. **कृतान्तवक्र** सेनापति ने दीक्षा लेने की इच्छा से राम से कहा कि मैं मिथ्यामार्ग में भटक जाने के कारण इस अनादि संसार में खेद खिन्न हो रहा हूँ। अतः मुनिपद धारण करने की इच्छा रखता हूँ।---तदनन्तर मोहाक्रान्त राम ने अति कठिनाई से आँसू रोककर आज्ञा दी,एवं उसकी ऐसी भावना के लिए मुक्त कंठ से प्रशंसा की और अपने लिए सम्बोधन का वचन माँगा। (प.पु. पर्व 107)

8. **हनुमान** की विरक्ति का समाचार सुनते ही उसके मन्त्रियों एवं स्त्रियों में भारी शोक छा गया। सबने भरसक प्रयत्न किया कि यह दीक्षा न लें, परन्तु हनुमान अपने ध्येय से विचलित नहीं हुए एवं धर्मरत्न नामक मुनिराज के पास दीक्षा धारण कर ली। और निर्वाणगिरी नामक पर्वत पर मोक्ष प्राप्त किया। (प.पु.113 पर्व)

9. **लक्ष्मण** के आठ कुमारों और हनुमान की दीक्षा का समाचार सुनकर राम हँसते हुए कहते हैं कि अरे! इन लोगों ने क्या भोग भोगा। (114 वां पर्व)। वे ही राम अन्त में वैराग्य उपजने पर दीक्षित होते हैं। आहारार्थ नगर में प्रवेश करते हैं। परन्तु जब राम प्रथम बार नगर आते हैं तो समस्त शहर में भगदड़ मच गयी। लोग सादर कहने लगे कि मेरे यहाँ भोजन करो, लड्डू लो, रस लो----आदि- आदि कहने लगे एवं भीड़ के कारण पतली गलियों में लोगों के चोटें आयीं----हाथियों ने क्षोभ के कारण खम्भे तोड़ डाले। अतः मुनि राम वापिस वन चल गये। अद्भुत प्रकार का क्षोभ देखकर नियम लेते हैं कि, यदि वन में आहार मिलेगा तो लूँगा अन्यथा नहीं। राजा प्रतिनन्दी और रानी प्रभवा वन में ही उन्हें आहार देकर अपना गृहस्थ जीवन सफल करते हैं। (प.पु. पर्व 119-120 का

सारांश)।

जिनसेन कृत महापुराण से :

बनारस का राजा अकम्पन एक अति प्रतापी राजा था। उसने अपने जीवन में विविध प्रकार के भोग भोगे। अत्यन्त भोगों को भोगते हुए उसने सोचा कि, जिस प्रकार औषध से पेट की अग्नि प्रदीप्त हो जाती है, उसी प्रकार इन भोगों से भी तृष्णारूपी अग्नि प्रदीप्त हो उठती है। अतः इन भोगों से बढ़ी हुयी तृष्णा रूपी अग्नि की शान्ति के लिए कोई दूसरा ही उपाय सोचना चाहिए। इस प्रकार वे संसार शरीर भोगों के विविध पक्षों की असारता पर सोचने लगे। एवं अत्यन्त दुखित हुए, और पंच परावर्तन के स्वरूप का विचार करते हुए सोचा कि मैंने तो सभी भोग संसार के भोग लिए हैं, आज यदि पुरुष है तो कल स्त्री-नपुंसक भी होना पड़ेगा। इस प्रकार विचारते हुए सोचा कि "अब मैं जिनेन्द्रदेव के कहे हुए वचनों का चिन्तवन कर अवश्य ही संसार का चिन्तवन करूँगा। क्योंकि निरन्तर संसार रूपी वन के भीतर परिभ्रमण करने से मैं अब यमराज से डर गया हूँ।" इस प्रकार तृष्णारूपी विष को उगल देने वाले बुद्धिमान राजा अकम्पन ने बहुत शीघ्र हेमागंद को बुलाकर पूज्य परमेष्ठियों की पूजापूर्वक उसका राज्याभिषेक किया, लक्ष्मी को चंचल समझ पट्टबन्ध से बाँध कर उसे अचल बनया, और हेमागंद को सौंपकर श्री भगवान वृषभदेव के समीप जाकर अनेक राजाओं और रानी सुप्रभा के साथ दीक्षा धारण की। तथा अनुक्रम से श्रेणियां चढ़कर केवलज्ञान उत्पन्न किया (45/204-206)।

शान्तिनाथ पुराण से :

वीर बलभद्र अपराजित के भाई **अनंतवीर्य** एक समय शय्या पर सोता हुआ कष्ट के बिना मृत्यु को प्राप्त हो गया। अपने भाई के वियोग का शोक बहुत था। तथापि उसे त्यागकर तप के लिए अपराजित इच्छुक हुए। तदनन्तर धैर्यशील अपराजित ने राज्य का गुरुतर भार अरिंजय नामक ज्येष्ठ पुत्र पर रखकर उपशम भाव को प्राप्त होते हुए विशुद्ध अभिप्राय वाले सात सौ राजाओं के साथ लक्ष्मी का परित्याग कर, यशस्वी तथा तपस्वीमुनि यशोधर को नमस्कार कर अपराजित, वैराग्य के कारण मुनि हो गये। (शान्तिनाथ पुराण 6/118-122)

अशनिघोष अपने पूर्व भव सुनकर संसार से विरक्त हो मुनि हो गया।
(शा.पु. 8/118-121)

सहस्रायुध ने अपने पिता मुनिराज की तपस्या से प्रभावित हो दीक्षा धारण कर ली।
(शा.पु. 10/134-35)

तीर्थंकर शान्तिनाथ ने ऊपर की ओर मुखकर लोकाग्रभाग में विराजमान सिद्ध परमेष्ठियों को नमस्कार कर पंच मुष्ठियों द्वारा केशलोंच कर सब परिग्रह का त्याग कर दिया। दीक्षा लेते ही उन्हें मनः पर्यय ज्ञान तथा सब ऋद्धियां प्राप्त हो गयी।

(शा.पु. 15/21-27)

दीक्षा प्रसंग समीक्षा :-

जैन पुराणों के उपर्युक्त दीक्षा प्रसंगों को देखकर इस बात की काफी पुष्टि होती है कि पात्रता के लिए उपर्युक्त् षडाधारों की अति आवश्यकता है। यद्यपि उपर्युक्त दीक्षा प्रसंग अति प्राचीन ऐतिहासिक प्रकरण हैं, तथापि पुराणकार की इन नियमों से सहमति व्यक्त होती है। वस्तुतः पुराणकार तो कोई नियम या तथ्य किसी घटना को लेकर प्रस्तुत करते हैं। अतः उपर्युक्त दीक्षा की घटनाएँ भी दीक्षा के नियमों की ओर ही संकेत करती हैं। इन पुराणकारों के इस नियम के दिशासूचक यंत्र आ. कुन्दकुन्द की सम्भवतः ये गाथायें रही होंगी।

"आपिच्छ बंधुवग्गं विमोचिदो गुरू कलत्तपुत्तेहिं।
आसिज्ज णाणदंसणचरित्त तववीरियायारं।।
समणं गणिं गुणड्ढं कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं।
समणेहि तं पि पणदो पडिच्छमं चेदि अणुगहिदो।। प्र.गा. 202-203।।

अर्थात् श्रामण्यार्थी बंधुवर्ग से विदा मांगकर बड़ों से, स्त्री और पुत्र से मुक्त किया हुआ ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप और वीर्य के पंचाचारों से युक्त आचार्य की सेवा में उपस्थित होवे। जो कि कुल से, गुणों से, रूप से तथा वय से विशिष्ट हो और जो श्रमणों को अति इष्ट हैं ऐसे आचार्य के समीप जाकर "मुझे स्वीकार करो" ऐसा कहकर प्रणाम करता है एवं अनुगृहीत होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने इन गाथाओं की टीका में बंधुवर्ग से अनुमति लेने की शैली का निम्न निरूपण किया है-

"इस पुरूष के शरीर में बंधुवर्ग में प्रवर्तमान आत्माओ। इस पुरूष का आत्मा किंचितमात्र भी तुम्हारा नहीं है,-इस प्रकार तुम निश्चय से जानो। इसलिए मैं तुमसे विदा लेता हूँ। जिसे ज्ञान ज्योति प्रगट हुयी है ऐसा यह आत्मा आज अपने आत्मारूपी अपने अनादिबंधु के पास जा रहा है।

अहो! इस पुरूष के शरीर के जनक के आत्मा!, अहो! इस पुरूष के शरीर की जननी के आत्मा इस पुरूष का आत्मा तुम्हारे द्वारा जनित नहीं है, ऐसा तुम निश्चय से जानो। अतः तुम इस आत्मा को छोड़ो। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुयी है ऐसा यह आत्मा

आज आत्मारूपी अपने अनादिजनक के पास जा रहा है। अहो! इस पुरूष के शरीर की रमण (स्त्री) के आत्मा! तू इस पुरूष के आत्मा को रमण नहीं कराता, ऐसा तू निश्चय से जान। इसलिए तू इस आत्मा को छोड़। जिसे ज्ञान ज्योति प्रगट हुयी है ऐसा यह आत्मा आज अपनी स्वानुभूति रूपी अपनी अनादि रमणी के पास जा रहा है। अहो! इस पुरूष के शरीर के पुत्र आत्मा! तू इस पुरूष का जन्य नहीं है, ऐसा तू निश्चय से जान। इसलिए तू इस आत्मा को छोड़। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुयी है, ऐसा यह आत्मा आज आत्मा रूपी अपने अनादि जन्य के पास जा रहा है। इस प्रकार बड़ों से, स्त्री से, पुत्रों से अपने को छुड़ाता है।

तत्पश्चात् गुरू के समक्ष पंचाचार अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्याचार को भी अंगीकार करते हुए इनके सम्बन्ध में यह विचारता है कि "अहो काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिन्हव, अर्थ व्यंजन और तदुभयसम्पन्न ज्ञानाचार। मैं यह निश्चय से जानता हूँ कि तू शुद्धात्मा का नहीं है, (अध्यात्मभाषा में शुद्धात्मा वही है जो एक त्रिकाल, ध्रुव, अविनाशी, एवं अविकारी है-यहाँ अंगीकृत ज्ञानाचार ऐसा नहीं है, मतिज्ञानादिक होने से कर्मजन्य एवं कर्मसापेक्ष है तथा क्षणिक है जीव का त्रिकाल स्वभाव नहीं अतः वह ज्ञानाचार आत्मा का नहीं है इसी प्रकार से आगे सभी जगह पंचाचारों के कथन में लगेगा) तथापि मैं तुझे तब तक अंगीकार करता हूँ जब तक कि तेरे प्रसाद से (निमित्त से) शुद्धात्मा को उपलब्ध कर लूं। अहो! निःशंकितत्व, निःकांक्षितत्व, निर्विचिकित्सत्व, निर्मूढदृष्टित्व, उपवृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना स्वरूप दर्शनाचार ! मैं यह निश्चय से जानता हूँ कि तू शुद्धात्मा नहीं है, तथापि तुझे तब तक अंगीकार करता हूँ, जब तक कि तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध कर लूँ। अहो, मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति के कारणभूत, पंचमहाव्रत सहित काय-वचन-मनगुप्ति और ईर्या-भाषा-एषणा-आदाननिक्षेपण प्रतिष्ठापन समिति स्वरूप चारित्राचार! मैं यह निश्चय से जानता हूँ कि तू शुद्धात्मा नहीं है, तथापि तुझे तब तक अंगीकार करता हूँ जब तक तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध कर लूँ। अहो! अनशन, अवमौदर्य, वृत्ति परिसंख्यान रस परित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग स्वरूप तपाचार! मैं यह निश्चय से जानता हूँ कि तू शुद्धात्मा नहीं है, तथापि तुझे तब तक अंगीकार करता हूँ, जब तक तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को प्राप्त कर लूँ। अहो! समस्त आचार में प्रवृत्ति कराने वाली स्वशक्ति को अगोपन स्वरूप वीर्याचार! मैं यह निश्चय से जानता हूँ कि तू शुद्धात्मा नहीं है, तथापि तुझे तब तक अंगीकार करता हूँ, जब तक कि तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध कर लूँ - इस प्रकार ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचार को अंगीकार करता हूँ।[126]

शुभ राग के उदय की भूमिका में गृहवास का और कुटुम्ब का त्यागी होकर व्यवहार रत्नत्रयरूप पंचाचार अंगीकार किया जाता है। यद्यपि वह ज्ञानभाव से समस्त शुभाशुभ

क्रियाओं का त्यागी है। तथापि पर्याय में शुभ राग नहीं छूटने से वह पूर्वोक्त प्रकार से पंचाचार को ग्रहण करता है।

आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा वर्णित दीक्षार्थी के दीक्षा काल में अभिव्यक्त उपर्युक्त भाव तीव्र ज्ञान, वैराग्य के परिचायक है। ज्ञान और वैराग्य के उपर्युक्त विचार एकदम तीव्र-पापी मिथ्यादृष्टि के नहीं हो सकते हैं। अपितु घर पर ऐसा कोई तीव्र पापी मिथ्यादृष्टि जीव कदाचित् हो तो दीक्षार्थी के दीक्षा में उपसर्ग ही करते हैं। पुराणों के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत की गयी घटनाओं में, जिन-जिन लोगों ने दीक्षाएँ ग्रहण की हैं, उनका पूर्व में पर्याप्त ज्ञान वैराग्य रूप तत्वज्ञान की भूमिका बनी हुयी थी, जिसके प्रतिफल में श्रामण्य दशा अवतरित हुयी थी। चूंकि दुःखों से मुक्त होने का एक मात्र उपाय श्रामण्य धर्म की प्राप्ति में ही बतलाया है। इसी कारण प्रवचनसार में कहा है कि, जैसे दुःखों से मुक्त होने के लिए मैंने श्रमण धर्म अंगीकार किया है, उसी प्रकार तुम भी अर्हन्तों, सिद्धों, आचार्यों आदि को नमस्कार पूर्वक श्रामण्य को अंगीकार करो।[127] तथा उस श्रामण्य को अंगीकार करने का जो यथानुभूत मार्ग है उसके प्रणेता हम यह खड़े हैं।[128]

चारित्र (सम्यक्) मुक्ति का साक्षात् कारण है। अतः मुनिजन भी श्रावक से प्रथम साक्षात्कार में उस साक्षात् कारण चारित्र का ही उपदेश देते हैं। क्योंकि वह यह मानकर ही चलते हैं कि मेरे पास आया जीव आसन्न भव्य जीव है। अतः मोक्ष का कारण ही बतलाना चाहिए। साधुओं के पास श्रावकों के जाने का अन्य कोई कारण प्रायशः नहीं माना जाता है। चूंकि साधुओं के पास आत्म-चर्चा के अलावा अन्य कोई वार्ता नहीं होती है; और जो प्रसन्न चित्त से एक बार भी आत्मा की चर्चा करता है वह आसन्न भव्य जीव है।[129] अतः आसन्न भव्य जीव को चारित्र धर्म के प्रति प्रेरित करना आचार्य का कर्तव्य है।[130] यदि वह ऐसा उपदेश नहीं करते हैं, तो वे जिनाज्ञा का उल्लंघन एवं उपदेश परिपाटी का अतिक्रमण करने से अपराधी हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा कि, जो अल्पमतिसाधु यति धर्म का उपदेश न करते हुये गृहस्थ धर्म का उपदेश दे देता है, उसको भगवान अर्हन्तदेव के आगम में प्रायश्चित्त का भागी बतलाया है।[131] परन्तु यहाँ यह ध्यातव्य है कि श्रमण, श्रावक को प्रथम तो मुनिधर्म के लिए मात्र प्रेरित करता है, कोई वलात् स्वीकारने के लिए बाध्य नहीं कर सकता है, यदि ऐसा करता है तो श्रमण दोषी है। तथा यदि वह नवागन्तुक श्रावक मुनिधर्म के लिए असमर्थता व्यक्त करता है तो वह श्रावकोचित चर्या आदि के प्रति प्रेरित करता है। श्रावक भी श्रमण के उपदेशानुसार अपनी शक्ति प्रमाण जिनधर्म की सेवा करता है।[132] अपनी शक्ति को देखे बिना महाव्रतों का धारण बोझ ढोने जैसा है। अतः महाव्रतों को अंगीकार करने के पूर्व अपनी शक्ति की परीक्षा अवश्य ही कर लेनी चाहिए।

दीक्षाग्रहण के सन्दर्भ में डॉ. सुदर्शन लाल जी के विचार द्रष्टव्य हैं-[133] संसार के विषयों से निरासक्त एवं मुक्ति का अभिलाषी प्रत्येक व्यक्ति इस जैनेश्वरी दीक्षा को ग्रहण

कर सकता है। नेमिनाथ और राजुल विवाह की मंगल वेला में ही संसार से विरक्त होकर दीक्षित हो गये थे। सदाचार पालन करने की सामर्थ्य वाला प्रत्येक व्यक्ति जो संसार के विषयों से विरक्त होकर मुक्ति की अभिलाषा करता है, दीक्षा लेने का अधिकारी है। यह कोई नियम नहीं कि युवावस्था में भोगों को भोगना चाहिए, और फिर वृद्धावस्था में दीक्षा लेनी चाहिए। यद्यपि यह सत्य है कि युवावस्था में युवकों की चित्त वृत्ति सांसारिक विषयों की ओर अधिक आकर्षित रहती है, जिससे उक्त अवस्था में दीक्षा लेना कठिन होता है, परन्तु यह भी सत्य है कि वृद्धावस्था में शरीर के शिथिल हो जाने पर धर्म का पालन कर सकना और भी कठिन है, जबकि युवावस्था में शक्य है, युवावस्था से ही यदि धर्म के पालन करने का प्रयत्न किया जाए तो वृद्धावस्था में भी उसके धारण की सामर्थ्य बनी रहती है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्थिति स्पष्ट हो जाती है कि दीक्षा में इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाता है कि वह शक्ति, सदाचार से योग्य है या नहीं, एवं संसार से भयभीत तथा विषयों के प्रति आशक्ति कम हुई है या नहीं, फिर चाहे वह किसी भी आयु में अथवा किसी भी परिस्थिति में ही क्यों न हो।" यद्यपि जैनधर्म में बालदीक्षा निषेध है क्योंकि इस समय वह अबोध होता है; परन्तु कोई विशेष प्रतिभा एवं वैराग्य सम्पन्न हो तो वह बालक स्वेच्छा से दीक्षा ले सकता है, जैसे कि आ. कुन्दकुन्द, श्वे. आचार्य हरिभद्र एवं वैदिक धर्म में प्रसिद्ध सन्त शंकराचार्य बाल दीक्षित थे, परन्तु यह राजमार्ग नहीं है।[134] वस्तुतः यहाँ तो सामर्थ्य और समझदारी को पूर्ण-सजग रखने में ही समझदारी है। क्योंकि सामर्थ्य पहला पंख है तो समझदारी दूसरा। दोनों के सहारे ही मोक्षमार्ग की उड़ान भरी जा सकती है।

यहाँ पर एक बात और है कि श्रमण दीक्षा के लिए कोई विशेष संहनन की भी आवश्यकता नहीं है। आजकल जैन श्रमण में व्याप्त शिथिलाचार के साथ, यह कहकर सन्तुष्टि की जाती है कि पंचमकाल में चतुर्थकाल जैसा संहनन नहीं, अथवा कुन्दकुन्दाचार्य आदि जैसी आज शक्ति नहीं है, एवं मूलगुणों का स्वरूप विवेचन उस समय किया गया था। आज के संहनन व शक्ति को देखते हुए श्रमण के स्वरूप में किंचित शिथिलता स्वीकार कर लेनी चाहिए। परन्तु श्रमण के स्वरूप में 28 मूलगुणों में ऐसा कोई भी गुण नहीं है, जो शरीर के विशेष शक्ति की अपेक्षा रखता हो। आ. कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि-"वज्रवृषभनाराच आदि छह, शरीर के संहनन कहें हैं, उन सबमें ही दीक्षा होना कहा है, जो भव्य पुरुष हैं। वे कर्म क्षय का कारण जानकर इसको अंगीकार करें। इस प्रकार नहीं हैं कि दृढ़ संहनन वज्रवृषभ आदि हैं उनमें ही दीक्षा हो और असंसृपाटिका संहनन में न हो, इस प्रकार निर्ग्रन्थरूप दीक्षा तो असंप्राप्तासृपाटिका संहनन में भी होती है।[135] वस्तुतः श्रामण्य स्वरूप में शरीर की नहीं, अपितु आत्मबल की अधिक अपेक्षा होती है तथा कदाचित् शरीर में कोई विकृति आती है तो या तो समाधिमरण लेवे या समन्तभद्र की तरह

दीक्षा का त्याग करे, इसके अलावा तीसरा विकल्प नहीं है।

दीक्षा अनुमति विधान –

दीक्षा के प्रसंग में, **कुटुम्ब से अनुमतिपूर्वक दीक्षित होने का कोई सर्वथा नियम नहीं है।** पारिवारिक जनों के आश्रित दीक्षा विधान होने पर तो कदापि दीक्षा नहीं ली जा सकती है। क्योंकि वे तो कदापि दीक्षा अनुमति नहीं देंगे, जैसे पूर्व में कथित दीक्षा घटनाओं में भरत, कैकेयी, राम के सेनापति कृतान्तवक्र, हनुमान के साथ हुआ था। लक्ष्मण के आठ कुमारों के दीक्षाकाल में राम ने उपहास ही किया था। राजा मधु ने तो युद्ध क्षेत्र में हाथी पर चढ़े ही बिना किसी को सूचना दिये दीक्षा ले ली थी। अतः इन प्रकरणों में तो पारिवारिक जनों की असहमति ही रही। आज तक के इतिहास में एक भी ऐसी घटना नहीं है कि जहाँ पर दीक्षा का तत्काल अनुमोदन रहा हो। प्रथम क्षण में तो पारिवारिक जनों की यही राय होती है कि अभी इतनी क्या जल्दी है। भले ही पश्चात् उन लोगों ने अनुमोदना की हो। परिवार चाहे कितना ही धार्मिक क्यों न हो, जैसे अति तत्वज्ञानी धार्मिक गृहस्थ राम तक ने दीक्षित लोगों को उपहास किया था, परन्तु पश्चात् उनकी सराहना ही की थी। मोह का ऐसा ही स्वरूप एवं उसका माहात्म्य है। मोह का ही दूसरा नाम गृहस्थ धर्म है। अतः **मोही अपने मोह से किसी कार्य का निर्णय और उसमें हर्ष-विषाद करते हैं। इसमें ही मोही का गौरव और उसके मोह की सुरक्षा है। परन्तु तत्वज्ञान के प्रभावशाली प्रकाश में अज्ञानान्धकार की काली छाया से ग्रसित मोह ज्यादा संक्लेश परिणाम नहीं दे पाता, और अन्त में तत्वज्ञानी को तत्वज्ञान से युक्त प्रसंगों में प्रसन्नता ही होती है। यह तत्वज्ञान का माहात्म्य** है। इसी कारण को देखते हुए मोह को जीत रहे श्रमण के लिए यह कहा कि वह पारिवारिक जनों से सहमति लेवे।

इस कथन के पीछे दो अत्यन्त मनोवैज्ञानिक उद्देश्य रहे थे। यदि दीक्षार्थी का मोह पूर्णतः समाप्त नहीं हुआ होगा, तो पारिवारिक जनों के अति अनुनय विनय, अथवा अन्य उपायों से मोहाक्रान्त हो जाएगा। इससे उसके मोह की परीक्षा हो जायेगी। द्वितीय उद्देश्य यह है कि, दीक्षार्थी के वैराग्य रस से ओत-प्रोत वचन सुनकर कुटुम्ब में यदि कोई अल्पसंसारी जीव हो, तो वह भी वैराग्य को प्राप्त होता है- ऐसी परकल्याण की भावना रूप दीक्षा अनुमति विधान का रहस्य है, जैसे कि लक्ष्मण, हनुमान आदि कई उदाहरणों में अनेकों जीवों ने भी दीक्षा ग्रहण की थी। जो दीक्षा नहीं ले पाते, वे श्रावक धर्म स्वीकारते, अथवा अन्य व्रत, प्रतिमाएँ अथवा अपनी श्रद्धा को मोक्ष पथ में संवार ही लेते हैं। अतः उसके निमित्त से सभी अपनी-अपनी शक्ति से परिणामों एवं जीवन में शुद्धता लाते हैं; और इस दृष्टि से जैन पुराणों का अध्ययन करने पर यह तथ्य निकलता है कि लगभग वहाँ एक भी ऐसी घटना नहीं कि, जहाँ पर नव दीक्षार्थी ने अकेले ही व्रत लिए हों, और उसके साथ अन्यों ने अणुव्रत- महाव्रत आदि उससे प्रेरणा पाकर न स्वीकार किये हों। यह दीक्षा की अनुमति विधान का रहस्य एवं उससे लाभ है। अतः दीक्षा की अनुमति/सूचना पूर्वक ही

दीक्षा ग्रहण करना चाहिए, तथा इस गृहत्यागक्रिया में सबसे पहले सिद्ध भगवान का पूजन कर समस्त इष्टजनों को बुलाकर और उनकी साक्षी में पुत्रों के लिए सब कुछ सौंप कर गृहत्याग करना चाहिए।[136] जो कि पुराण के प्रस्तुत उद्धरणों से स्पष्ट है।

श्वेताम्बर परम्परा के आगम उत्तराध्ययन पर शोध करते हुए डा. सुदर्शन लाल जी ने कहा कि "दीक्षा लेने के पूर्व माता-पिता व सम्बन्धी जनों से अनुमति लेना चाहिए। (उत्तरा. 14.6-7, 19.10-11) यदि वह घर का ज्येष्ठ व्यक्ति हो तो पुत्रादि को सम्पत्ति वगैरह सौंपकर दीक्षा ले लेना चाहिए (उत्तरा. 9.2) यदि माता-पिता पुत्र को दीक्षा के लिए अनुमति न देकर भोगों के प्रति प्रलोभित करें तो दीक्षा लेने वाले का सर्वप्रथम कर्तव्य है कि वह माता-पिता को समझाने का प्रयत्न करे। पश्चात् आत्म- कल्याणार्थ दीक्षा ले लेवे। (उत्तरा. 14.19)। नेमिनाथ और राजुल ने दीक्षापूर्व माता-पिता से अनुमति ली थी या नहीं, इसका यद्यपि ग्रन्थ में उल्लेख नहीं परन्तु दीक्षा ले लेने पर वासुदेव आदि उनके कुटुम्बी जन उन्हें अभिलषित मनोरथ प्राप्ति का आशीर्वाद अवश्य देते हैं, (उत्तरा. 22.25-26,21)। इससे उनकी अनुमति की पुष्टि हो जाती है। दीक्षा के पूर्व माता-पिता से आज्ञा लेना उनके प्रति (लौकिक) विनय एवं कर्तव्य परायणता का सूचक है।[137]

दीक्षा की पात्रता के सम्बन्ध में दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदाय एक मत हैं। श्रामण्यार्थी की इस पात्रता में इतनी अपेक्षाओं के बावजूद परीक्षा- प्रधानी आचार्यों का अभिमत है कि, जो इस अति बालक हो, अति वृद्ध हो, नपुंसक हो, अंगहीन या अधिक अंग वाला हो, जड़, रोगी, कोढ़ी, चोर, राज्यापराधी, उन्मत्त, अन्ध, दासव, दुष्ट मूढ़, श्रृणार्तिपीडित, कैद पाया हुआ, भागकर आया हुआ, पुरूष लिंग में चर्म का न होना, अतिशय दीर्घ अण्डकोष असामान्य हो तो वह दीक्षा के अयोग्य है। तथा अन्यान्य हीन अथवा सापराध आचरणों वाला हों तो उन्हें दीक्षा नहीं देनी चाहिए।[138]

बाल्यावस्था में दी गयी दीक्षा अपरिपक्व एवं यौवनोद्रेक का अनुभव न होने के कारण प्रायः कलंकित होती है। जैसे बाल्यावस्था में की गयी शादी राष्ट्रीय एवं सामाजिक अपराध है, वैसे ही बाल्यावस्था में जबकि उसकी स्वतन्त्र चिन्तन की क्षमता नहीं होती है, ऐसे में उसे किसी के द्वारा इस मार्ग पर दीक्षित कर देने पर तो उस बच्चे की स्वतन्त्र चिन्तन की क्षमता के साथ खिलवाड़ किया गया है। अतः यह राष्ट्रीय, सामाजिक, एवं धार्मिक अपराध समझना चाहिए। वर्तमान में श्वे. साध्वी इन्दुप्रभा को बाल्यावस्था में दी गयी दीक्षा इसका ज्वलन्त प्रमाण है। जब वह युवा हुयी और अपनी सामर्थ्य के पहिचान की परिपक्वता आयी, तो उसने अपने को इसके अयोग्य पाया। अतः साध्वी पद की गरिमा रखते हुए उस पद को त्यागा, और गृहस्थ- धर्म मजिस्ट्रेट के सन्मुख स्वीकार किया।[139] यद्यपि यह कहा जा सकता है कि उसने साध्वी दशा का परित्याग करने के कारण निंदनीय कार्य किया; परन्तु यह तो तब कहा जाए, जब उसने हिताहित बुद्धि की परिपक्वता में यह

निर्णय लिया हो, उसे तो दूसरों ने दीक्षित करवाया था। जब वह परिपक्व हुयी तो उसने अपने परिणामों को इस कार्य के लिए अयोग्य पाया। अतः अपने परिणामों के आकलन में ईमानदार होने से गृहस्थ-धर्म धारण करते हुए, इन्दुप्रभा का इस दृष्टि से यह कदम अनिंद्य है।

इस बालदीक्षा के अतिरिक्त, जबरन पकड़ कर किसी को दीक्षा अथवा पूर्व दीक्षित को जो दीक्षा छोड़ना चाहता है उसे जबरदस्ती उस पर स्थापित नहीं किया जा सकता है। जबरन पकड़कर दीक्षा की एक घटना नवम्बर 82, गुजरात के दाहोद शहर की है। जहाँ पर रायपुर (म.प्र.) के एक डाक्टर श्री सुरेश को षडयन्त्रपूर्वक गुजरात में आचार्य (दिग.) सन्मति सागर के संघ की संचालिका ब्र. मैनावाई ने आचार्य श्री के स्वास्थ्य के बहाने बुलाकर रात में कमरे में बन्द करके जबरदस्ती केशलोंच कर दिया। डॉ. श्री सुरेश काफी रोये भी, परन्तु इनको धर्म का भय दिखाकर मुंहबन्द कर दिया।[140] समाज के कुछ प्रबुद्ध वर्ग ने विरोध भी किया परन्तु धर्म-भीरू लोग इन अत्याचारी हिटलरी धार्मिक तानाशाह श्रमणाभासों के दुराचारों को सहती रही। ऐसी अनेक दीक्षाएँ इन आचार्यों ने दी, जो कालान्तर में पुनः भ्रष्ट होकर गृहस्थ बने अथवा वर्तमान में भी उसी पद पर रहकर भ्रष्ट जीवन-यापन कर रहे हैं। परन्तु आश्चर्य तो यह है कि ऐसे वेशधारियों को निरन्तर चरित्र-चक्रवर्ती की उपाधि से भी अलंकृत किया जाता रहा है।

इसी प्रकार जो साधु एक बार दीक्षित हो चुका है, और यदि वह उस पद की महत्ता को समझते हुए पुनः स्वयं को अयोग्य पाकर अथवा किसी अन्य कारण से उस पद को त्यागना चाहता है तो प्रथम तो उसका स्थितिकरण सावधानीपूर्वक करना चाहिए, परन्तु उसके निर्णय में शारीरिक शक्ति का प्रयोग अथवा अन्य किसी प्रकार के दबाबों का उपयोग नहीं किया जा सकता है। जैसा कि प्रसिद्ध पुरातत्त्वाचार्य, महात्मा गांधी के अनन्य सहयोगी एवं अहमदाबाद के प्रसिद्ध जैन ग्रन्थागार के संस्थापकों में से एक मुनि श्री जिनविजय जी (श्वेता.) के अपनी दीक्षा छेद के समय हुआ।[141] वे अपने अभिनन्दन ग्रन्थ में अपना जीवन वृत्त लिखते हैं कि, वे किस प्रकार अपने संघस्थ शिथिलताओं से ऊब गये थे तथा उनकी तीव्र अध्ययन की अभिलाषा, एवं कुछ वैयक्तिक कमजोरी इस पद को त्यागना चाहती थी, ताकि वे स्वतन्त्र रूप से अध्ययन कर सकें। इसके लिए उन्होंने जब संघ छोड़ने की इच्छा व्यक्त की, तो संघ के आचार्य ने बहुत डांटा। एक दिन जब वे रात में संघ छोड़कर भागे, तो पता चलने पर उनको पकड़ा गया व काफी उनको मारने, पीटने एवं धमकाने जैसी परिस्थितियों से गुजरना पड़ा। अनेक बार उन्होंने रात के अंधेरे में संघ छोड़ा, एवं हर बार पकड़े गये व काफी शारीरिक यातनाएँ दी गयीं। अन्त में श्री जिनविजय जी विजयी हुये। ऐसी अनेकों घटनाएँ हैं, जो अपनी एक अलग शोध की ही अपेक्षा रखती हैं। यहाँ पर तो मात्र इतना ही कहा जायेगा कि साधुत्व जैसा उत्तम रत्न यदि विशुद्ध सुवर्ण में नहीं लगाया गया तो उसका मूल्य और उपयोग दोनों ही मरवौल

बनकर रह जाएंगे। नीतिकारों ने भी कहा है कि-

कनकभूषणसंग्रहणोचितो, यदि मणिस्त्रयुणि प्रणिधीयते।
न स विरौति न चापि च शोभते, भवति योजयितुर्वचनीयता।।

अर्थात् यदि सुवर्ण में संग्रहणीय मणि त्रयु अर्थात् रंग में (रांगा) लगा दी जाए तो उसकी शोभा नष्ट हो जाती है, तब न वह शब्दायमान होती है, और न शोभित ही, और जो ऐसा मणित्रयु संयोग करता है उसकी भी निन्दा होती है।[142] अतः दीक्षादायक आचार्य का भी कर्तव्य है कि वह उचित पात्र को ही उसकी परीक्षा एवं वैराग्य को पहिचान करके ही दीक्षा दान दे।

दीक्षा दान के काल को जैनाचार्यों ने अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया है। जैसे गृहस्थ जीवन में विवाह का अत्यधिक महत्त्व है, जहाँ से एक नवीन जीवन- शैली प्रारम्भ होकर विधिवत् सामाजिक सदस्यता प्राप्त होती है। यह महोत्सव एक मण्डप तले होता है, जिसमें गृहस्थ- धर्म के मंगलाचार गाये जाते हैं (शुभसूचक प्रेमगीत स्त्रियाँ गाती हैं) ठीक इसी तरह सन्यास धर्म में प्रवेश करते समय, जो कि जीवन जीने की दूसरी वीतरागी शैली है, इसमें सन्यास का इच्छुक व्यक्ति पंच परमेष्ठी रूप समाज के समक्ष, तीन लोक के मण्डप के नीचे, तत्वज्ञान रूप सुगन्ध से भीगे, वैराग्य रूपी हाथों से "निर्वस्त्र" रूप दशा की वरमाला लेकर मोक्षरूपी लक्ष्मी का वरण करता है। उस समय अनन्तज्ञानादि रूप सिद्ध गुणों की भक्ति के मंगलाचार गाते हुए वीतरागी सर्वज्ञ की समाज में प्रवेश की सदस्यता मिलती है। दीक्षा के प्रसंग का इस प्रकार का भाव आचार्य जयसेन ने प्रवचनसार गाथा 3 की मंगलाचरण की टीका में व्यक्त किया है।[143] जिसकी स्पष्टता उपर्युक्त तरह से की जा सकती है।

दीक्षा ग्रहण विधि :

श्रमण चर्या को जिनेन्द्र भगवान का जीवन्त रूप कहा गया है, वे चलते-फिरते सिद्ध कहलाते हैं। अतः उनके इस मानदण्ड को बनाये रखने के लिए श्रमण चर्या में प्रवेश करने वालों से कुछ वैशिष्ट्य की भी अपेक्षा रखी गयी है। जो कि पात्रता प्रकरण में विवेचन कर आये हैं। जैनधर्म में केशलोंच, नामकरण, नग्नता एवं पिच्छि ये व्यवहार से जिनलिंग के चिन्ह कहे गये हैं। जैन धर्म के अनेक पुराणों में दीक्षाकाल के प्रसंगों को जिनको कि पूर्व में प्रस्तुत किया है। उनके आधार पर तो दीक्षार्थी प्रबल वैराग्य लेकर वन में आचार्य के पास जाता है, और उनसे दीक्षा की प्रार्थना के पूर्व समुचित नियमों का पालन करके, दीक्षा याचना करता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने बोधपाहुड में स्पष्ट रूप से दीक्षा का स्थान "सूना घर, वृक्ष का मूल, कोटर, उद्यान, वन, श्मशान भूमि, पर्वत की गुफा शिखर, भयानक वन और वस्तिका[144] इनमें दीक्षा देने का विधान किया है। सार्वजनिक स्थानों में शहर के

मध्य, भीड़ एकत्रित कर दीक्षा देने की परम्परा जैनधर्म सम्मत नहीं है। जैसी परम्परा आज चल रही है। समस्त जैन पुराणों के दीक्षा प्रसंगों में **दीक्षार्थी शहर से वन की ओर जाता है, और वहाँ दीक्षा लेता है, तो वह स्वयं एक परिवर्तन महसूस करता है और व्रतों में स्थिर रहता है।** परन्तु आज यह सब न होने के कारण दीक्षार्थी अपने को परिवर्तित महसूस ही नहीं करता है। अतः इस कारण **शिथिलाचार में ही दीक्षार्थी का जन्म होने से वह पनपता रहता है।**

दीक्षा दान का मोक्षमार्ग में अतिमहत्वपूर्ण स्थान है। अतः दीक्षा काल में दिये जाने वाले 28 मूलगुणों रूप भेदों को सर्वज्ञदेव की साक्षी में नवागत दीक्षार्थी में स्थापित किये जाते हैं।[145] **"दत्तं सर्वस्वमूलोत्तर परमगुरू"** अर्थात् मुनि को मूलगुण एवं उत्तरगुण सर्वस्व अर्हन्त तीर्थंकर देव द्वारा ही प्रदत्त माने जाते हैं। **मुनि के मूलोत्तर गुण वस्तुतः अर्हन्तदेव की ही धरोहर मानी जाती है,** क्योंकि उन्होंने ही इस स्वरूप का प्रतिपादन किया है। ऐसी स्थिति में यदि वह मूलगुणों को अपने भ्रष्ट जीवन से कलंकित करता है, तो उसके स्वयं के जीवन का अहित तो है ही; परन्तु सर्वज्ञ देव की धरोहर का धारक होने से उसकी धरोहर में दूषण लगाने पर सम्पूर्ण जिन-शासन को कलंकित करने के कारण महान् पाप का भागी होता है। आचार्य मल्लिषेण ने इस धरोहर की श्रमण को रक्षा करने के लिए प्रेरित करते हुए कहा कि **जैसे भूख से पीड़ित हुआ निर्धन व्यक्ति भी अपनी वमन को स्वयं नहीं खाता, उसी प्रकार जिन दीक्षा काल में अखण्डव्रत को रखने की जो प्रतिज्ञा की थी उसका विचार कर,**[146] **और त्यागे गये भोगों का पुनः स्मरण मत कर।**

जैसे दीक्षा देने योग्य स्थान के विषय में जैन धर्म ने विचार किया है वैसे ही दीक्षा देने योग्य काल (समय) भी विचारणीय रहा है। दिगम्बर-श्वेताम्बर मत उत्पत्ति के सन्दर्भ में, दिगम्बर मत की उत्पत्ति में श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने कल्पना की है कि शिवभूति को रात में आचार्य ने दीक्षा दी थी, उसी से दिगम्बर मत की उत्पत्ति हुयी है। परन्तु यह यथार्थ नहीं है क्योंकि भाषा समिति के पालक रात में बोलते नहीं है अतः दीक्षा सम्भव नहीं है। जैन पुराणों में ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता है कि, दीक्षा रात में दी गयी हो अथवा उसके लिए मुहुर्त, नक्षत्र आदि देखे गये हो और मुहुर्त न होने पर दीक्षा न हो सकती हो। **दीक्षा स्वयं में पवित्र है उसके लिए पवित्र समय की अपेक्षा नहीं है। तथा जो दीक्षा का इच्छुक है** और दीक्षा लेने जा रहा है वह क्या मुहुर्त न होने पर लम्बी अवधि तक इन्तजार करेगा ? तथापि प्रकृति के प्रकोपों एवं प्रसिद्ध लोकापवादों को ध्यान में रखते हुए आचार्य जिनसेन ने महापुराण में कहा है कि जब ग्रहों का उपराग हो, ग्रहण लगा हो, सूर्यचन्द्र पर परिवेष (मण्डल) हो, इन्द्रधनुष उठा हो, दुष्ट ग्रहों का उदय हो, आकाश मेघपटल से ढका हो, नष्ट मास अथवा अधिक मास का दिन हो, संक्रान्ति हो, अथवा क्षय तिथि का दिन हो, उस दिन बुद्धिमान आचार्य मोक्ष की इच्छा रखने वाले भव्यों के लिए दीक्षा विधि नहीं करना चाहते।[147]

जैनधर्म के मुक्ति पथ में इनकी प्रमुखता नहीं होते हुए भी लोक पद्धति में इन तथ्यों की मान्यता है, ग्रहों का उपराग, ग्रहण, आदि को अशुभ माना जाता है। यदि कदाचित् दीक्षार्थी के पाप कर्म के उदय से कुछ अशुभ घटित हो गया, तो सामान्य जन तो उन आचार्य को दोष देंगे कि उन्होंने अच्छे मुहुर्त में दीक्षा नहीं दी थी। आचार्य विवेकी नहीं है - आदि-आदि बातें लोकापवाद में प्रचलित होगीं। तथा द्वितीय तथ्य यह भी है कि उपर्युक्त दीक्षा के लिए अयोग्य काल प्रकृति की असामान्य स्थिति है। ऐसे समय में अधिकांशतः लोग भय से शंकाग्रस्त एवं असामान्य रहते हैं। अतः ऐसे समय में दीक्षा जैसे काम में प्रचलित लोक पद्धति को भी स्वीकारा है। उपर्युक्त तथ्यों के अतिरिक्त अन्य कोई मनोवैज्ञानिक कारण सम्भवतः नहीं है।

श्रमण दीक्षा, योग्य आचार्य से ली जाती है तथापि तीर्थंकर किसी से दीक्षा नहीं लेते हैं, जैन पुराण इसका साक्षी है, और यह नियम है। तीर्थंकर ऋषभदेव ने दीक्षाकाल में पूर्व दिशा की ओर मुख करके पद्मासन से विराजमान होकर सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार करके पंचमुष्ठि केशलोंच करके स्वयं श्रमणधर्म में दीक्षित हो गये थे।[148] सिद्ध भगवान को आदर्श इस कारण से बनाते हैं कि, उनमें सर्वांश शुद्रता प्रकट होने से सबसे बड़े हैं। चूंकि एककाल में उस क्षेत्र में एक ही तीर्थंकर होता है, जो सबसे बड़े माने जाते हैं, अतः वे अपना कोई गुरू नहीं बनाते हैं। इस कारण उनकी किसी आचार्य से दीक्षा नहीं होती है, क्योंकि वे अति पौरूषवन्त होते हैं। तीर्थंकर दीक्षा-काल में सिद्धों को ही नमस्कार करके दीक्षा लेते हैं।[149] परन्तु सामान्य जन के लिए यह आवश्यक है कि, वह किसी आचार्य के समक्ष जाकर गुरू के एवं संघ के सम्मुख पूर्व की ओर पद्मासन बैठकर दीक्षा की विनीत भाव से प्रार्थना करे। (पूर्व की ओर बैठकर याचना करना, प्रगति पथ पर अग्रसर होने की भावना का द्योतक है)

आचार्य के समक्ष जाकर दीक्षा याचना का भी कोई अन्तिम नियम नहीं माना जा सकता है। क्योंकि ऐसा भी सम्भव है कि श्रामण्यार्थी को कोई योग्य दीक्षा दायक आचार्य उपलब्ध न हो सके। उस क्षेत्र और उस काल में कोई साधु होवे ही नहीं, साधुओं की परम्परा कुछ अवधि के लिये समाप्त भी हो सकती है। तिलोयपण्णत्ति में यह जो आया कि पंचम काल में अन्त तक जैन श्रमण रहेंगे, लेकिन यह नहीं लिखा कि अखण्ड रूप से रहेंगे, कुछ काल के लिए बाधा भी आ सकती है। अतः ऐसे समय में श्रामण्यार्थी को बिना आचार्य के श्रमण धर्म को अंगीकार करना होगा। द्वितीय यह है कि साधु हो, लेकिन उस समय उपलब्ध न हो सके जैसे कि राजा मधु ने हाथी पर चढ़े ही बिना किसी आचार्य के श्रमण धर्म को स्वीकारा था। परन्तु दीक्षा और दान शब्द के भावों पर ध्यान देवें तो ये शब्द तो द्वित्व के सूचक है-प्रथम दीक्षा लेने वाला, द्वितीय दीक्षा का दान देने वाला आचार्य है। दान शब्द ही सापेक्ष है।

जैसे सम्पत्ति दो तरह से प्राप्त होती है, प्रथम तो स्वयं के विवेक एवं शक्ति के आधार पर प्रयत्न कर प्राप्त करना - इस स्थिति में अति अल्प, महापौरूषवन्त पुरूष आते हैं, इनके पथ का कोई प्रदर्शक नहीं होता है। द्वितीय वे जो परम्परा से प्राप्त शैली को प्राप्त कर तद्विषयक अनुभवी विद्वानों से निर्देशन प्राप्त करते हुए धन प्राप्त करते हैं। इसमें सभी सामान्य जन समाहित हैं। इसी प्रकार जो किसी से योग्य दिशा निर्देशन प्राप्त न करते हुए स्वयं सही दिशा का चयन कर मोक्ष पथ के पथिक होते हैं, वे स्वयं सभी के पथ प्रदर्शक होते हैं, उनका कोई पथ प्रदर्शक नहीं होता है। इसमें तीर्थंकर ही आते हैं। द्वितीय में सामान्य श्रमण होते हैं जो परम्परा से प्राप्त आचार्यों के समक्ष प्रत्यक्ष रूप से जाकर दीक्षा-दान की याचना करते हैं, और आचार्य, परम्परा से प्राप्त अट्ठाइस मूलगुण रूपी सम्पत्ति का दान करते हैं। परन्तु ऐसे श्रामण्यार्थी जिनको दुर्भाग्य से आचार्य की प्राप्ति न हो सके तो इस परिस्थिति में, जिनालय की दिशा की ओर या जिनविम्ब के समक्ष जाकर जैनागम की परम्परा के खण्डन का भय रखते हुये अति सावधानी पूर्वक मन में आचार्य को स्थापित करके श्रामण्य धर्म स्वीकारा जा सकता है, जैसे कि राजा मधु ने किया था। इसी प्रकार के उदाहरण जैनागम में यत्र-तत्र प्राप्त हैं, परन्तु यह **राजमार्ग नहीं है**। क्योंकि ऐसा करने पर जैन परम्परा की व्युच्छित्ति का भय ज्यादा एवं स्वच्छन्दता की संभावना अधिक रहती है। अतः ऐसा सामान्य रूप से करणीय नहीं है। **आचार्य के समीप जाकर दीक्षा दान लेना यही करणीय राजमार्ग है।**

दीक्षादान विधि में, आचार्य के समीप जाकर आचार्य के द्वारा परीक्षा करके बिना किसी क्रियाकाण्ड के दीक्षा दान के उदाहरण ही प्राप्त हैं, परन्तु "क्रियाकलाप" ग्रन्थ में लिखा है कि "दीक्षा के पूर्व-दिन भोजन के पहले के समय पर वह दीक्षार्थी गुरू के पास विधिवत् पात्र में भोजन करने का त्याग करके करपात्र में भोजन ग्रहण करके जिनमन्दिर में आता है। पुनः दीक्षा के दिन उपवास ग्रहण करने के लिए "वृहत्प्रत्याख्यान प्रतिष्ठापन" क्रिया में सिद्ध भक्ति और योग भक्ति पढ़कर गुरू के पास उपवास सहित प्रत्याख्यान ग्रहण करके आचार्य भक्ति, शांति भक्ति, और समाधि भक्ति पढ़कर गुरू को नमस्कार करता है।[150] यह पद्धति सम्भवतः दीक्षार्थी के पूर्वाभ्यास हेतु चलायी गयी है, परन्तु फिर ग्रन्थकारों में वर्तमान कालीन मुनि विद्यानन्द, ने "पिच्छ कमण्डलु", में एवं आर्यिका ज्ञानमति ने "दिगम्बर मुनि" में दीक्षार्थी के द्वारा गणधर वलय, शान्ति विधान एवं चारित्र शुद्धि विधान आदि कार्यक्रम कराने के लिए लिखा है इसका तो औचित्य माना जा सकता है परन्तु दीक्षार्थी को मंगल स्नान, यथायोग्य वस्त्र अलंकार आदि से युक्त महामहोत्सव (गाजे बाजे से) के साथ दीक्षाविधि में शामिल करके दीक्षाविधि को एक प्रदर्शन की वस्तु बनाकर रख दिया है। दीक्षा जैसी विधि में बाह्य प्रपंचों का अन्त करके ही प्रवेश करना उत्तम है।

दीक्षा के हेतु आचार्य के एवं समस्त संघ के सम्मुख उपस्थित होने पर एवं उनसे अनुमति मिलने पर केशलोंच करते हुए नग्नत्व स्वीकार करना चाहिए, तत्पश्चात् आचार्य

उसका नाम रखते हुए मस्तक को बायें हाथ से स्पर्श करते हुए निम्न मन्त्र पढ़ते हैं।"

"ॐ णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं। ॐ परमहंसाय परमेष्ठिने हंस हंस हं हां हं हौ है हः जिनाय नमः जिनं स्थापयामि संवौषट्।

इस मंत्र को पढ़कर श्रामण्यार्थी में "जिन" के रूप में 28 मूलगुणों की उसमें नाम स्थापना कर देते हैं, तथा वह अट्ठाइस मूलगुण स्वीकार करके अपने गुरूजन से अपने कर्तव्य कर्म को सुनता है और उसे स्वीकार करते हुए श्रमण हो जाता है। तत्पश्चात् गुर्वाबलि देते हैं।

स्वस्ति श्री महावीर निर्वाणाब्दे----तमे मासानामुत्तमे मासि----पक्षे----तिथि वासरे मूलसंघे सरस्वती गच्छे सेनगणे श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यपरम्परायां गुरू श्री----तिच्छिष्य श्री----शिष्यस्य शिष्यः----नामद्येयस्त्वमसि।[151]

अथ पिच्छोपकरणदानम्

ॐ णमो अरहंताणं। भो अन्तेवासिन्! षड जीवनिकायरक्षणाय मार्दव सौकुमार्यरजः स्वेदाग्रह लघुत्व पंचगुणोपेतमिदं पिच्छोपकरणं गृहाण! गृहाण! इति पिच्छिकादानम्।

अथ शौचोपकरण प्रदानम्

ॐ णमो अरहंताणं। रत्नत्रयपवित्रीकरणांगाय बाह्याभ्यन्तर मलशुद्धाय नमः। भो अन्तेवासिन्! इदं शौचोपकरणं गृहाण! गृहाण! इति गुरूः वामहस्तेन कमण्डलु दद्यात्।

अथ शास्त्र दानम्

ॐ णमो अरहंताणं। मतिश्रुतावधिमनः पर्ययकेवलज्ञानाय द्वादशांगश्रुताय नमः। भोअन्तेवासिन्! इदं ज्ञानोपकरणं गृहाण! गृहाण! इति शास्त्र दानम्।

इस प्रकार इस दीक्षा के पश्चात् ही अन्य मुनि प्रतिवन्दना करते हैं।

पिच्छि-कमण्डलु

पिच्छि शब्द केवल मयूर पंख का वाचक है। अमरकोषकार ने लिखा है "पिच्छिवर्हेनपुंसके" पिच्छि और"वर्ह"मयूर पंख के वाचक हैं और नपुंसक लिंग हैं। यह मयूर पिच्छि दिगम्बर मुनि के लिए संयम का साधन तो है ही, साथ ही मुद्रा भी है। मुद्रा अर्थात् चिन्ह की सर्वत्र आवश्यकता एवं मान्यता है। नीतिसार में कहा गया है कि-

"मुद्रा सर्वत्र मान्या स्यान्निर्मुद्रो नैव मन्यते"

अर्थात् मुद्रा की सब जगह मान्यता है जिसके पास मुद्रा नहीं होती, उसकी लोक में भी मान्यता नहीं होती है। राष्ट्र की भी अपनी मुद्रा होती है। कागज का रूपया भी मुद्रा से चलता है, अन्यथा उसकी कीमत नहीं है। इसी तरह दिगम्बर मुनि भी पिच्छि और कमण्डलु से जाने जाते हैं। इनके बिना तो उन्मत्त पुरुष के भ्रम की संभावनाएं ही प्रबल रहती हैं। भद्रबाहु क्रियासार में श्रमण के लिए पिच्छि रखना अनिवार्य बतलाया है।

जो सवणो णहि पिच्छं गिण्हदि णिंदेदि मूढचारित्तो।
सो सव्व-संघ वज्झो अवंदणिज्जो सदा होदि।। 79।।

अर्थात् जो श्रमण पिच्छि को ग्रहण नहीं करता और उसकी निन्दा करता है वह "मूढ़ चारित्र" है। क्योंकि चारित्र पालन में कार्योत्सर्ग और आने-जाने में तथा उठने-बैठने में पिच्छि से परिमार्जित करने की आवश्यकता है। पिच्छि बिना सम्यक् चारित्र का पालन नहीं होता है। अतः पिच्छि के बिना श्रमण, संघ से निष्कासन करने योग्य है और अवन्दनीय है। इस कारण पिच्छि जिनशासन की शान है।

दिगम्बर श्रमण के लिए मयूर के पंख की पिच्छि का उपयोग करने के लिए कहा गया है। एक अहिंसक एवं महाव्रतधारी श्रमण के लिए प्रकृति द्वारा सहज-प्रदत्त इस प्रकार के उपादान को स्वीकारना अहिंसा में साधक ही है, बाधक नहीं। दिगम्बर श्रमण के पास कुछ भी वस्त्रादिक कृत्रिम परिग्रह नहीं होता है, यदि ऐसा होता तो उसको भी श्वेताम्बरों की तरह रजोहरण आदि जैसे उपकरण दिये जाते। परन्तु नग्न निरीह श्रमण को किसी प्रकार का पाणिपाद-स्पर्श-आघात, आलेखनजन्य दोष न लगे, इसी प्रयोजन वश पिच्छि रखने का विधान है। तत्वार्थ श्लोक वार्तिककार ने "**दत्तादानं स्तेयं**[152] की व्याख्या में निर्देश दिया है कि, किसी के द्वारा दिये बिना किसी वस्तु को ऐसे ही ग्रहण कर लेना चोरी कहलाती है- यह सामान्य नियम है। चाहे संसारी व्यक्ति हो अथवा वीतरागी मुनि, अदत्तादान सभी के लिए निषिद्ध है। तब पिच्छि और कमण्डलु के लिए श्रमण क्या करें ? याचना करना निंदनीय है। साथ ही शौच एवं संयम के लिए उनका रखना भी आवश्यक है। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि दिगम्बर मुनि को धर्म पालने के लिए शास्त्रादेश के पालन में, नदियों, झरनों का जल, शुष्क भस्म आदि तथा स्वयंमुक्त मयूरपिच्छि, स्वयंवृन्तच्युत तुम्बीफल आदि ग्रहण करना स्तेय नहीं है।

श्रमण को संयम के लिए मयूर पिच्छि के प्रयोग का ही निर्देश है। इसका कारण यह है कि यह ग्राम अथवा वन प्रायः सभी जगह पाया जाता है। यह वस्तु व्यवस्था के कौशल एवं आदर्श का प्रतीक है। इसी के पंख ऐसे हैं कि जो अत्यन्त सुकोमल एवं दोषनिरोधक हैं

तथा कार्तिक मास में स्वतः झड़ जाते हैं। अपने आप झड़कर भूमि पर पड़े हुए इन पंखों को लेने पर मुनि को अदत्तादान से उत्पन्न होने वाला चोरी का दोष नही लगता है, और बड़े पैमाने पर मिलते रहने की वजह से इनकी प्राप्ति में विघ्न नहीं आता है। ये सदैव, प्रतिवर्ष नियत समय पर बिना हिंसा के, वृक्षों से स्वयं गिरे हुए पत्तों की तरह झड़ जाते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इसी तरह प्रकृति प्रदत्त अन्य सामग्री भी जो स्वयं गिर जाती है (फलादिक) श्रमण ग्रहण कर सकें। मयूरपिच्छि के ग्रहण का इस तरह का विधान तो उनकी अहिंसक वृत्ति को निराबाध पालन हेतु है।

मयूरपिच्छि के गुण बतलाते हुए आचार्य शिवार्य कहते हैं कि जो पिच्छि धूल और पसीने को न पकड़ती हो, कोमल स्पर्शवाली हो, सुकुमार हो, हल्की हो, जिसमें ये पाँच गुण होते हैं वह प्रतिलेखना प्रशंसनीय है।[153] इसकी विजयोदया टीका में कहा है कि "सचित्त या अचित्त रज और पसीने को ग्रहण न करती हो, क्योंकि अचित्त रज को ग्रहण करने वाली पिच्छि से सचित्त रज की प्रतिलेखना करने पर उनमें रहने वाले जीवों का घात होता है। और सचित्त रज को ग्रहण करने वाली पिच्छि से रज में रहने वाले जीवों का घात होता है। पसीने को पकड़ने वाली पिच्छि से रज में रहने वाले जीवों का घात होता है। अतः पिच्छि, कोमल स्पर्श वाली, सुकुमार और हल्की होनी चाहिए। जिस प्रतिलेखन में ये पाँच गुण होते हैं, दया की विधि को जानने वाले उसकी प्रशंसा करते हैं। इसका भाव यह है कि कठोर, असुकुमार और भारी प्रतिलेखना से जीवों का घात ही होता है, दया नहीं। पिच्छि के प्रयोग की विधि बतलाते हुए कहा कि "गमन में, ग्रहण में, रखने में मल-त्याग के स्थान में, बैठने में, शयन में, ऊपर को मुख करके सोने में, करवट लेने में, हाथ-पैर फैलाने में संकोचन में और स्पर्शन में पिच्छि से परिमार्जन करना चाहिए।[154] श्वेताम्बरीय परम्परा में इस पिच्छिका को रजोहरण से व्यवहृत किया है। दिगम्बर परम्परा में तो मयूर पंख की पिच्छि होती है, इसलिए इसका नाम भी पिच्छि पड़ा। परन्तु श्वेताम्बर श्रमण मयूर की पिच्छि प्रयोग नहीं करते हैं। उनके यहाँ रजोहरण निम्न वस्तुओं से बनते हैं।

1. **और्णिक** - भेड़ की ऊन से बने रजोहरण
2. **औष्ट्रिक** - ऊँट के बालों से बने रजोहरण
3. **सानिक** - सन से बने रजोहरण
4. **पच्चापिच्चिय** - वल्वज नामक मोटी घास को कूटकर बनाया गया रजोहरण
5. **मुज्जापिच्चिय** - मूंज को कूटकर बनाया रजोहरण[155]

यहाँ पर श्वेताम्बर परम्परा के ये रजोहरण, चूँकि यहाँ परिग्रह के प्रतीक वस्त्रादिक भी स्वीकृत हैं। अतः फिर सहज रूप से रजोहरण भी उसी शैली के स्वीकृत हुए। उपर्युक्त विधि से बने रजोहरणों में ऊँट और भेड़ के बालों-रोमों से बनाये हुए रजोहरणों में सम्मूर्च्छन जीव भी पैदा होते हैं जबकि मयूरपिच्छि के साथ ऐसा नहीं है। तथा रजोहरण

सहज प्राप्त भी नहीं है, अपितु प्रयत्न प्राप्त है एवं मृदु, सुकुमार, आदि पंचगुण भी नहीं हैं। अतः मयूरपिच्छि ही सर्वोत्कृष्ट ठहरती है।

यह सर्वोत्कृष्ट मयूर पिच्छि होते हुए भी इसका स्वच्छन्दता पूर्वक उपयोग नहीं किया जा सकता है। यदि कोई श्रमण पिच्छि को तकिया, मन्त्र-तन्त्र, झाड़, फूँक, गण्डा, तावीज आदि लौकिक किसी भी कार्य हेतु अपनी सुख-सुविधा यश आदि की चाह के रूप में करता है अथवा सूर्य की तेज धूप से बचने के लिए शिर-मस्तक ढाँकने के काम में ले, तो उस पिच्छि को भोग सामग्री के रूप में प्रयोग करने के कारण वह भोगी है, योगी नहीं। अतः ऐसा श्रमण प्रायश्चित्त कल्याण के योग्य है। इसी प्रकार के भाव का निम्न श्लोक है।

उच्छीर्षस्य विधानेऽपि प्रतिलेखस्य छंदे।
मस्तकारवरणाद्देयं कल्याणं वा न दुष्यति।।[156]

अति प्राचीन काल से श्रमण पिच्छि धारण करते आये हैं। हिन्दुओं के पद्मपुराण के तेरहवें अध्याय में तथा विष्णुपुराण एवं शिवपुराण में पिच्छि का निरूपण दिगम्बर साधु के लिए किया गया है। क्रमशः उदाहरण देखें-

योगी दिगम्बरो मुण्डो वर्हिपिच्छधरोद्विजः (पद्म पु.)
ततो दिगम्बरो मुण्डो वर्हिपिच्छधरो द्विजः (विष्णु पु.)
मयूर चन्द्रिका मुण्जपिच्छिकां धारयन् करे (शिव पु.)

पिच्छि- कमण्डलु धारण करने पर लोगों की श्रद्धा होती है। मोक्षमार्ग में विश्वास रहता है। परन्तु पिच्छि-कमण्डलु धारण करने मात्र से ही वह मोक्ष का अधिकारी नहीं हो जाता है। सरहपाद में लिखा है कि[157]

पिच्छिग्गहणे दिट्ठि मोक्ख ता मोरह चमरह।
उच्छ भोअणे होई जाणंता करिह तुरंगह।।

अर्थात् यदि पिच्छि ग्रहण करने मात्र से मुक्ति की प्राप्ति होती तो इसका प्रथम अधिकारी मयूर होना चाहिए, और यदि उण्छ भोजन से मुक्ति मिलती तो पशुओं को, जो वन में इधर-उधर नाना वृक्षों के पत्ते खाकर अपनी जीवन वृत्ति चलाते हैं, उनको मोक्ष पहले मिलता। इसका आशय यह है कि सम्यक् चारित्र से ही मुक्ति मिलती है।[158]

श्रमण के ग्राह्य ये उपकरण व्यवहार शास्त्र के अंग हैं। जब मुनि आचार्य की वन्दना करते समय पिच्छि को मस्तक से लगाकर पश्चार्धशाय्या से "मैं वन्दना करता हूँ[159] ऐसा

कहते हुए नमस्कार करते हैं, तब आचार्य भी अपने हाथ में पिच्छि लेकर मुनि की प्रतिवन्दना करते हैं।[160]

व्यवहार शास्त्र के अंगभूत इन उपकरणों को न्यून संयम वाले अपवादमार्गी श्रमणों को ही आवश्यकता होती है; उत्सर्गमार्गी धारी उपेक्षासंयम वाले वीतराग चारित्रवंतों को आवश्यक नहीं। इस तथ्य को बतलाते हुए कुन्दकुन्द कृत नियमसार गा. 64 की टीका करते हुए अमृतचन्द्र कहते हैं कि, "**अपहृतसंयमिनां संयमज्ञानाद्युपकरणग्रहणविसर्ग समय समुद्भव समितिप्रकारोक्तिरियम्। उपेक्षासंयमिनां न पुस्तककमण्डलुप्रभृतयः, अतस्ते परमजिनमुनयः एकान्तो निस्पृहाः, अत एव बाह्योपकरण निर्मुक्ताः। अभ्यन्तरोपकरणं निजपरमतत्वप्रकाशदक्षं निरूपाधिस्वरूप सहजज्ञानमन्तरेण न किमप्युपादेयमस्ति। अपहृतसंयमधराणां परमागमार्थस्य पुनः-पुनः प्रत्यभिज्ञान कारणं पुस्तकं ज्ञानोपकरणमिति यावत्, शौचोपकरणं च कायविशुद्धि हेतुः कमण्डलु, संयमोपकरण हेतुः पिच्छिः।**

अर्थात् अपहृत संयमियों को (सराग चरित्र, न्यूनतासहित संयम) संयम ज्ञानादिक के उपकरण लेते- रखते समय उत्पन्न होने वाली समिति का प्रकार कहा है। उपेक्षा संयमियों को (उत्सर्ग, निश्चयनय) पुस्तक, कमण्डलु, आदि नहीं होते हैं, वे परमजिन मुनि एकान्त में (सर्वथा) निस्पृह होते हैं। इसीलिए वे बाह्योपकरण रहित होते हैं। अभ्यंतर उपकरणभूत, निजपरमतत्व को प्रकाशित करने में चतुर ऐसा जो निरूपाधि स्वरूप सहज- ज्ञान उसके अतिरिक्त अन्य कुछ उपादेय नहीं है। अपहृतसंयमधरों को परमागम के अर्थ का पुनः-पुनः प्रत्यभिज्ञान होने में कारणभूत ऐसी पुस्तक वह ज्ञान का उपकरण है, शौच का उपकरण कायविशुद्धि के हेतु-भूत कमण्डलु है, संयम का उपकरण हेतु पिच्छि है।

भावसंग्रहकार ने अवधि ज्ञान प्राप्ति के पूर्व तक स्वयंपतित मयूर पिच्छि को प्रतिलेखन शुद्धि के लिए आवश्यक बतलाया।[161]

कुन्दकुन्द के भावप्राभृत गा. 81 के चतुर्थ चरण "जिणलिंग णिम्मलं शुद्ध" की टीका करते हुए मुनि श्रुतसागर ने कहा है कि "जिणलिंग णिम्मलं शुद्ध" जिनलिंग नग्नरूपमर्हन्मुद्रा मयूर पिच्छिकमण्डलु सहितं निर्मलं कथ्यते। तद्द्वयरहितलिंगं कश्मलमित्युच्यते तीर्थंकर परमदेवात्तप्तर्द्धे बिना अवधिज्ञानादृते चेत्यर्थः।

अर्थात् मयूर पिच्छि व कमण्डलु सहित नग्न रूप ही अर्हन्त भगवान की मुद्रा है, और वह निर्दोष तथा निर्मल है। जो इन दोनों से रहित नग्न रूप है वह मलिन कहा जाता है। किन्तु तीर्थंकर परमदेव, सप्तर्द्धि धारक, तथा अवधिज्ञानी के पिच्छि-कमण्डलु धारण आवश्यक नहीं है। ये पिच्छि-कमण्डलु रहित ही अर्हन्त मुद्राधारक हैं। "महावीर चरित"

में दीक्षा लेते ही मनःपर्यय ज्ञान एवं अप्रमत्त गुणस्थान तीर्थंकर के कहा है। तब पिच्छि-कमण्डलु का ग्रहण सम्भव नहीं है।[162] जयसेन कृत प्रतिष्ठापाठ में कहा है कि कमण्डलु-पिच्छि का ग्रहण तीर्थंकर के नहीं होता, क्योंकि उनके शौच क्रिया और जीव हिंसा का अभाव है। कमण्डलु पिच्छि का प्रयोग तो सामान्य साधु के लिए उपयोगी है, क्योंकि उनके शौच क्रिया और जीव हिंसा है। जिनसेन कृत आदि पुराण में भी दीक्षाकल्याणक में ऋषभदेव के कहीं भी पिच्छि कमण्डलु ग्रहण नहीं बतलाया है। इसी प्रकार प्रतिष्ठाचार्य दुर्गाप्रसाद जी ने भी भगवान के दीक्षा समय पिच्छि-कमण्डलु का अभाव बतलाया है। श्वेताम्बर परम्परा में तीर्थंकरों के पिच्छि-कमण्डलु का निषेध बतलाया है।

तत्वार्थ श्लोक वार्तिक में "पिच्छि" के उपर्युक्त प्रसंगों के साथ एक और प्रश्न उठाया है कि जब श्रमण पिच्छि रखते हैं तो उसका परिग्रह होने से मूर्च्छा माननी चाहिये ? क्योंकि उठाते हैं, रखते हैं, यह बिना मूर्च्छा के कैसे सम्भव है ? इसका समाधान देते हुए आचार्य विद्यानन्द महोदय कहते हैं कि, "इसीलिए परमनिर्ग्रन्थता हो जाने पर परिहार- विशुद्धि संयमवालों के पिच्छि का त्याग हो जाता है, जैसे सूक्ष्म- साम्पराय और यथाख्यात- संयम वालों के हो जाता है, किन्तु सामायिक और छेदोपस्थापना संयम वाले श्रमणों के संयम का उपकरण होने से प्रतिलेखन (पिच्छि) का ग्रहण सूक्ष्म मूर्च्छा के सद्भाव में भी युक्त ही है। द्वितीय, उसमें जैन मार्ग का विरोध नहीं है। तात्पर्य यह है कि जिन सामायिक और छेदोपस्थापना संयम वाले मुनियों के पिच्छि आदि का ग्रहण है; क्योंकि उनके सूक्ष्म मूर्च्छा का सद्भाव है, और शेष तीन संयम वाले मुनियों के पिच्छि आदि का त्याग हो जाने से उनके मूर्च्छा नहीं है। दूसरी बात यह है कि मुनि के लिए पिच्छि आदि का ग्रहण जैन मार्ग से अविरुद्ध है। अतः उसके ग्रहण में कोई दोष नहीं है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि मुनि वस्त्र आदि का भी ग्रहण करने लगे; क्योंकि वस्त्र आदि नाग्न्य और संयम के उपकरण नहीं हैं; दूसरे, वे जैन मार्ग के विरोधी हैं; तीसरे, वे सभी के उपयोग के साधन हैं। इसके अलावा, केवल तीन-चार पिच्छ व केवल अलावूफल-तूमरी (कमण्डलु) प्रायः मूल्य में नहीं मिलते हैं, जिससे उन्हें भी उपयोग का साधन कहा जाए। निःसन्देह यदि मूल्य देकर पिच्छादि का भी ग्रहण किया जाए तो वह आपत्तिजनक है, क्योंकि उसमें सिद्धान्त विरोध है[163] तात्पर्य है कि पिच्छादिक न तो मूल्यवान वस्तुएँ हैं, और न ही दूसरों के उपयोग की वस्तुएँ हीं, अतः मुनि के लिए उसके ग्रहण में मूर्च्छा नहीं है। लेकिन वस्त्रादि मूल्यवान वस्तुएँ अन्यों के भी उपभोग्य हैं, अतः उनके ग्रहण में ममत्वरूप मूर्च्छा होती है।

उपर्युक्त इन उद्धरणों से यह बात स्पष्ट होती है कि, अवधि ज्ञान के पूर्व तक पिच्छि की आवश्यकता होती है एवं सामायिक तथा छेदोपस्थापना चारित्र धारी के लिए पिच्छि अनिवार्य आवश्यकता है। यह चारित्र छठवें से नवें गुणस्थान तक होता है, परन्तु परिहार-विशुद्धि चारित्र वालों का शरीर सूक्ष्म-जीवों को बाधित नहीं करता है, अतः उनके पिच्छि

की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार दसवें गुणस्थान में होने वाला सूक्ष्म- सांपराय एवं 11 वें से 14वें गुणस्थान तक यथाख्यात- चारित्र में सूक्ष्म मूर्च्छा का भी अभाव होने से तथा पिच्छि के धारण का विकल्प नहीं होने से पिच्छि नहीं रहती है। चूंकि पिच्छि मोक्ष का कारण नहीं है। अतः गुणस्थान बढ़ने पर पिच्छि छूट जाती है। तीर्थंकरों के निहार नहीं होता है। अतः उनके शरीर की शुद्धि के लिए कमण्डलु की आवश्यकता नहीं है। गुणस्थानों की उपेक्षा उपर्युक्त छेदोपस्थापना, परिहार-विशुद्धि आदि चरित्र का वर्णन अगले अध्याय में किया जाएगा।

"मयूरपिच्छि" में वस्तुगत विचार कर यदि यह कहा जाए कि मयूर का परित्यक्त अंग होने के कारण अपवित्र है, अतः इसका ग्रहण नहीं करना चाहिए; तो इसका उत्तर मुनि चामुण्डराय ने देते हुए कहा कि **मयूरपिच्छि, सर्पमणि, और सीप से उत्पन्न मोती आदि शरीर से उत्पन्न एवं अशुचि होते हुए भी लोक व्यवहार में पवित्र मान लिये गये हैं।**[164] अतः प्रतिलेखन शुद्धि के लिए पिच्छि को रखना शास्त्र सम्मत एवं लोक सम्मत है। यह मात्र जीवदया हेतु स्वीकृत है। मयूर पिच्छि में ही यह विशेषता होती है कि नेत्रों में फिराने पर भी नेत्र में पीड़ा नहीं होती है एवं पंचरंगा होने से पाँच पापों के त्याग रूप संकल्प का प्रतीक भी है। परन्तु सामायिक एवं छेदापस्थापना के अलावा शेष चारित्र में संकल्पों के विकल्पों का अभाव होने से पिच्छि भी स्वतः छूट जाती है।

कमण्डलु को सम्मूर्च्छन जीवों की हिंसा से बचाने के लिए पन्द्रह-पन्द्रह दिनों में प्रक्षालित कर (बाहर-भीतर से धोकर) स्वच्छ करते रहना चाहिए। यदि एक पक्ष के पश्चात् भी उसको शुद्ध न किया गया तो प्रतिक्रमण एवं उपवास प्रायश्चित्त के योग्य वह श्रमण है। इसी प्रकार उस कमण्डलु को वह श्रमण जिन-मन्दिर की वेदी के पास न ले जावे, एवं आहार के समय पास न रखे क्योंकि कमण्डलु शौच- क्रिया में प्रयुक्त होने के कारण अशुद्ध होने से लोक विरुद्ध है।

इस प्रकार जैन श्रमण पिच्छि- कमण्डलु को रखकर उससे संयम भाव एवं जीव दया को पुष्ट करते हैं, एवं सर्वोत्कृष्ट चारित्र को प्राप्त करते हैं। लोगों को इस मुद्रा पर विश्वास जागृत रहता है। अतः पिच्छि-कमण्डलु के रूप में यह मुद्रा सर्वत्र आदरणीय होती है।

उत्सर्ग-अपवाद मार्ग :-

मोक्ष का मार्ग तो अपनी आत्मा में चिर परिणति रूप साधना का नाम है, और इस अवस्था में लगी हुयी दशा को श्रामण्य कहा जाता है। श्रामण्य का अपर नाम साम्य है। इस अवस्था को प्राप्त साधक की अनादि-कालीन संस्कारवश यह कमजोरी होती है कि वह अखण्डतः अन्तर्मुहुर्त तक स्वरूप में नहीं रह पाता है। शारीरिक आवश्यकताओं की

पूर्ति भी करनी पड़ती है, परन्तु यह उसकी मूल साधना नहीं है। शरीर की स्थिति के कारण आहार-विहार आदि में प्रवृत्ति भी करनी पड़ती है, यदि सर्वथा उसे उपेक्षित कर दें, तो यह निःसन्देह अत्युत्तम कार्य तो है, परन्तु उसमें विद्यमान कमजोरियाँ ऐसा नहीं होने देतीं, और ऐसी स्थिति में कहीं मूल का ही घात न हो जाए। अतः वह तलवार की धार पर चलने के समान, शारीरिक क्रियाएँ भी सम्पन्न करता है, परन्तु उन क्रियाओं में अनर्गल प्रवृत्ति नहीं करता है, क्योंकि इससे उसकी साधना ही सम्भव नहीं। अतः वह साधक दोनों ही स्थितियों में अति सन्तुलन करके चलता है। इसी उभय पक्षीय साधना को उत्सर्ग और अपवाद अर्थात् आत्मिक चर्या उत्सर्ग एवं शारीरिक चर्या को अपवाद मार्ग कहते हैं। वस्तुतः मोक्ष का मार्ग तो एक ही है, उत्सर्ग और अपवाद ये दो मार्ग नहीं हैं। उत्सर्ग और अपवाद ये दोनों नयों के भेद हैं। उत्सर्ग को द्रव्यार्थिक एवं अपवाद को पर्यायार्थिक नय कहते हैं।

अनेकान्तात्मक वस्तु में विरोध के बिना हेतु की मुख्यता से साध्य विशेष की यथार्थता को प्राप्त कराने में समर्थ प्रयोग को नय कहते हैं। इसके दो भेद हैं, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक। द्रव्य का अर्थ सामान्य, उत्सर्ग और अनुवृति है, इसको विषय करने वाला नय द्रव्यार्थिक, तथा पर्याय का अर्थ विशेष/अपवाद/व्यावृत्ति है उसको विषय करने वाला पर्यायार्थिक नय कहलाता है।[165] इन द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक नयों को निश्चय और व्यवहार शब्दों में प्रयुक्त किया जाता है। जो यथार्थ स्वरूप को प्रकट करे उसे निश्चय नय और जो प्रयोजनादि की अपेक्षा वस्तु तत्व को कहे उसे व्यवहार नय कहते हैं।

. वस्तुतः परम सामायिक रूप आत्मिक स्थिरता ही मोक्ष मार्ग है। इस स्वरूप को बतलाने वाला उत्सर्ग मार्ग है, परन्तु जब स्वरूप स्थिरता नहीं हो पाती है, और उससे छद्म दशा होती है तो उस दशा में भी सामायिक की ओर सन्मुखता लिये हुए परिणाम को मोक्षमार्ग का आरोप होने से उसे अपवाद मार्ग कहा है। सामायिक अवस्था रूप उत्सर्ग-मार्ग को तो सामान्य रूप से कह दिया गया, उसका विशेष भेद एवं व्याख्यान किया ही नहीं जा सकता है। परन्तु अपवाद मार्ग को विशेष रूप से भेद रूप होने के कारण कोई मार्गभूल न हो जाने की आशंका से कहा जाता है। दर्शनपाहुड की टीका में भी "**विशेषोक्तो विधिरपवाद इति परिभाषणात्**" अर्थात् विशेष रूप से कही गयी विधि को अपवाद कहा है।" विशेष विशेषण इसलिए डाला गया कि जो सामान्य पद्धति के आश्रित नहीं रह पाये, अर्थात् सामान्य नियमों में नहीं रह पाते उन्हें सामान्य रखने के लिए विशेष नियम बनाने पड़ते हैं। इसी कारण "विशेष" विशेषण डाला गया। जैसे कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के शासन के जीव अज्ञानी एवं वक्र गति के जीव थे। अतः उनके लिए मोक्षमार्ग का विशेष रूप से अर्थात् अनेक नियमों उपनियमों में वर्णन करना पड़ा। परन्तु मध्य के तीर्थंकर के शासन के जीव सामान्य थे, अर्थात् अज्ञानी एवं वक्रमति के नहीं थे, वे इशारे में बात समझ लेते थे, और उस बात का छल ग्रहण नहीं करते थे। अतः विशेष नियमों की आवश्यकता

नहीं पड़ी। उसी प्रकार सामान्य रूप से मोक्ष का मार्ग आत्मा को जानो-मानो और उसमें रमण करो, सभी तीर्थंकरों ने यही कहा। परन्तु जब उसमें स्थिर रहा न जाए तो अन्यथा प्रवृत्ति न होने लगे। अतः अनर्गल प्रवृत्ति को रोकने के लिए ही अपवाद-मार्ग का आश्रय लिया गया। अपवाद मार्ग मोक्षमार्ग नहीं अपितु उसका सहयोगी है।

प्रवचनसार में गा. 230 की अमृतचन्द्र टीका में भी यही देखने को मिलता है। वहाँ कहा है कि " "**शरीरस्य शुद्धात्मतत्व साधनभूत संयम साधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात् तथा बाल वृद्धश्रान्तग्लानस्यस्वस्य योग्य मृद्वाप्याचरणमाचरणीयमित्यपवादः।**" अर्थात् बाल, वृद्ध, श्रान्त व ग्लान मुनियों को शुद्धात्मतत्व के साधन भूत संयम का साधन होने के कारण जो मूलभूत हैं, उसका छेद जिस प्रकार न हो उस प्रकार अपने योग्य मृदु आचरण ही आचरना चाहिए, इस प्रकार अपवाद है। आचार्य जयसेन भी इस गाथा में यही कहते हैं कि "**असमर्थ पुरूषः शुद्धात्मभावना सहकारितभूतं किमपि प्रासुकाहार ज्ञानोपकरणादिकं गृहणातीत्यऽपवादो "व्यवहारनय" एकदेश परित्यागस्तथा चापहृतसंयमः सरागचरित्रं शुभोपयोग इति यावदेकार्थः**" अर्थात् असमर्थ जन शुद्धात्मभावना के सहकारी भूत जो कुछ भी प्रासुकाहार ज्ञान व उपकरण आदि का ग्रहण करते हैं, उसी को अपवाद, व्यवहारनय, एकदेश त्याग, अपहृत संयम, सरागचारित्र, शुभोपयोग इन नामों से कहा गया है। प्रवचनसार में ही अमृतचन्द्र ने उत्सर्ग मार्ग का स्वरूप बतलाते हुए कहा कि **आत्मद्रव्यस्य द्वितीयपुद्गलद्रव्या भावात्सर्वएवोपाधिः प्रतिषद्धः उत्सर्गः**[166] अर्थात् उत्सर्ग मार्ग वह है कि जिसमें सर्व परिग्रह का त्याग किया जावे, क्योंकि आत्मा के एक अपने भाव के अतिरिक्त परद्रव्य रूप दूसरा पुद्गल भाव नहीं है। और चूंकि व्रत, तप आदि शुभ भाव पौद्गलिक भाव हैं, क्योंकि यह पर अर्थात् शारीराश्रित हैं। अतः उत्सर्ग मार्ग परिग्रह रहित है। शुद्रात्मा के सिवाय अन्य जो कुछ भी बाह्य अभ्यन्तर परिग्रह रूप है उस सर्व का त्याग ही उत्सर्ग है।

निश्चय नय कहो या सर्व परित्याग कहो या परमोपेक्षा संयम कहो, या वीतराग चारित्र कहो या शुद्रोपयोग ये सभी एकार्थवाची हैं।[167] अतः बाल, वृद्ध, श्रमित या ग्लान (रोगी) को भी संयम का जो शुद्रात्म तत्व का साधन होने से मूलभूत है उसका छेद जैसे न हो उस प्रकार संयत को अपने योग्य अति कर्कश आचरण ही आचरना उत्सर्ग है।[168] और यही उत्सर्ग वस्तुधर्म अर्थात् श्रमण धर्म है। मोक्षमार्ग का कारण है। अपवाद मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं है।[169] क्योंकि जब सर्वज्ञ देव ने देह को परिग्रह कहकर देह में भी संस्कार रहितपना कहा है। तब अन्य परिग्रहों को तो अवकाश ही कहाँ है। जैन दर्शन में **यथाजात रूप, लिंग, गुरू के वचन, सूत्रों का अध्ययन और विनय भी उपकरण कहे हैं, और उपकरण परिग्रह है। अतः इसको अपवाद-मार्ग में ही स्वीकारा है, उत्सर्ग-मार्ग के रूप में साक्षात् मोक्षमार्ग नहीं कहा है।**

उपर्युक्त "चार उपकरण अनिषद्ध उपधि अपवाद हैं, वहाँ वास्तव में ऐसा ही है कि जो श्रामण्य पर्याय के सहकारीभूत कारण के रूप में उपकार करने वाला होने से उपकरण हैं, दूसरा नहीं है। स्पष्टीकरण यह है कि सहज रूप से अपेक्षित यथाजातरूप पने के कारण जो बहिरंग लिंग भूत है ऐसे काय पुद्गल,(2) जिनका श्रवण किया जाता है ऐसे तत्कालबोधक गुरू के द्वारा कहे जाने पर "आत्मतत्व द्योतक सफल उपदेश रूप वचन पुद्गल (3) तथा जिनका अध्ययन किया जाता है ऐसे नित्य बोधक, अनादिनिधन, शुद्ध आत्म तत्व को प्रकाशित करने में समर्थ श्रुतज्ञान के साधनभूत शब्दात्मक सूत्र पुद्गल और (4) शुद्धात्म तत्व को व्यक्त करने वाली जो दार्शनिक पर्यायें, उन रूप से परिणमित पुरूष के प्रति विनीतता का अभिप्राय प्रवर्तित करने वाले चित्त पुद्गल का ग्रहण भी अपवाद-मार्ग है।

भावार्थ यह है कि जिस श्रमण की श्रामण्य पर्याय के सहकारी कारणभूत सभी कृत्रिमताओं से रहित यथाजातरूप के सम्मुख वृत्ति जाये, उसे काय का परिग्रह है, जिस श्रमण की गुरू-उपदेश के श्रमण में वृत्ति रुके, उसे वचन पुद्गल का परिग्रह है, जिस श्रमण की सूत्राध्ययन में वृत्ति रुके, उसके पुद्गलों का परिग्रह है, और जिस श्रमण के योग्य पुरूष के विनय रूप परिणाम हों उसके मन के पुद्गलों का परिग्रह है। यद्यपि यह परिग्रह उपकरणभूत है, इसलिए अपवाद मार्ग में निषेध नहीं है।[170]

यह अपवाद मार्ग चामुण्डराय ने उत्कृष्ट, मध्यम, एवं जघन्य के भेद से तीन प्रकार का कहा है-

जो मुनि वसतिका और आहार इन दोनों वाह्य साधनों को प्रासुक ग्रहण करते हैं, तथा स्वाधीन व पराधीन दोनों प्रकार के ज्ञान व चारित्र पालते हैं, ऐसे मुनि बाहर के छोटे-बडे कीड़े आदि जीवों के मिलने पर उस देश व स्थान से अपनी आत्मा को हटा कर (अपने आप हटकर) उन जीवों की रक्षा कर देते हैं, इसे उत्कृष्ट संयम कहते हैं।

जो मुनि ऐसे जीवों के मिलने पर पिच्छि आदि कोमल उपकरण से देखकर उन जीवों को हटा देते हैं वह मध्यम संयम है।

जो कोमल उपकरण के सिवाय किसी भी अन्य उपकरण से उन जीवों को हटाने की इच्छा रखते हैं उसे जघन्य संयम कहते हैं।[171]

मुनि को सर्व प्रकार से अपने संयम की रक्षा करनी चाहिए। यदि संयम का पालन करने में अपना मरण होता हो तो उस समय के परिणामों को ध्यान में रखकर कार्य करना चाहिए। समन्तभद्र के असाध्य रोग के होने पर, मुनिव्रत को छोडकर तथा गृहस्थावस्था में

स्वस्थ होकर पुनः दीक्षित हुए,) परन्तु ऊँचे पद पर रहकर उसको कलंकित करना महान् अक्षम्य अपराध है। वैसे इस परिस्थिति में समाधिमरण योग्य है, परन्तु समाधिमरण न कर सके अथवा उसका जीवन धर्म प्रचार में गति दे सके तो दीक्षा छेद अनुपयोगी नहीं है। इस तरह मुनि दोषों से रहित होता है, वह फिर से शुद्ध हो सकता है, और उसके व्रतभंग का दोष नहीं लगता है।[172] परन्तु मुनि पद रहते हुए वह साधु जिस शुद्ध-अशुद्ध देश में जैसा-तैसा शुद्ध-अशुद्ध आहार व उपकरण ग्रहण करता है तो वह श्रमण गुण से रहित होकर संसार को बढ़ाने वाला ही है।[173] जो मुनि जिनलिंग को धारण करके फिर भी इच्छित परिग्रह का ग्रहण करते हैं। हे जीव! वे ही वमन करके फिर उस वमन को पीछे निगलते हैं।[174] अतः अपवाद का अर्थ स्वच्छन्दता नहीं है। अपवाद मार्ग में भी योग्य ही उपधि आदि के ग्रहण की आज्ञा है अयोग्य की नहीं। श्वे.पं. सुखलाल जी संघवी ने अपवाद मार्ग में सामिष भोजन का समर्थन करते हुए जो यह कहा कि "सामान्य रूप से तो अनगार मुनि सामिष आहार की भिक्षा लेने को इन्कार ही कर देता था, पर बीमारी जैसे संयोगों से बाधित होकर लेता भी था तो उसे स्वाद या पुष्टि की दृष्टि से नहीं, केवल निर्मम व अनासक्त दृष्टि से जीवन यात्रा के लिए लेता था---प्राचीन काल में अपवादिक रूप से ली जाने वाली सामिष आहार की भिक्षा किसी भी तरह से अहिंसा, संयम और तपोमय औत्सर्गिक मार्ग की बाधक नहीं हो सकती है।[175]

किन्तु सुखलालजी के द्वारा मान्य अपवाद मार्ग का यह स्वरूप कदापि संभव नहीं। अपवाद की भी कुछ सीमाएं निर्धारित हैं, जिनका कि श्रमण कभी भी अतिक्रमण नहीं करता है। जब श्रावक के लिए ही उपर्युक्त आहार का निषेध है, तो श्रमण के सामिष भोजन की कल्पना कैसे की जा सकती है। सामिष भोजन करना "चाहे वह कैसी भी परिस्थिति ही क्यों न हो," जघन्य हिंसा है और श्रमण ऐसा त्रिकाल में नहीं कर सकता है, और जो ऐसा करता है, वह त्रिकाल में भी श्रमण नहीं माना जा सकता है। वह श्रावक बनकर यथेच्छ करे तो करे, परन्तु मुनि पद में यह असंभव ही है। अपवाद का अर्थ स्वच्छन्द जीवन नहीं है। इसी प्रकार श्वे. मुनि श्री न्यायविजय जी ने यह कहा कि "शिकारी शिकार का पीछा कर रहा है यदि मुनि उस समय अतथ्य बोले तो उसका अपवाद मार्ग है---स्त्री नदी में डूब रही है, साधु तपस्या छोड़कर बचावे तो वह ब्रह्मचर्य में दोष लगने पर भी अपवाद मार्ग में होने से करणीय है।[176]

यहाँ पर अपवाद के माध्यम से स्वच्छन्दता का ही पोषण है। भाषा समिति के पालक श्रमण को ऐसे समय में मौन धारण करना चाहिए तथा डूबती हुयी स्त्री को बचाना साधु पद के योग्य नहीं, क्योंकि ऐसी स्थिति में तो जंगल में "जिसकी लाठी उसकी भैंस" की नीति होने से, वहाँ पर कहीं बिल्ली चूहा को तो कहीं कुत्ता बिल्ली को मारते रहते हैं और यह सब जंगल का मान्य सिद्धान्त है। यह सब श्रमण की आखों के सामने होता रहता है, तो वे ध्यान छोड़कर क्या बचाने का व्यवसाय करेंगे ? परन्तु वे इन दशाओं में अनित्यादि बारह

भावनाओं का ही चिन्तन करते हैं। पर को बचाने के प्रयत्न का काम तो गृहस्थ पद के योग्य है। अतः उपर्युक्त मान्यताएं अपवाद मार्ग नहीं हैं। वस्तुतः वही अपवाद स्वीकृत है कि जो उत्सर्ग का साधक हो "सामान्य (उत्सर्ग) और " अपवाद" दोनों वाक्य शास्त्रों के एक ही अर्थ को लेकर प्रयुक्त हैं। जैसे ऊँच-नीच का व्यवहार सापेक्ष होने से एक ही अर्थ का साधक है, वैसे ही सामान्य और अपवाद दोनों परस्पर एक होने से एक ही अर्थ का साधक है, तथा ही सामान्य और अपवाद दोनों परस्पर एक होने से एक ही प्रयोजन को सिद्ध करते हैं।[177] जो लोक निंदित न हो, वही श्रमण को आचरणीय है। यही आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार में कहते हैं कि जो उपधि (परिग्रह) सर्वथा बंध का असाधक होने से अनिंदित है, संयत के अतिरिक्त अन्यत्र अनुचित होने से संयत जनों के द्वारा अप्रार्थनीय है, और रागादि परिणाम के बिना धारण की जाने से मूर्च्छादिक के उत्पादन से रहित है वह वास्तव में अनिषिद्ध है। इससे यथोक्त स्वरूपवाली उपधि ही उपादेय है, किन्तु किंचित मात्र भी तथोक्त स्वरूप से विपरीत स्वरूप वाली उपधि उपादेय नहीं है।[178]

साधु के एक ही पिच्छिका और एक ही कमण्डलु होता है, क्योंकि उससे ही उसका संयम सिद्ध होता है। दूसरा कमण्डलु व दूसरी पिच्छिका उसको संयम साधन में कारण नहीं है। अवशिष्ट ज्ञानोपकरण (शास्त्र) भी समाधिमरण के समय परिग्रह माना गया है।[179] क्योंकि परिग्रह तो एकान्तिक (सम्यक् एकान्त) रूप से अन्तरंग छेद का कारण होने से त्याज्य है और परिग्रह के निषेध का उद्देश्य अन्तरंग छेद का ही निषेध है। अतः समाधि- मरण के समय सर्वथा परिग्रह का त्याग किया जाता है "कोई निरपेक्ष (किसी भी वस्तु की अपेक्षा रहित) त्याग न हो तो श्रमण के भाव की विशुद्धि नहीं होती, और जो भाव में अविशुद्ध है उनके कर्मों का क्षय कैसे हो सकता है।[180] तथा परिग्रह के सद्भाव में उस भिक्षु के मूर्च्छा आरम्भ या असंयम न हो यह कैसे हो सकता है?तथा जो परद्रव्य में रत हो वह आत्मा को कैसे साध सकता है।[181] अतः जिस उपधि के (आहार- निहारादिक के) ग्रहण-विसर्जन में, सेवन करने में, सेवन करने वालों के छेद न होता हो उस उपधि को काल, क्षेत्र को जानकर इस लोक में श्रमण को विचरण करना चाहिए।[182] इसकी टीका में आचार्य जयसेन कहते हैं कि काल की अपेक्षा पंचमकाल या शीत आदि ऋतु की अपेक्षा भरतक्षेत्र या नगर जंगल आदि इन दोनों को जानकर जिस उपकरण से स्व-संवेदन लक्षण भावसंयम का अथवा बाहरी द्रव्य संयम का घात न होवे, उस तरह से मुनि को चलना चाहिए। वस्तुतः श्रामण्य धर्म में विवेक की अति आवश्यकता है। अतः विचार पूर्वक आचरण करने वाले साधुओं को आरोग्य और आत्मस्वरूप में अवस्थान रखने के लिए, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, बल और वीर्य इन छह बातों की अच्छी तरह पर्यालोचन करके, सर्वाशन विद्वाशन और शुद्धाशन के द्वारा आहार आदि में प्रवृत्ति करना चाहिए।[183] यदि पित्त के प्रकोपवश उपवास करने में असमर्थ रहे, व जिन्हें आधे आहार की अपेक्षा उपवास करने में अधिक थकान होती है, उन्हें अवमौदर्य तप करना चाहिए।[184]

अपवाद का स्वरूप द्रव्य, क्षेत्र काल एवं भाव की अपेक्षा है। यह दृष्टि-बिन्दु वस्तु धर्म का प्रासंगिक यथोचित दर्शन करने में अति उपयोगी है। एवं कृत्य, अकृत्य और उनके परिणाम का विचार करने में, कार्य में, कर्तव्य-अकर्तव्य के निर्णय करने में भी सहयोगी है। किसी विशिष्ट समय में उत्सर्ग मार्ग ग्रहण करना चाहिए और किसी विशिष्ट समय में अपवाद का अवलम्बन लेना, यह कतई आवश्यक नहीं है। यह तो उस समय के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के आधार पर श्रमण के परिणामों की दिशा पर ही आधारित है। विषम परिस्थिति में भी उसको सहन करने की शक्ति हो तो, अपवाद मार्ग आवश्यक नहीं, परन्तु वह मार्ग कतई स्वीकृत नहीं, जिसमें पद की गरिमा ही कलंकित हो। अतः अपवाद मार्ग की भी सीमाएं है, यद्धा-तद्धा आचरण अपवाद मार्ग कदापि नहीं कहा जा सकता है।

उत्सर्ग- अपवाद मार्ग में परस्पर सापेक्षता को श्रेयस्कर बतलाते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि - बाल, वृद्ध, श्रान्त अथवा ग्लान श्रमण को भी संयम का कि जो शुद्धात्म तत्व का साधक होने से मूलभूत है, उसका छेद जिस प्रकार न हो उस प्रकार संयत का ऐसा अपने योग्य अति कर्कश आचरण ही आचरना उत्सर्ग है।....संयम के साधनभूत शरीर का छेद जिस प्रकार न हो उस प्रकार अपने योग्य मृदु आचरण ही आचरना अपवाद है। संयम का छेद जिस प्रकार न हो उस प्रकार योग्य अति कर्कश आचरण आचरते हुए भी शरीर का छेद जिस प्रकार न हो ऐसे अपने योग्य मृदु आचरण का आचरना अपवाद- सापेक्ष उत्सर्ग है। इससे सर्वथा उत्सर्ग-अपवाद की मैत्री के द्वारा आचरण को स्थिर रखना चाहिए।[185] तथा कम शक्ति वाले श्रमणों को निरपेक्ष उत्सर्ग या अपवाद मार्ग कल्याणकारी नहीं है-यह बतलाते हुए आचार्य अमृतचन्द्र देव पुनः कहते हैं कि देशकालज्ञ को भी, यदि वह बाल, वृद्ध, श्रान्त, ग्लान के कारण जो आहार-विहार है, उससे होने वाले अल्प लेप के भय से उसमें प्रवृत्ति न करे, तो अपवाद के आश्रय से होने वाले अल्पबन्ध के भय से उत्सर्ग का हठ करके अपवाद में प्रवृत्त न हो तो अति कर्कश आचरण रूप होकर अक्रम से शरीर पात करके देवलोक प्राप्त करता है। जिसने समस्त संयमामृत का समूह वमन कर डाला है, उसे तप का अवकाश न रहने से, जिसका प्रतिकार अशक्त है ऐसा महान लेप होता है, इसलिए अपवाद निरपेक्ष उत्सर्ग श्रेयस्कर नहीं है। और यदि वह बाल, वृद्ध, श्रान्त, ग्लानत्व के कारण आहार-विहार में होने वाले अल्प लेप को गिनकर उसमें यथेष्ट प्रवृत्ति करे, अर्थात् अपवाद से होने वाले अल्पबन्ध के प्रति असावधान होकर उत्सर्ग रूप ध्येय को चूककर अपवाद में स्वच्छन्दतया प्रवृत्ति करे, तो मृदु आचरण रूप होकर संयम विरोधी को असंयत जन के समान हुए उसको उस समय तप का अवकाश न रहने से, जिसका प्रतिकार अशक्य है ऐसा महान लेप होता है। इसलिए उत्सर्ग-निरपेक्ष अपवाद श्रेयस्कर नहीं है।

इससे उत्सर्ग और अपवाद के विरोध से होने वाले आचरण की दुःस्थितता सर्वथा निषेध्य है, और इसीलिए परस्पर सापेक्ष उत्सर्ग और अपवाद से जिसका कार्य प्रगट होता

है, ऐसा स्याद्वाद सर्वथा अनुसरण योग्य है।[186]

इसके तात्पर्य को और स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन कहते हैं कि, उपर्युक्त दशा वाला उत्सर्ग-मार्गधारी कर्मबन्ध के भय से प्रासुक आहार को ग्रहण नहीं करता है, लेकिन शुद्धोपयोग में निश्चलता न पाकर चित्त में आर्तध्यान से संक्लेश भाव हो जाएगा। तब शरीर त्यागकर अर्जित पुण्य से देवलोक प्राप्त होगा। जहाँ बहुत काल तक असंयमित होने से पाप बंध होगा, अतः शुद्धात्मा की भावना को साधन कराने वाला थोड़ासा भी कर्मबन्ध हो तो लाभ अधिक है, ऐसा जानकर अपवाद की अपेक्षा सहित उत्सर्ग को साधता है। अतः किसी कारण से औषधि, पथ्य आदि के लेने में कुछ कर्मबन्ध होगा, ऐसा भय करके रोग का उपाय न करके शुद्धात्मा की भावना भी नहीं कर पाता है, तो महान् कर्मबन्ध होता है। अथवा व्याधि के उपाय में प्रवर्तता हुआ भी हरीतकी अर्थात् हरण के बहाने गुण खाने के समान इन्द्रियों के सुख में लम्पटी होकर संयम की विराधना करता है, तो भी महान् कर्मबन्ध होता है। इसलिए साधु-उत्सर्ग निरपेक्ष अपवाद को त्यागकर शुद्धात्मा की विराधना न करते हुए औषधि पथ्यादि के निमित्त अल्प कर्म बन्ध होते हुए भी बहुत गुणों से पूर्ण उत्सर्गमार्ग की अपेक्षा सहित अपवाद को स्वीकार करता है। क्योंकि अपवाद का ग्रहण भी त्याग के लिए होता है, साथ ही अपवादमार्ग उत्सर्गमार्ग का साधक भी है। निरपेक्ष उत्सर्ग या अपवाद श्रेयस्कर नहीं, सापेक्षता ही श्रेय है।

इस तथ्य को चर्चा संग्रह में पं. रायमल्ल जी ने बहुत अच्छे ढंग से प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं कि "मुनिराज कमण्डलु पुस्तकादि विनयपूर्वक माँग भी लेवे हैं, अर आप सो गुणों में अधिक हो ताके अर्थ अज्ञानी जीव या ज्ञानी जीवों से औषधादि अर्थ याचना भी करै है-दोनों मुनियों का धर्म तो अयाचक ही है; परन्तु बहुत गुण से अल्प अपराध अच्छा है, और जो कोई मुनि के उपसर्ग होय व जिनधर्मादिक को उत्थापन होय तो ताके मेंटने के अर्थ संयम भी छोडे हैं। (जैसे विष्णुकुमार मुनि ने अकम्पनाचार्य के उपसर्ग को दूर करने हेतु दीक्षा का परित्याग किया था।) पड वाने पुण्य ही उपजै है। अपवाद इस प्रकार डमरू की नाई, संयम रखने के अर्थ वा परिणामों की विशुद्धता के अर्थ दोनों संयमों में प्रवर्ते है।[187]

इस प्रकार हम देखते हैं कि यथार्थ मार्ग तो उत्सर्ग ही है, वही वस्तु धर्म है, मोक्ष मार्ग है, जैसे पूर्व में स्पष्ट कर आये हैं। यही निश्चयनय है, परन्तु जब उस मार्ग में रहा नहीं जा सकता है, किन्तु किन्हीं कारणों से अपवाद का अवलम्बन किया जाता है। जहाँ पिच्छि- कमण्डलु को अपवाद स्वीकृत किया है। वहाँ योग्य प्रासुक, औषधि, तृणादि के उपयोग को भी अपवाद स्वीकृत किया है। अतः अपवाद दो प्रकार का भी ठहरता है। एक तो वास्तविक पिच्छि कमण्डलु रूप अपवाद; द्वितीय उपचरित देशकाल जन्य स्वीकृत उपचरित व्यवहार अपवाद। परन्तु इनका भी त्याग करना पड़ता है। स्वस्थ श्रमण को

उपचरित, तृण, औषधि का अपवाद स्वीकृत नहीं किया गया है, जो कि स्पष्ट ही है। अतः अपवाद का ग्रहण भी त्याग के अर्थ होता है। क्योंकि श्रमण के सर्वत्र शुद्धोपयोग का लक्ष्य ही सर्वोपरि है। अतः वह छेद के निषेध रूप है।[187]

सन्दर्भ-सूची :

1. सम्पूर्ण देशभेदाभ्यां स च धर्मो द्विधाभेवेत् । आद्ये भेदे च निर्ग्रन्थाः द्वितीये गृहिणः पद्म पं0 6/400
2. श्रामण्यापरनाम मोक्षमार्ग व्याख्यानम् - "प्रवचनसार गा. 201 टीका की भूमिका ।
3. उपासकाध्ययन - प्रस्तावना पृ0 92, ज्ञानपीठ प्रकाशन, संस्करण -1964
4. मूलाचार गा0 1 की टीका ।
5. प्रवचनसार गा. 208-9 की जयसेनाचार्य टीका, पृष्ठ 806 पंक्ति 10-17
6. मूलगुणैः शुद्धस्वरुपं साध्यं "मूलाचार प्र0 सं0 4, पंक्ति-6, गाथा 2 की वसुनन्दि टीका (ज्ञानपीठ प्रकाशन - 1984).
7. प्रवचनसार गाथा 208-9
8. समवायांग सूत्र 27/2
9. मूलाचार गा0 1 की टीका, पृष्ठ 2 ज्ञानपीठ प्रकाशन
10. ये मलुत्तर सण्णा मूलगुणा महव्वदादि अडवीसा । तव-परिसहादि भेदा, चोत्तीसा उत्तरगुणक्खा ।।3।। मूलाचार, फलटण प्रकाशन
11. पद्मनन्दिपंचविंशति - धर्मोपदेशामृतमधिकार - श्लोक 40
12. तच्च संक्षेपेण पंचमहाव्रत रूपं भवति। तेषां व्रतानां च रक्षणार्थं पंचसमित्यादि भेदेन पुनरष्टाविंशतिमूलगुणभेदा भवन्ति। प्रवचनसार पृ. 407
13. तेषां च मूलगुणानां रक्षणार्थं द्वाविंशति परीषहजय द्वादशविध तपश्चरण भेदेन चतुंस्त्रिशदुत्तरगुणा भवन्ति। तेषां च रक्षणार्थं देवमनुष्यतिर्यग चेतनकृतं चतुर्विधोपसर्गजय द्वादशानुप्रेक्षा भावनादयमश्चेत्यभिप्रायः "प्रवचनसार पृ. 407
14. योग दर्शन, पाद 2, सूत्र 31, जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना सार्वभौमा महाव्रतम्।
15. महान् शब्दो महत्वे प्राधान्ये वर्तते व्रतशब्दोऽपि सावद्यनिवृत्तो मोक्षावाप्ति निमित्ताचरणे वर्तते "महद्भिरनुष्ठितत्वात" । स्वत एव वा मोक्षप्रापकत्वेन महान्ति व्रतानि महाव्रतानि प्राणासंयमनिवृत्ति कारणानि। मूलाचार टीका पृ. 6, (ज्ञानपीठ प्रकाशन)
16. प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा,त.सू. अध्याय -------, सू.
17. सर्वार्थ सिद्धि - आठवां अध्याय सूत्र एक की टीका
18. मूलाचार पृ. 11-12
19. वही - गाथा 5 का विशेषार्थ
20. अनगार धर्मामृत 4.34
21. नियमसार गा. 57; मूलाचार गा. 290; आचार सार श्लोक 17; उत्तराध्ययन 25.40; दशवैकालिक 4.12

22. तत्वार्थ सूत्र 7/5
23. आचारांग सूत्र - द्वितीय श्रुतस्कन्ध, अध्ययन 15, सूत्र 780/82, पृ. 406, ब्यावर प्रकाशन।
24. आचारांग चूर्णि मू.पा.टी.पृ. 280; आवश्यक चूर्णि, प्रतिक्रमणाध्ययन पृ. 143-147
25. नियमसार गा. 58; आचारसार श्लोक 18
26. संगृहीतानि चात्मवशीकृतानि च क्षेत्रवास्तुधन धान्य पुस्तकोऽपकरणच्छात्रादीनि तेषां सर्वेषां नादानं न ग्रहणं आत्मीयकरणं विसर्जन - मूलाचार टीका पृ. 13 (ज्ञानपीठ प्रकाशन)
27. मूलाचार पृ. 14
28. अनगारधर्मामृत पृष्ठ 268 से उद्धृत
29. अनगारधर्मामृत 4/56, पृ. 268 (ज्ञानपीठ प्रकाशन)
30. अनगारधर्मामृत 4/56, पृ. 268 (ज्ञानपीठ प्रकाशन)
31. वही 4/57
32. वही, पृ. 270
33. भगवती आराधना पृ. 880-81; उत्तराध्ययन 19,18; दशवैकालिक 4.13
34. अनगारधर्मामृत 4/58, पृ. 271
35. भगवती आराधना श्लोक 885-887; अन.ध. 4/61
36. नियमसार गा. 59; मूलाचार गा. 8
37. मूलाचार गा. 8 की आचार वृत्ति पृ. 14; आचारसार श्लोक 59
38. तत्वार्थ सूत्र 7/7
39. भगवती आराधना गा. 93 की टीका
40. मूलाचार 4/179, वृत्ति सहित
41. मूलाचार 4/177, वृत्ति सहित
42. वही 4/180, 10/61 वृत्ति
43. भगवती आराधना 333-36
44. इत्थीस्वं णिरावेक्खं-मूलाचार 10/101
45. भगवती आराधना-गा. 334, 338
46. उत्तराध्ययन 16.1 (गद्य) दस बम्भचेरसमाहिगणापन्नता
47. "मूर्च्छा परिग्रहः" तत्वार्थ सूत्र 7/16
48. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय श्लोक 111
49. उक्यरणदंसणेण तस्सुवजोगेण मूच्छिदाए य।
लोहस्सुदीरणाए परिग्गहे जायदे सण्णा।। गो.जी.गा. 138
50. मूर्च्छारूपरागादि परिणामानुसारेण परिग्रहो भवति, न च वहिरंग परिग्रहानुसारेण" - प्रवचनसार पृ. 420, पं. 14 भावनगर प्रकाशन संस्करण सं. 2035
51. मूलाचार गा. 9

52. वही, आचारसार श्लोक 20
53. शरीरं धर्म संयुक्तं रक्षितव्यं प्रयत्नतः ।
इत्याप्त वाचस्त्वदेहरक्षत्याज्य एहेति तण्डलुः ।। 140 ।। अनगार धर्मामृत अध्याय 4
54. वही पृ. 302
55. क्षेत्रं धान्यं धनं वास्तु कुप्यं शयनमासनम् ।
द्वि पदाः पशवो भाण्डं बाह्या दश परिग्रहाः ।। 433 ।। श्लोक - उपासकाध्ययन
56. धनं धान्यं स्वर्ण रूप्य कुप्यानि क्षेत्र वास्तुनी ।
द्विपाच्चतुष्पाच्चेति स्युर्नव बाह्याः परिग्रहाः ।। योगशास्त्र 2/115 की वृत्ति
57. पूर्व दीक्षाकाले शुद्धबुद्धैक स्वभावं निजात्मानमेव परिग्रहंकृत्वा, शेषं समस्तं बाह्याभ्यन्तर परिग्रहं वर्दितवन्तस्त्यक्तवन्तः । एवं ज्ञात्वा शेष तपोधनैरपि निज परमात्म परिग्रहं स्वीकारं कृत्वा शेषः सर्वेऽपि परिग्रहो मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च त्यजनीय इति। प्रवचनसार पृ. 422, पं. 8-10
58. नियमसार गा. 60
59. प्रवचनसार गा. 420, पं. 15
60. प्रवचनसार पृ. 421, (भावनगर प्रकाशन)
61. अनगार धर्मामृत 4/50
62. भगवती आराधना गा. 1186
63. अनगारधर्मामृत श्लोक 153
64. वही श्लोक 154; मूलाचार गा. 333 की आचार वृत्ति
65. वही श्लोक 155
66. वही 156
67. वही 159
68. वही 160
69. वही 161
70. वही 162
71. मूलाचार गा. 10; अन. धर्म 4/163; आचारसार श्लोक 21
72. मूलाचार गा. 11; नियमसार गा. 61; आचारसार श्लोक 22; अन. धर्मा. 4/164
73. भगवती आराधना गा. 72
74. भगवती आराधना गा. 1199; सिद्धसेन कृत तत्वार्थ वृत्ति टीका भा. 2, पृ. 187
75. दश.-अ. 5 उ. 1 सूत्र 3-4
76. मूलाचार गा. 12; नियमसार गा. 62; आचार श्लोक 23
77. अनगार धर्मामृत 4/165-66 श्लोक
78. मूलाचार गा. 14; धर्मा. अन. 4/168; आचारसार श्लोक 24
79. मूलाचार गा. 14; अन. धर्मा. 4/168; आचारसार श्लोक 25; नियमसार गा. 64
80. भग. आरा. गा. 1206

81. अनगार धर्मामृत पृ. 357
82. मूलाचार गा. 15
83. परमात्म प्रकाश गा. 138
84. परमात्म प्रकाश गा. 138
85. वही गा. 139
86. अनगार धर्मामृत 8/16
87. वही 8/13
88. त्रिकालदेववंदना करण च तत्सामायिकं व्रतं भवतीत्यर्थः । मूलाचार गा. 23 की टीका
89. वही, गा. 25 व 27 की टीका,
90. मूलाचार गा. 29, सपडिक्कमणोदिवसे अववासेणेव कायव्वो; अन.ध. 9/86; कि.क. 4/26/1; कि.को. 4/26/1
91. आभरणाणि या सव्वाणि सारहिस्स पणामई-उत्तराध्ययन - 20.20, सयमेव लुंचई केसे पंच मुट्ठीहिं समाहिओ उत्तरा.20.24
92. पद्मपुराण 3/287-88; महापुराण 1/9; प. पं. वि. 13/14
93. महापुराण 39/109
94. वही 20/96
95. भगवती आराधना गा. 87 (शोलापुर प्रकाशन)
96. काकिन्या अपि संग्रहो न विहितः क्षौरं यया कार्यते,
चित्क्षेपकृद स्वमात्रमपि वा तत्सिद्धये नाश्रितम् ।
हिंसा हेतुरहो जटाद्यपि तथा यूकाभिरप्रार्थनेः,
वैराग्यादि विवर्धनाय यतिभिः केशेषु लोचः कृतः ।। पद्म पंचविंशति 2/42
97. भ.आ.गा. 90-91 की विजयोदया टीका
98. वही
99. केष वि. अप्पउ वंचिउ सिर लुंचिवि छारेण - परमात्म प्रकाश 2/90
100. उत्तराध्ययन, 22.10, नेमचन्द वृति पं. 341, प्रवचनसार 3/8-9
101. उपासकाध्ययन, 135
102. भगवती आराधना गा. 1118-1119
103. वही पृ. 326 (शोलापुर प्रकाशन)
104. वही पृ. 327
105. आवंती केयावंती - ए ए संगे अवियाणओ । आचारांग सूत्र 150
106. एयं खु मुणी--पास अहियासियं ।। वही सूत्र 182 ।।
107. जैन साहित्य में विकार
108. श्रमण भगवान महावीर पृ. 292
109. तत्वार्थ सूत्र 9/9 की व्याख्या

110. नग्नस्य वापि "कुचेलवतोऽप्युपचार नग्नस्य निरूपचरित नग्नस्य वा जिन कल्पिक - स्येति सामान्यमेव सूत्रम्
111. नाऽस्य चेलं वस्त्रमस्तीत्यचेलः अल्पचेलः इत्यर्थः - आचारांग शीलांक टीका सू. 182
112. अचेलं चेलाभावो जिन कल्पिकादीनाम्, अन्येषां तु भिन्नं अल्पमूल्यं चेलमप्यचेलम् उत्तराध्ययन टीका नेमीचन्द्र वृत्ति पं. 17
113. भगवान महावीर का अचेलकधर्म - पृ. 17, (ले.पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री)
114. पद्मनन्दि पंचविंशतिका 25/3
115. गृहस्थ योग्य प्रच्छादन विरहिते आत्मना वा संस्तरिते नान्येन - मूलाचार गा. 32 की आचार वृत्ति।
116. दुर्ध्यानार्थमवधकारणमहो निर्ग्रन्थता हानये, शय्या हेतु त्रणादि अपि प्रशमिनां लज्जाकरं स्वीकृतं।
यत्त किं न गृहस्थयोग्यमंपरं स्वर्गादिकम् साम्प्रतम्, निर्ग्रन्थेष्वपिचेत्तदस्तिनितरा दूरः प्रविष्टः काल।। पम. पंच 1/43.
117. आदि पुराण (ह.लि.प्र. अलीगंज जैन मन्दिर) पृ. 250
118. मूलाचार गा. 34 की आचारवृत्ति, पम. पंच 1/43; अन. ध. 9/93
119. आवश्यक चूर्णि, पूर्वभाग पृ. 217, आचारांग चूर्णि पं. 10, पृ. 309
120. अन.ध. 9/94
121. प्रवचनसार गा. 220 की जयसेन टीका
122. यतेर्मूलगुणाश्चाष्टाविंशतिर्मूलवक्तरोः।
नात्राप्यन्यतमेनोनातिरिक्ताः कदाचन।। पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध 643
123. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग 3, पृ. 266
124. आचारसार श्लोक 5-9 का सारांशः आ. जयसेन के प्रवचनसार गा. 255 की टीका (पृ. 435 में यथायोग्यं सच्छूद्राद्यापि कहकर दीक्षा का अधिकारी कहा है।)
125. पद्मपुराण पर्व 78, श्लोक 78-81
126. प्रवचनसार गा. 202 की अमृतचन्द्राचार्य टीका
127. प्रवचनसार गा. 201
128. वही, अमृतचन्द्राचार्य टीका "यथानुभूतस्य तत्प्रतिपत्तिवर्त्मनः प्रणेतारो वयमिमे तिष्ठाम इति।
129. तत्प्रतिप्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम्।।पद्म.पं.वि. 4/23
130. प्रवचनसार गा. 201 जयसेनाचार्य टीका-"अथासन्नजीवांश्चारित्रे प्रेरयति"
131. पद्मपुराण भाषा-भाषाकार-दौलतरामजी-पृष्ठ 538 (सस्तीग्रन्थमाला, दिल्ली, 1974)

132. यो यति धर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थ धर्ममल्पमतिः ।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानाम् ।। पुरुषार्थ सिद्धयुपाय श्लोक 18 ।।
133. उत्तराध्ययन सूत्र : एक परिशीलन पृ. 249-50
134. समन्वय वाणी अंक 5-6 वर्ष, 7 मार्च 87
135. बोध पाहुड गा. 54
136. महापुराण 38/151
137. उत्तराध्ययन सूत्र : एक परिशीलन पृ. 25
138. भगवती आराधना-निजयो. 77/207/10; यो.सा.आ. 8/52/1; आचार सार श्लोक 11; प्रवचनसार गा. 225 की जयसेनाचार्य टीका, पृ. 435 भावनगर प्रकाशन।
139. "आज (दैनिक समाचार पत्र) कानपुर संस्करण, 1 जनवरी 87-"युवा जैन साध्वी की साधना की डगर से खुला विद्रोह, मैं अब गृहस्थ बनूंगी"; समन्वयवाणी, सम्पादकीय, अंक मार्च 1987
140. जबरन मुनि दीक्षा (डॉ. सुरेश की पत्नी का व्यथा भरा पत्र प्रकाशित) जैन सन्देश 2 दिसम्बर 1982
141. मुनि जिनविजय अभिनन्दन ग्रन्थ
142. पिच्छि कमण्डलु, पृ. 57 संस्करण 1964
143. मोक्षलक्ष्मीस्वयंवरमण्डपभूतजिनदीक्षाक्षणे मंगलाचारभूतया अनन्तज्ञानादि सिद्धगुण भावनारूपया सिद्धभक्त्या----- । प्रवचनसार गा. 3 की जयसेन टीका
144. बोध पाहुड गा. 42-44
145. अष्टाविंशति भेदमात्मनि पुरा संरोप्य साधोव्रतं, साक्षीकृत्य जिनान् गुरूनपि। सज्जन चित्त वल्लभ श्लोक 13
146. सज्जनचित्त वल्लभ श्लोक 13 की टीका (टीकाकार योगश चन्द्र जैन)
147. महापुराण 39/159-60 - ग्रहोपरागे - नेच्छन्ति कृतबुद्धयः ।
148. महापुराण 17/200, "ततः पूर्वमुखं स्थित्वा कृत पंचे नमस्क्रियः। केशान् लुञ्चदानद्रपल्यङ्क पंचमुष्टिकम्"
149. स्याद्वादमंजरी 31/339/12
150. पूर्व दिन भोजन समये भाजनतिरस्कार विधि विधाय आहारं गृहीत्वा चैत्यालये आगच्छेत्। ततो ----। वृहद्दीक्षाविधिः, क्रियाकलाप पुस्तक पृ. 333
151. रिक्त स्थानों पर वर्ष, मास, पक्ष, तिथि, ग्रहण करना अभीष्ट है। "आचार्य परम्परायां" में गुरुओं की नामावली शिष्यपरम्परानुसार बोलते हुए दीक्षार्थी का मुनिपद से अभिप्रेत नाम पढ़ा जाता है।
152. तत्वार्थ सूत्र 7/15
153. भगवती आराधना गा. 97; सकलकीर्ति कृत धर्मप्रश्नोत्तर-अथपिच्छिकागुण ---- पिच्छिकाया जिनोदिताः ।

154. वही गा. 95
155. स्थानांग सूत्र 191, 5.3, पृ. 516, (व्यावर प्रकाशन)
156. प्रायश्चित्त समुच्चय 75, (पिच्छि कमण्डलु पृ. 110 से उद्धृत)
157. पिच्छि कमण्डलु पृ. 110
158. वही 110-11
159. पश्चर्ध्यशय्यया आनम्य सपिच्छाण्जलिभालकः - आचारसार - 61
160. विगौरवादि दोषेण सपिच्छाण्जलिशालिना।
सदब्जसर्याचार्येण कर्तव्यं प्रतिवन्दनम्।। वही 62
161. अवधेः प्राक् प्रगृच्छन्ति मृदुच्छन्ति मृदुपिच्छः यथागतम्।
यत् स्वयं पतितं भूमौ प्रतिलेखन शुद्धये।। भावसंग्रह 276, (वामदेवकृत)
162. महावीर चरित सर्ग 17, श्लोक 127, (असंग कवि कृत)
163. नन्वेवं पिच्छादि ग्रहणेऽपि मूर्च्छा स्यात्" इति चेत, तत्र एवं परमनैर्ग्रन्थ्यासिद्धौ परिहार विशुद्रि संयमभृतां तत्यागः सूक्ष्मसाम्पराय यथाख्यात संयमभृन्मुनिवत्। सामायिक छेदोपस्थापनसंयमभृतां तु यतीनां संयमोपकरणत्वात् प्रतिलेखनस्य ग्रहणं सूक्ष्ममूर्च्छासद्भावेऽपि युक्तमेव, मार्गोविरोधित्वाच्च। नत्वेव सुवर्णादिग्रहणप्रसंग, तस्य नाग्न्य-संयमोपकरणत्वाभावात्। सकलोपभोग सम्पन्नि बन्धनत्वाच्च न च त्रिचतुरपिच्छमात्रमलाबुफलमात्रं वा किंचिन्मूल्यं लभते यतस्तदप्युपभोग सम्पति निमितं स्यात्। नाहि मूल्यदान कययोग्यस्य पिच्छादेरपि ग्रहणं न्याय्यम् सिद्धान्त विरोधात्। -श्लोक वार्तिक पृ. 464
164. शरीरजा अपि गोमय गोरोचन---मयूरपिच्छ सर्पमणि शुक्ति मुक्ताफलादयो लोके शुचित्वमुपागताः - (चारित्रसार, अशुचित्वानुप्रेक्षा, पृ. 253)
165. द्रव्यसामान्यमुत्सर्गः अनुवृत्तिरित्यर्थः। तद्विषयो द्रव्यार्थिकः पर्यायो विशेषो अपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थः। तद्विषयः पर्यायार्थिकः। प्र.सा. गा. 230 की जयसेनाचार्य टीका।
166. प्रवचनसार गा. 222 की अमृत चन्द्र टीका।
167. वही गा. 230, जयसेनाचार्य टीका
168. वही गा. 230, अमृतचन्द्राचार्य टीका
169. उत्सर्ग एव वस्तु धर्मो न पुनरपवादः, "प्रवचनसार गा. 224 की अमृतचन्द्राचार्य की प्रस्तावना।
170. वही गा. 225 की टीका का भावार्थ।
171. चारित्र सार (चारित्र धर्म प्रकाश विवेचक मुनि विवेकसागर) पृ. 133
172. स्या.मं. 11/138
173. मूला. 931 - जो जट्ठ जहा लद्धमोणहदि आहारमुवधि---पक्कढओ होदि
174. प.प्र.मू. 2/91, जे जिणलिंग धरेवि - परिग्गह लेंति---पुण छिदिद् गिलंति।
175. निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय और उसके प्राचीन आचार विचारों पर ऐतिहासिक दृष्टिपात,
176. जैन दर्शन पृ. 493, ले.न्या.वा. मुनि न्यायविजय (श्वे.)

177. स्या. मं. 11/138/6
178. प्रवचनसार गा. 223
179. भग. आ. गा. 164 की विजयोदया टीका
180. प्रवचनसार गा. 220
181. वही गा. 221
182. प्रवचनसार गा. 222
183. अन.ध. 5/65
184. ध. 13/5, 4, 25/56/12
185. प्रवचनसार गा. 230 की आचार्य अमृतचन्द्र टीका।
186. प्रवचनसार गा. 231 की जीव तत्व प्रदीपिका टीका।
187. चर्चा संग्रह पृ. 66 (अप्रकाशित हस्तलिखित)
188. अयं तु आहार निहारादि ग्रहण-विसर्जन विषयच्छेद प्रतिषेधार्थं सुपादीयमानः सर्वथा शुद्धोपयोगाविनाभूतत्वाच्छेद प्रतिषेध एव स्यात्-प्र.सा.गा. 222 की जीवतत्व प्रदीपका।

तृतीय अध्याय

जैन श्रमण की आचार संहिता

जैन श्रमण की आचार संहिता के इस अध्याय में 28 मूलगुणों से विभूषित एवं उनको निरतिचार पालन करने वाले श्रमण की एक सम्पूर्ण जीवन पद्धति किस प्रकार की होती है। इस प्रकार की "अहोरात्र" चर्या इस अध्याय का विषय बनेगी।

आचार्य वट्टकेर कृत मूलाचार में "श्रमण" की इस जीवन पद्धति को समाचार अधिकार में वर्णित किया है।

समता, समाचार, सम्यक् आचार अथवा सम आचार या सभी का समान आचार ये समाचार शब्द के अर्थ हैं।[1] मूलाचार गा. 123 की आचारवृत्ति टीका में चार प्रकार के अर्थों से समाचार शब्द की निरूक्ति की है।

1. समता समाचार

सम का भाव समता है। रागद्वेष का अभाव होना समता समाचार है। अथवा त्रिकाल देववन्दना करना या पंचनमस्कार रूप परिणाम होना समता है, अथवा सामायिक व्रत को समता कहते हैं। ये सब समता समाचार हैं।

2. सम्यक् आचार

सम्यक् शोभन रूप निरतिचार मूलगुणों का अनुष्ठान अर्थात् आचरण अर्थात् निरतिचार मूलगुणों को पालना यह सम्यक् आचार रूप समाचार है, अथवा सम्यक् आचरण-ज्ञान अथवा निर्दोष भिक्षा ग्रहण करना यह समाचार है। चर् धातु भक्षण करना और गमन करना इन दो अर्थों में मानी गयी है, एवं गमनार्थक सभी धातुएं ज्ञानार्थक भी होती हैं। इस नियम से चर् धातु का एक बार ज्ञान अर्थ करना तब "समीचीन जानना" अर्थ विवक्षित हुआ; एवं एक बार "भक्षण अर्थ" करने पर "निर्दोष आहार" अर्थ लेना विवक्षित है। अतः समीचीन ज्ञान और निर्दोष आहार ग्रहण को भी सम्यक् आचार रूप "समाचार" कहा है।

3. सम आचार

पाँच (महाव्रत) आचारों को आचार कहा है जो कि प्रमत्त, अप्रमत्त, आदि सभी मुनियों में आचार समान रूप होने से सम-आचार है। क्योंकि ये सभी मुनि प्राणिवध आदि के त्याग करने रूप व्रतों से समान हैं, इसीलिए उनका आचार सम-आचार है। अथवा सम-उपशम अर्थात् क्रोधादि कषायों के अभाव रूप परिणाम से रहित जो आचरण है वह समाचार है। "सम" शब्द से दशलक्षण धर्म को भी ग्रहण किया जाता है। अतः इन क्षमादिदशधर्मों सहित जो आचार है वह समाचार है, अथवा आहार ग्रहण और देववन्दना आदि क्रियाओं में सभी साधुओं को सह अर्थात् साथ ही मिलकर आचरण करना समाचार है।

4. समान आचार

मान (परिणाम) के सह (साथ) जो रहता है वह समान है। यहाँ "सह" को "स" आदेश व्याकरण के नियम से करके सह मान समान बना है। अथवा समान मान को समान कहते हैं। अतः समान (बराबर) आचार "समान" है। यहाँ सभी का समान रूप से "मान" अर्थात् पूज्य या इष्ट जो आचार है वह समाचार है।

मूलाचार की इस गाथा में:-

समदा समाचारो साचारो समो व आचारो।
सव्वेसिं सम्माणं समाचारो दु आचारो।। 123।।

इसमें पाँच प्रकार से समाचार निर्देश मिलता है-समता समरसी भाव, समयाचार स्वसमय अर्थात् स्वरूप में आचरण या जिनागमोक्त व्यवस्था के अनुरूप आचार, सम्यक् आचार-समीचीन आचार, सम आचार सभी साधुओं का साथ-साथ आचरण या क्रियाओं का करना, सव्वेसिं अर्थात् सभी क्षेत्रों में समान आचार होना अर्थात् हानि-वृद्धि रहित सभी क्षेत्र-काल में समान रूप से आचरण रहना समाचार है।[2]

इस "समाचार को" औघिक और "पदविभागिक" के भेद रूप दो प्रकार से विभक्त किया है। औघिक समाचार दश प्रकार का है और पद विभागिक समाचार अनेक प्रकार का है।[3]

औघिक समाचार के दस भेद निम्न हैं।

इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, आसिका, निषेधिका, आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, छन्दन, सनिमन्त्रण और उपसंपत्।

इष्ट अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय में अथवा शुभ परिणाम में इच्छाकार होना अर्थात् इनको स्वीकार करना इनमें हर्ष भाव होना, **इनमें स्वेच्छा से प्रवृत्ति करना ही इच्छाकार है।**

अपराध अर्थात् अशुभ परिणाम अथवा व्रतादि में अतिचार होने पर मिथ्याकार होता है। व्रतादि में लगे दोषों को दूर करने के लिए "जं दुक्कडं तुमिच्छा"[4] अर्थात् मेरा दुष्कृत/दोष मिथ्या होवे ऐसा कहकर वह साधु **मन वचन काय से इन अपराधों से दूर होकर मिथ्याकार रूप होता है।**

प्रतिश्रवण अर्थात् गुरू के द्वारा सूत्र और अर्थ का प्रतिपादन होने पर उसे सुनकर **"आपने जैसा प्रतिपादन किया है वैसा ही है, अन्यथा नहीं"** ऐसा अनुराग व्यक्त करना तथा **पुनः सुनने की भावना रखना तथाकार है।**[5]

वसतिका आदि से निकलते समय देवता (शून्य गृह, विमोचितावास में व्यन्तरों के निवास की सम्भावना होने की अपेक्षा यह कथन सम्भव हो सकता है) या गृहस्थ आदि से **पूँछकर** निकलना अथवा पाप क्रियाओं से मन को हटाना **आसिका** है।

वसतिका आदि में प्रवेश करते समय वहाँ पर स्थित देव या मनुष्य आदि की स्वीकृति लेकर अर्थात् निःसही शब्द उच्चारण करके पूँछकर वहाँ प्रवेश करना और ठहरना अथवा सम्यग्दर्शन आदि में **स्थिर भाव रखना निषेधिका है।**

अपने कार्य-प्रयोजन के आरम्भ में अर्थात् पठन, गमन या योगग्रहण आदि कार्यों के प्रारम्भ में गुरू आदि की वन्दना करके उनसे **पूँछना आपृच्छा** है। समान है धर्म अनुष्ठान जिनका, वे सधर्मा हैं, तथा गुरू शब्द से दीक्षा गुरू, शिक्षा गुरू, उपदेश दाता गुरू, अथवा तपश्चरण में या ज्ञान में अधिक जो गुरू हैं -उन सधर्मा या गुरू से कोई उपकरण आदि पहले लिये थे, पुनः उन्हें वापिस दे दिये; यदि पुनरपि उनको ग्रहण का अभिप्राय हो तो पुनः **पूँछकर** लेना **प्रतिपृच्छा** है।

जिनकी कोई पुस्तक आदि वस्तुएं ली हैं, उनके अनुकूल ही उनकी वस्तुओं का सेवन/ उपयोग करना **छन्दन** है।

अगृहीत अन्य किसी की पुस्तक आदि वस्तुओं के विषय में आवश्यकता होने पर गुरूओं से सत्कार-पूर्वक याचना करना या ग्रहण कर लेने पर विनयपूर्वक उनसे निवेदन करना **निमंत्रण** है।

गुरूकुल अर्थात् गुरूओं के आम्नाय-**संघ में**, गुरूओं के विशाल पादमूल में **"मैं आपका हूँ"** इस प्रकार से आत्म का त्याग करना-**आत्म समर्पण** कर देना, उनके अनुकूल ही सारी प्रवृत्ति करना यह **उपसंपत्** है। उपसंपत् का अर्थ उपसेवा अर्थात् अपना निवेदन करना, जो विनय आदि के विषय में किया जाता है। अतः इसके पाँच भेद हैं। (1) विनयोपसंपत् (2) क्षेत्रोपसंपत् (3) मार्गोपसंपत् (4) सुख-दुःखोपसंपत् (5) सूत्रोपसंपत्।

1. विनयोपसंपत्

आगन्तुक अतिथि साधु की विनय और उपचार करना, उनके निवास स्थान एवं मार्ग के विषय में प्रश्न करना अर्थात् आप किस गुरू के हैं ? किस मार्ग से आये हैं? अर्थात् आप किस संघ में दीक्षित हुए हैं या आपके दीक्षा गुरू का नाम क्या है ? पश्चात् उन्हें समुचित वस्तु का दान करना जैसे पुस्तक, शास्त्र आदि, एवं उनके अनुकूल प्रवृत्ति करना आदि - यह विनय उपसंपत् है।[6]

2. क्षेत्र उपसंपत्

जिस क्षेत्र में संयम, तप, गुण, शील तथा यम और नियम वृद्धि को प्राप्त होते हैं। उस क्षेत्र में निवास करना, यह क्षेत्र उपसंपत् है।[7]

3. मार्गोपसंपत् -

संयम, तप, ज्ञान और ध्यान से युक्त आगन्तुक और स्थानीय अर्थात् उस संघ में रहने वाले साधुओं के बीच जो परस्पर में मार्ग में आने-जाने के विषय में सुख समाचार **पूँछना** है, वह **मार्गोपसंपत्** है।

4. सुख-दुःखोपसंपत्

यदि आगन्तुक साधु सुखी है, और उन्हें यदि मार्ग में शिष्य आदि का लाभ हुआ है, तो उन्हें उनके लिए उपयोगी पिच्छि, कमण्डलु, आदि देना और यदि आगन्तुक साधु दुःखी है और व्याधि आदि से पीडित है, तो उनके लिए सुखप्रद शय्या संस्तर आदि आसन से एवं उनके हाथ पैर दबाना आदि वैयावृत्ति से उनका उपकार करना।

5. सूत्रोपसंपत्

सूत्र पठन में प्रयत्न करना सूत्रोपसंपत् है। सूत्र के, लौकिक, वेद एवं समय की अपेक्षा से तीन भेद हैं। गणितादि शास्त्र **लौकिक सूत्र** हैं, सिद्धान्त शास्त्र **वैदिक सूत्र** हैं एवं तर्क शास्त्र को **समय** कहते हैं। इन सम्बन्धी शास्त्र सामायिक हैं ऐसे ग्रन्थों को गुरूकुल में आत्म-समर्पित भाव से पढ़ना सूत्रोपसंपत् है।

औघिक समाचार के उपर्युक्त विश्लेषण में इस बात का सहज बोध होता है कि साधु वर्ग समाज व्यवस्था में साक्षात् सिमटे हुए न होने पर भी वे किस तरह सधर्मा साधु वर्ग के प्रति सहयोग का व बड़ों के प्रति कितना सम्मान का भाव समेटे रहते हैं, और स्व पर के परिणामों के विकास में कितने सजग रहते हैं। इस तरह के सहयोग की सहज साध्य प्रवृत्ति व दूसरों के प्रति यथायोग्य करणीय व्यवहार सचमुच में साधु वर्ग से ही सीखा जा सकता है।

पद विभागिक समाचार :

श्रमण गण सूर्योदय से लेकर सम्पूर्ण अहोरात्र निरन्तर जो आचरण करते हैं, वह सब पदविभागी समाचार है। यहाँ पद के अनुष्ठान का नाम पद विभागी है। अतः पद के योग्य प्रातःकाल से लेकर पुनः सूर्योदय तक जो कार्य जैसे गमनागमन, चतुर्विंशतिस्तव, प्रतिक्रमण, सामायिक, आदि षडावश्यक, नित्यनैमित्तक क्रियाएं, आहार चर्या, आवास, आदि विविध एवं निरन्तर जिन नियमों का पालन करते हैं, वह सब पद विभागी समाचार कहलाता है। इस प्रकार यह पद विभागी समाचार अनेक प्रकार का कहलाता है।

जैन श्रमण के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी दिनचर्या को चार भागों में विभक्त कर ले, प्रथम प्रहर में **स्वाध्याय** द्वितीय में ध्यान, तृतीय में भिक्षा चर्या, एवं चतुर्थ में पुनः स्वाध्याय। इसी प्रकार रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर में ध्यान, तृतीय प्रहर में निद्रा एवं चतुर्थ प्रहर में पुनःस्वाध्याय करना चाहिए।[8]

जैन श्रमण की सम्पूर्ण चर्या जागरण रूप है उनका शयन भी वस्तुतः जागरण का ही एक दिव्य सन्देश लिये हुए है, क्योंकि "जिस रात में अर्थात् अज्ञानरूप अन्धकार में समस्त संसार सोता है, उसमें वह योगी स्वयं जागता है-आत्मस्वरूप के सम्मुख होकर प्रबुद्ध रहता है। वह अपने में अवस्थित सिद्ध और सब कल्पनाओं से रहित आत्मा को जानता है।

सब प्राणियों के विषय में जो रात्रि है, स्व-पर भेद सम्बन्धी अज्ञान है-उसमें योगी जागता है, प्रबुद्ध रहता है। तथा अन्य प्राणी जिस रात में जागते हैं, जिस विषयानुराग में निरन्तर प्रतिबुद्ध रहते हैं-वह आत्मस्वरूप के देखने वाले मुनि के लिए रात्रि है-वे मुनि उसमें सदा अप्रतिबुद्ध रहते हैं। तात्पर्य यह कि आत्मावबोध न होना रात्रि के समान तथा उसका होना दिन के समान है।[9]

अतः शोध के प्रस्तुत उद्यम में नव उत्साह, जागरण एवं अप्रदूषित अवस्था प्रातःकालीन वेला से प्रारम्भ करते हुए नित्य जागरण के प्रतीक रूप में सामायिक अवस्था के लिए उद्यमवन्त होते हैं।क्योंकि ये सामायिक, चतुर्विंशति स्तव, वंदना आदि साधु के

अहोरात्रि के षड़ावश्यक कर्म हैं।[10]

श्रमण की प्रातःकालीन वेला षडावश्यक से प्रारम्भ होती है। षडावश्यक का सामान्यतः स्वरूप मूलगुण प्रकरण में कर आए हैं। यहाँ पर उनका विशेष विवेचन प्रस्तुत है।

सामायिक :

"सामायिक" तद्धित का रूप है। अतः समः सर्वेषां समानो यो सर्गः पुण्यं वा समायस्तस्मिन् भवं, समये भवं वा सामायिकमिति। यहाँ "समाय" इकण् प्रत्यय होकर बना है। इस समाय से जो शोभित होता है वह सामायिक है समय में जो होवे वह सामायिक है।

समय शब्द का अर्थ इस प्रकार से है-"सम" उपसर्ग है जिसका अर्थ "एक पना" है और "अय गतौ" धातु है, जिसका अर्थ गमन और ज्ञान भी है, अतः एक साथ ही जानना और परिणमन करना, यह दोनों क्रियाएं एकत्वपूर्वक करे वह समय है। **यह जीव नामक पदार्थ एकत्व पूर्वक एक समय में परिणमन भी करता है और जानता भी है।**[11] अतः वह समय है, और उस समय में जो स्थित हो उस स्थिति को सामायिक कहते हैं, अथवा जो उस अवस्था से शोभित हो वह अवस्था सामायिक गुण है।

निश्चयनय से जैन श्रमण का यह सामायिक ही मूलगुण है, जैसा कि मूलगुण के विवेचन में लिखा था। इस "सामायिक संयम" का मुख्यता से उपदेश अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथ तक के तीर्थंकरों ने दिया था, और छेदोपस्थापना संयम का वर्णन ऋषभदेव और महावीर ने दिया था[12]

तीर्थंकर ऋषभदेव के तीर्थ के समय भोगभूमि समाप्त होकर कर्मभूमि प्रारम्भ हुयी थी। अतः उस समय के शिष्य **बहुत ही सरल किन्तु अज्ञान स्वभाव वाले** थे, तथा अन्तिम **तीर्थंकर महावीर** के समय अत्यन्त निकृष्ट वातावरण का प्रारम्भ हो चुका था, अतः उस समय के शिष्य **बहुत ही कुटिल परिणामी और जड़ स्वभावी** थे। इसीलिए इन दोनों तीर्थंकरों ने छेद अर्थात् भेद के उपस्थापन अर्थात् कथन रूप पाँच महाव्रतों का उपदेश दिया था। शेष बाईस तीर्थंकरों के समय के शिष्य विशेष बुद्धिमान थे, इसीलिए उन तीर्थंकरों ने मात्र सर्व सावद्ययोग के त्यागरूप एक सामायिक संयम का ही उपदेश दिया है, क्योंकि उनके लिए उतना ही पर्याप्त था। मात्र सामायिक संयम के उपदेश में ही उनकी वृत्ति सर्व पापों से विरत हो जाती थी[13] अर्थात् उनकी सम्पूर्ण वृत्ति सहज विवेक पूर्ण होती थी। इस तरह पंचव्रतों के भेद रूप से 28 मूलगुणों का स्वतः ही पालन हो जाया करता था। इतने विवेकी स्वयं होते थे, उनको 28 मूलगुणों के व्याख्यान की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी। परन्तु आज महावीर का शासन चल रहा है, इस समय वक्र स्वभाव के जीव होने के कारण

कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार में सामायिक संयम का उपदेश करते हुए भी भेदरूप 5 प्रकार से एवं विस्तार से 28 प्रकार से संयम का व्याख्यान किया। परन्तु इन सब भेदाभेद का प्रयोजन सर्व सावद्य योग के त्याग का भाव ही था। अतः वस्तुतः 24 तीर्थंकरों ने श्रमण का स्वरूप तो एक सा ही कहा, परन्तु शिष्यों की मानसिकता और उनके विवेक के आधार पर कथन पद्धति का संकोच- विस्तार कालक्रम से करना पड़ा।

भेद पद्धति के इस व्यवहार क्रम में सामायिक को समझने के लिए मूलाचार में उसके निम्न प्रकार छह भेद किये हैं :-

1. नाम सामायिक

शुभ नाम और अशुभ नाम को सुनकर रागद्वेष आदि का त्याग करना नाम सामायिक है।

2. स्थापना सामायिक

मूर्तियाँ सुस्थित हैं, सुप्रमाण हैं, सर्व अवयवों से सम्पूर्ण हैं, सद्भाव रूप हैं, तदाकार हैं, और मन के लिए आह्लादकारी हैं। पुनः, कुछ स्थापनाएं दुःस्थित हैं, प्रमाण रहित हैं, सर्व अवयवों से परिपूर्ण नहीं है और सद्भाव रहित-अतदाकार हैं। इन दोनों प्रकार की मूर्तियों में रागद्वेष का अभाव होना स्थापना सामायिक है।

3. द्रव्य सामायिक

सोना चांदी और मिट्टी के ढेले में समभाव, उनमें रागद्वेष नहीं होना द्रव्य सामायिक है।

4. क्षेत्र सामायिक

किसी भी क्षेत्र विशेष के साथ रम्य-अरम्य का रागद्वेषात्मक व्यवहार न होना क्षेत्र सामायिक है। वस्तुतः प्रत्येक द्रव्य का क्षेत्र उसके अपने प्रदेश हैं, निश्चय नय से तो उसी में उस द्रव्य का निवास है, बाह्य क्षेत्र तो व्यावहारिक हैं, अतः वे बदलते रहते हैं। उनके विनाश से आत्मा का विनाश नहीं है, फिर उन क्षेत्रादिक से रति-अरति कैसी ? पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि "जिन्हें आत्मस्वरूप की उपलब्धि नहीं हुयी उनका निवास गाँव और वन के भेद से दो प्रकार का है। किन्तु जिन्हें आत्म स्वरूप के दर्शन हुए हैं उनका निवास रागादि से रहित निश्चल आत्मा ही है[14]

5. काल सामायिक

छह ऋतुओं, रात्रि-दिवस इन कालों में राग द्वेष का त्याग **काल सामायिक** है। निश्चल काल तो अमूर्तिक है। अतः विवेकी व्यवहारकाल में रागद्वेष नहीं करते हैं।

6. भाव सामायिक

सभी जीवों पर मैत्री भाव रखना और अशुभ परिणामों का त्याग करना यह भाव सामायिक है। द्रव्यदृष्टि से जीव का स्वरूप तो अनादि-अनन्त एक चेतनामयी है. शेष सभी **कथित औदयिक, औपशमिक, क्षायिक एवं क्षायोपशमिक भाव कर्मजन्य एवं वैभाविक होने से** जीव से भिन्न हैं। अतः श्रमण उनसे रागद्वेष नहीं करते हैं।

भाव सामायिक के दो भेद होते हैं (1) आगम भाव सामायिक (2) नो आगम भाव सामायिक। सामायिक के वर्णन करने वाले प्राभृत ग्रन्थ का जो ज्ञाता है और उसके उपयोग से युक्त है वह जीव **आगम भाव सामायिक** है, और सामायिक से परिणत परिणाम आदि **नो आगम भाव सामायिक** है।[15]

सामायिक के उपर्युक्त भेदों में आगम भाव सामायिक एवं नो आगम भाव सामायिक से ही मुख्यतः श्रमणों का प्रयोजन है, और इसी भाव सामायिक को विस्तार देते हुए आचार्य वट्टकेर ने कहा है कि –

"सम्यग्दर्शन, ज्ञान, संयम और तप के साथ जो प्रशस्त समागम है वह समय कहा गया है। अतः उसे ही भाव सामायिक जानना चाहिए तथा जिन्होंने उपसर्ग और परीषह को जीत लिया है, जो भावना और समितियों से युक्त हैं, यम और नियम में उद्यमशील हैं, वे जीव सामायिक से परिणत हैं। इस प्रकार से परिणत हुए जीवों का अपने और पर में, माता और महिलाओं में अप्रिय और प्रिय तथा मान-अपमान आदि में समान भाव होता है, इसी कारण से वे श्रमण हैं, जो सचमुच में सामायिक की ही एक मूर्ति हैं वे जीवंत सामायिक हैं।[16] ऐसे सामायिक में परिणत हुए जीव ही समस्त द्रव्यों के गुणों के और पर्यायों के समवाय को और सद्भाव को जानते हैं, क्योंकि आत्मज्ञ ही सर्वज्ञ है।[17] ऐसे आत्मज्ञ श्रमण रागद्वेष का निरोध करके सभी कार्यों में समता भाव तथा द्वादशांग एवं चतुर्दश-पूर्व रूप सूत्रों का श्रद्धान होने से पाप योग से विरत होते हैं, तीन गुप्ति से सहित होते हैं, रूपादि विषयों में इन्द्रियों को न जाने देने से जो जितेन्द्रिय हैं, अतः ऐसे संयम के स्थान-भूत श्रमणों के ही उत्तम सामायिक होती है। कारण कि, उनकी आत्मा संयम, नियम एवं तप में स्थित है।

सामायिक के इस स्वरुप को और अधिक भेदों में प्रदर्शित करते हुए आचार्य वट्टकेर ने कहा कि सभी प्राणियों में (त्रसों और स्थावरों में) जो समभावी है, जिनके रागद्वेष

विकार उत्पन्न नहीं होते, जिन्होंने क्रोध, मान, माया, और लोभ को जीत लिया है। जिनकी संज्ञाएँ आहार-भय, मैथुन और परिग्रह रूप विकार को प्राप्त नहीं होती हैं। जिनके पाँच लेश्याएं कृष्ण, नील, कापोत आदि विकृत नहीं होती हैं। **रस और स्पर्श इन "काम" से नित्य ही दूर रहते हैं। रूप, गन्ध और शब्द के भोग को भोगते नहीं हैं।** जो आर्त और रौद्र ध्यान से दूर रहते हैं। धर्म और शुक्ल ध्यान को नित्य ध्याते हैं, ऐसे श्रमणों के जैन धर्म में सामायिक कही गयी है। ऐसी सामायिक का इतना माहात्म्य है कि सामायिक करते समय श्रावक भी श्रमण जैसा हो जाता है।[18] जैसे पर्व के दिनों में कोई श्रावक (उदा. सुदर्शन सेठ आदि) सामायिक संयम ग्रहण कर श्मशान/एकान्त में स्थित हो गया है। उस समय किसी के द्वारा उस पर उपसर्ग हो और वह उपसर्ग से विचलित न हो तो वह श्रमण सदृश ही है। यहाँ पर शंका है कि, यदि उस समय वह भाव श्रमण हो गया तब तो उसे श्रावक पद ही कैसे कहा जा सकता है ? समाधान -वह भाव श्रमण नहीं है, किन्तु श्रमण के सदृश समझना चाहिए, क्योंकि उस समय उसके प्रत्याख्यान कषाय का उदय **मन्दतर** है। यह सामायिक का माहात्म्य है।[19]

सामायिक का काल और विधि :

यद्यपि निश्चय सामायिक का कोई काल नहीं है, क्योंकि वे अन्तर्मुहुर्त में अनेकों बार अन्तर्मुख होकर सामायिक करते हैं, तथापि वे **पूर्वाह्न मध्याह्न और अपराह्न** इन तीनों कालों में छह-छह घडी (24 मिनट की एक घडी) सामायिक करते है।[20] यहाँ यह बात बहुत विचारणीय व ध्यान देने जैसी है कि जिस समय साधु के सामायिक का काल है वही समय तीर्थंकर की देशना का काल है, तो फिर समवशरण में विराज रहे मुनि वर्ग दिव्यध्वनि का श्रवण करेंगे या सामायिक करेंगे। यदि सामायिक नहीं करते तो मुनिधर्म नहीं पलता और यदि दिव्यध्वनि नहीं सुनते तो उसके प्रति अनादर प्रदर्शित होता है। इस प्रश्न का उत्तर इस तरह से दिया जा सकता है कि, दिव्य ध्वनि का सार भी आत्म रमणता है, अतः मुनि आत्मरमणता हेतु सामायिक ही करेंगे, जब स्वरूप से बाहर आयेंगे और किसी प्रकार की जिज्ञासा या प्रश्न का उत्तर जानने का अभिप्राय हो, तो तीर्थंकर देव की वाणी से समाधान प्राप्त कर फिर अपने मूल प्रयोजन सामायिक अवस्था को प्राप्त करेंगे। अतः जयधवलाकार ने तीनों ही सन्ध्याओं में, पक्ष, मास के सन्धि दिनों में या अपने इच्छित समय में बाह्य और अन्तरंग सभी कषायों का निरोध करके सामायिक करने को कहा है।[21] मूलाचार ने सामायिक की विधि बतलाते हुए कहा कि "द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की शुद्धिपूर्वक अंजुलि को जोडकर स्वस्थ बुद्धि से (प्रसन्नमन) स्थित होकर अथवा एकाग्रमन होकर आकुलता रूप मन विकार से रहित आगमानुसार क्रम से सामायिक करनी चाहिए।[22]

चतुर्विंशतिस्तव :

ऋषभ आदि तीर्थंकरों के नाम व गुणों का कथन पूर्वक उनकी पूजा करके उनको मन, वचन काय से नमस्कार करना चतुर्विंशतिस्तव है[23]। भगवती आराधना की विजयोदया टीका में भी इसी प्रकार का भाव देखने को मिलता है। "इस भारत में हुए ऋषभ आदि चौबीस तीर्थंकरों" के जिनवरत्व आदि गुणों के ज्ञान और श्रद्धान पूर्वक चौबीस स्तवनों को पढना नो-आगमभाव चतुर्विंशतिस्तव है[24] परन्तु अनगार-धर्मामृत में थोड़ा भिन्न स्वरूप बतलाते हुए कहा कि "अर्हत केवली, जिन लोक का उद्योत करने वाले अर्थात् ज्ञाता तथा धर्मतीर्थ के प्रवर्तक ऋषभदेव आदि तीर्थंकरों का भक्तिपूर्वक स्तवन करने को चतुर्विंशतिस्तव कहते हैं। उसके छह भेद हैं।[25]

यहाँ पर पं. आशाधर ने तीर्थंकर के अलावा, अर्हत केवली एवं सामान्य जिन भी सम्मिलित किये हैं, क्योंकि सभी तीर्थंकर तो अर्हत, केवली एवं जिन हैं। परन्तु सभी अर्हत-केवली एवं जिनतीर्थंकर नहीं हुआ करते हैं, इसी कारण से आशाधर ने अर्हत, केवली एवं जिन का भी अलग से उल्लेख किया है। तीर्थंकरत्व तो कर्मजनित उपाधि का नाम है, परन्तु अर्हत, केवली, जिन अर्थात भगवान की स्वभाव प्राप्त गुणात्मक दशाएं हैं। अतः इन स्वाभाविक दशाओं को प्राप्त करने वाले साधक के लिए इन दशाओं का भी स्तवन दैनिक चर्या में सम्मिलित किया है।

आत्मा की स्वाभाविक अवस्था (केवलज्ञान आदि आत्मगुणों) के प्रगट होने में मोहनीय कर्म अत्यन्त अवरोधक होने से अरि है, उसे घातने से अरिहन्त कहलाते हैं, तथा अतिशय पूजा अर्हत्वात् वा अरहन्तः अर्थात् अतिशय पूजा के योग्य होने से उन्हें अरहन्त कहते हैं। आ. वट्टकेर ने कहा कि "अरहन्त नमस्कार और वन्दना के योग्य हैं, पूजा और सत्कार के योग्य हैं, तथा मुक्ति में जाने के योग्य हैं अतः उन्हें अर्हन्त कहते हैं।[26] सब द्रव्यों और सर्व पर्यायों के प्रत्यक्ष ज्ञाता-द्रष्टा होने से केवली कहे जाते हैं। अनेक भवों के भयंकर कष्टों के कारणभूत कर्मरूपी शत्रुओं को जीतने से "जिन" कहे जाते हैं।

नाम आदि के भेद से नौ प्रकार के लोक के भाव से उद्योतक अर्थात् ज्ञाता होते हैं। लोक के नौ प्रकार इस तरह कहे हैं-(1) नाम लोक (2) स्थापना लोक (3) द्रव्यलोक (4) क्षेत्र लोक (5) चिन्ह लोक (6) कषाय लोक (7) भवलोक (8) भाव लोक (9) पर्याय लोक[27]

लोक में जो भी शुभ या अशुभ नाम है वह नामलोक है। लोक में जो भी अकृत्रिम अर्थात् स्वतः स्थापित और अकृत्रिम है वह स्थापनालोक है। छह द्रव्यों का समूह द्रव्यलोक है। अधोलोक, मध्यलोक, और उर्ध्वलोक से विभक्त सप्रदेशी आकाश क्षेत्रलोक है। द्रव्य गुण पर्यायों के संस्थान को चिन्हलोक कहते हैं अर्थात् धर्म, अधर्म द्रव्यों को लोकाकार रूप

से संस्थान, पुद्गल द्रव्य का लोकस्वरूप से अथवा द्वीप, नदी, समुद्र, पर्वत, पृथ्वी आदि रूप से संस्थान तथा जीव द्रव्य का समचतुरस्र आदि रूप से संस्थान द्रव्य संस्थान है। गुणों का द्रव्याकार रूप से संस्थान गुणसंस्थान है। पर्यायों का दीर्घ, ह्रस्व, गोल, नाटक, तिर्यन्च आदि रूप से संस्थान पर्याय संस्थान है -ये सब चिन्ह लोक हैं। उदयप्राप्त क्रोधादि कषाय लोक हैं। नारक आदि योनियों में वर्तमान जीव भवलोक है। तीव्र राग-द्वेष आदि भावलोक है।

पर्याय लोक के चार भेद हैं-जीव के ज्ञानादि, पुद्गल के स्पर्श आदि, धर्म-अधर्म, आकाश काल के गतिहेतुता, स्थितिहेतुता, अवगाहहेतुता और वर्तना आदि ये द्रव्यों के गुण, रत्नप्रभा पृथिवी, जम्बूद्वीप, श्रृजु विमान आदि क्षेत्र पर्याय, आयु के जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद, जीव के असंख्यात लोक-प्रमाण शुभ अशुभ भाव, जो कर्मों के ग्रहण और त्याग में समर्थ होते हैं, ये संक्षेप में पर्याय लोक के चार भेद हैं। इस प्रकार अर्हन्तों का, केवलियों का, जिनों का, लोक के उद्योतकों का, और धर्मतीर्थ के कर्त्ता ऋषभ आदि चौबीस तीर्थंकरों का भक्ति पूर्वक गुण कीर्तन करना चतुर्विंशतिस्तव है।[28]

पं. आशाधर ने व्यवहार एवं निश्चय नय की पद्धति पूर्वक व्यवहार स्तव के पाँच भेद किये हैं। उन्होंने कहा कि-व्यवहारनय से तो स्तव,नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, रूप पाँच प्रकार का है परन्तु परमार्थ से एक भावस्तव है।[29]

भगवान ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों के एक हजार आठ नाम जो कि महापुराण के पच्चीसवें पर्व में प्ररूपित हैं जैसे भगवान को श्रीमान, स्वयंम्भू, वृषभ, शम्भव आदि कहा गया है-यहाँ पर तीर्थंकरों के अन्तरंग ज्ञानादिरूप और बहिरंग समवशरण अष्ट महाप्रातिहार्यादि रूप श्री अर्थात् लक्ष्मी होती है अतः उनका "श्रीमान" नाम सार्थक है। भगवान पर के उपदेश के बिना स्वयं ही मोक्षमार्ग को जानकर और उसका अनुष्ठान करके अनन्त चतुष्ट्य रूप होते हैं, इसलिए उन्हें स्वयम्भू कहते हैं। वे वृष अर्थात् धर्म से शोभित होते हैं इसलिए उन्हें वृषभ कहते हैं। उनसे भव्य जीवों को सुख होता है इसलिए शम्भव कहते हैं। इसी प्रकार सभी नाम सार्थक हैं।[30]

इस प्रकार का नामस्तव व्यावहारिक है कारण कि परमात्मा तो वाणी से अगम्य है। जिनसेन स्वामी ने कहा है कि हे भगवान! इन नामों के गोचर होते हुए भी आप वचनों के अगोचर माने गये हैं। फिर भी स्तवन करने वाला आपसे इच्छित फल प्राप्त कर लेता है इसमें कोई सन्देह नहीं है। सामान्य की विवक्षा होने पर यह नामस्तव चौबीसों ही तीर्थंकरों का है क्योंकि सभी तीर्थंकर "श्रीमान्" आदि नामों के द्वारा कहे जा सकते हैं। विशेष की अपेक्षा चौबीसों तीर्थंकर का भिन्न-भिन्न नामों से स्तवन करना भी नामस्तव है।

चौबीस अथवा अपरिमित तीर्थंकरों की कृत्रिम और अकृत्रिम प्रतिमाओं का जो रूप ऊँचाई चैत्यालय आदि के द्वारा स्तवन किया जाता है उसे स्थापनास्तव कहते हैं।

शरीर, चिन्ह, गुण, ऊँचाई और माता-पिता आदि की मुख्यता से जो लोकोत्तम तीर्थंकरों का स्तवन किया जाता है वह आश्चर्यकारी या अनेक प्रकार का **द्रव्य स्तव** है।

तीर्थंकरों के स्वर्गावतरण, जन्म, दीक्षा, ज्ञान और निर्वाणकल्याणकों से पवित्र अयोध्या आदि नगर, सिद्धार्थ आदि वन और कैलाश आदि पर्वत प्रदेश का जो स्तवन है वह क्षेत्रस्तव है।

तीर्थंकरों के गर्भावतरण, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाणकल्याणकों की प्रशस्त क्रियाओं से गर्वयुक्त हुए काल का वर्णन तीर्थंकरों का **कालस्तव** है अर्थात् जिन समयों में कल्याणकों की क्रियाएं हुयी उनका स्तवन **कालस्तव है।**

परमार्थ स्तवन-भाव स्तव :

भावना में लीन भव्यों के द्वारा जो केवलज्ञान आदि असाधारण गुणों का वर्णन किया जाता है वह जीवादि पदार्थों के आश्रित द्रव्यगुण-पर्याय रूप सम्पदा का उपदेश देने वालों का भावस्तव है।[31]

वस्तुतः भावस्तवन ही वास्तविक स्तवन है **क्योंकि केवलज्ञानादि गुण का शुद्धात्मा के साथ अभेद है।** क्षेत्र, काल, शरीर आदि तो बाह्य हैं। पूर्व में ही यह कह आए हैं कि, स्तवन में तीर्थंकर के अलावा "केवली जिन" आदि जीवों को लिया है उनमें शुद्धात्मा के स्तवन की प्रमुखता है। व्यवहार नय से स्तवन जो कि नाम, स्थापना, द्रव्य आदि के भेद से पंच प्रकार का है, वह वस्तुतः स्तवन नहीं क्योंकि उसमें शरीर आदिक के माध्यम से पुद्गल और जीव की मिलीजुली पर्याय है जो कि मात्र पौद्गलिक स्तवन है। आत्मा, एक, अखंड, अरूपी है, अतः तीर्थंकर के शरीर की कांति आदि **वैभव दशाओं के स्तवन से** तीर्थंकरस्थ शुद्धात्मा का स्तवन नहीं है इस सन्दर्भ में समयसार गा.26 में प्रश्न किया कि क्या "तीर्थंकरों और आचार्यों की जो स्तुति की जाती है वह सब मिथ्या है" उत्तर में गाथा में ही कहा कि "जीव से भिन्न इस पुद्गलमय देह की स्तुति करके जो साधु ऐसा मानते हैं कि मैंने केवली भगवान की स्तुति की और वंदना की है,[32] तो वह शारीराश्रित स्तवन निश्चय में योग्य नहीं है, क्योंकि जैसे नगर का वर्णन करने पर भी राजा का वर्णन नहीं किया जाता, इसी प्रकार शरीर के गुणों का स्तवन करने पर केवली के गुणों का स्तवन नहीं होता है। चूंकि शरीर के गुण केवली के गुण नहीं होते, अतः जो केवली के गुणों की स्तुति करता है, वह परमार्थ से केवली की स्तुति करता है। आ. कुन्दकुन्द निश्चय से **स्तवन के स्वरूप को बतलाते हुए कहते हैं** कि "जो इन्द्रियों को जीतकर ज्ञान स्वभाव के

द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक आत्मा को जानते हैं उन्हें, जो निश्चयनय में स्थित साधु हैं वे वस्तुतः जितेन्द्रिय हैं। तथा जो मुनि मोह को जीतकर अपने आत्मा का ज्ञान स्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य स्वभावों से अधिक जानता है वह जितमोही निश्चय स्तुति करने वाला है। इस प्रकार आ. कुन्दकुन्द ने इन्द्रियों को जीतने वाला, जितमोही एवं क्षीण मोही के निश्चय स्तवन कहा है।[33]

समयसार कलश में आ. अमृतचन्द्र इन निश्चय व्यवहार स्तुति को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि, "शरीर और आत्मा के व्यवहारनय से एकत्व है किन्तु निश्चयनय से नहीं है, अतः शरीर के स्तवन से आत्मा पुरूष का स्तवन व्यवहारनय[34] से हुआ कहलाता है, निश्चयनय से नहीं, निश्चय से तो चैतन्य के स्तवन से ही चैतन्य का स्तवन होता है उस चैतन्य का स्तवन यहाँ जितेन्द्रिय, जितमोह, क्षीणमोह आदि रूप से कहा है।

उपर्युक्त प्रसंग में यह सिद्ध होता है कि श्रमण के यथार्थ षडावश्यक में "स्तवन" आवश्यक तो शुद्धात्मा का स्मरण ही है परन्तु साथ ही साथ जिन श्रमणों ने शुद्धात्मा का अनुभव कर सिद्ध हुए हैं उनका भी नाम, द्रव्य क्षेत्र, आदि का स्मरण आए बिना नहीं रहता, बस यही व्यवहार स्तवन है।

वंदना :

अर्हन्त, सिद्ध आदि या चौबीस तीर्थंकरों में से किसी भी पूजनीय आत्मा का विशुद्ध परिणामों से नमस्कार, स्तुति, आर्शीवाद-जयवाद आदि रूप विनय कर्म को वन्दना कहते है[35] यहाँ पर स्तवन व वंदना में भेद समझना आवश्यक है। स्तवन नामक आवश्यक में तो सभी चौबीस तीर्थंकर भी सामूहिक रूप से स्तुति करने का विकल्प है परन्तु वन्दना आवश्यक में किसी एक तीर्थंकर विशेष के पूज्यत्व रूप विकल्प का सद्भाव है। इसीलिए जयधवलाकार कहते हैं कि "एयरस्स तित्थयरस्स णमंसणं वंदणा णाम"[36] अर्थात् एक तीर्थंकर को नमस्कार रूप विकल्प को वंदना कहते हैं। और इस देव गुरूवन्दना से जीव नीचगोत्र कर्म का क्षय करके उच्च गोत्र कर्म का बन्ध करता है, और अप्रतिहत सौभाग्यवाला तथा सफल आज्ञावाला होता हुआ सर्वत्र आदर प्राप्त करता है।[37] मूलाचार में वन्दना के नामान्तर निम्नतः हैं: **"किदियम्मं चिदियम्मं पूयाकम्मं च विणयकम्मं च**[38] अर्थात् जिस अक्षर समूह से या परिणाम से या क्रिया से आठों कर्मों का कर्तन या छेदन होता है उसे कृति कर्म कहते हैं अर्थात् पाप के विनाश का नाम कृति कर्म है। जिससे तीर्थंकर आदि पुण्यकर्म का संचय होता है उसे चिति कर्म अर्थात् पुण्य संचय का कारण कहते हैं। जिससे अर्हन्त आदि की पूजा की जाती है उसे पूजा कर्म कहते हैं। जिससे कर्मों का संक्रमण, उदय, उदीरणा आदि होकर निराकरण किया जाता है उसे विनयकर्म कहते हैं। ये सब वन्दना के नामान्तर हैं। आ. अमितगति ने भी कहा है-कर्म रूपी जंगल को जलाने के लिए अग्नि के समान पाँच परमेष्ठियों का मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक

नमस्कार करने को वन्दना कहते हैं।[39]

वन्दना के भेद :

मूलाचार में वंदना 6 प्रकार की बतलायी गयी है। (1) तीर्थंकर या सिद्ध आदि का नाम लेना नाम वंदना है। तीर्थंकर, सिद्ध आचार्यादि के प्रतिबिम्बों की स्तुति करना स्थापना वंदना है।[40] (3) एक तीर्थंकर सिद्ध या आचार्यादि के शरीर की स्तुति करना द्रव्य वंदना है। एक तीर्थंकर सिद्ध या आचार्यादि ने जिस स्थान में निवास किया हो, उस क्षेत्र की स्तुति करना क्षेत्र वंदना है। एक तीर्थंकर तथा सिद्ध आचार्यादि जिस काल में हुए हैं, उस काल की स्तुति करना काल वंदना है। एक तीर्थंकर सिद्धाचार्यादि के गुणों की स्तुति करना भाव वंदना है।

वंदना और कृतिकर्म :

वंदना आवश्यक के प्रकरण में मूलाचार, अनगारधर्मामृत, आदि श्रमण धर्म प्ररूपक ग्रन्थों में कृतिकर्म का बहुत ही उल्लेख हुआ है। अतः कृतिकर्म के सन्दर्भ में वन्दना का स्वरूप स्पष्ट होना अपेक्षित है। क्योंकि यह वन्दना जो कृतिकर्म अर्थात् विनय कर्म का ही रूप बताया है, इसकी मूलाचार में बहुत ही महिमा गायी गयी है, उसमें कहा है कि अल्पश्रुत का धारक भी विनय से कर्मों का क्षपण करता है।

कृतिकर्म का सामान्य लक्षण धवल में प्राप्त होता है, वहाँ कहा है कि "क्रियते कृतिरिति व्युत्पत्तेः अथवा मूलकरमेव कृतिः, क्रियते अनया इति व्युत्पत्तेः[41] अर्थात् जो किया जाता है वह "कृति" शब्द की व्युत्पत्ति है। अथवा मूलकारण ही कृति है, क्योंकि जिसके द्वारा किया जाता है, ऐसी कृति शब्द की व्युत्पत्ति है। षट्खण्डागम में "कृतिकर्म" (क्रियाकर्म) का स्वरूप बतलाते हुए कहा कि "आत्माधीन होना, तीन प्रदक्षिणा देना, तीन बार अवनति (नमस्कार) चार बार सिर नवानी (चतुःशिर) और बारह आवर्त ये सब "क्रियाकर्म" कहलाते हैं।[42] कषाय पाहुड में कृतिकर्म को और स्पष्ट करते हुए कहा कि "जिनदेव सिद्ध, आचार्य, और उपाध्याय की वन्दना करते समय जो क्रिया की जाती है, उसे कृतिकर्म कहते हैं।[43] आचार्य वसुनन्दि ने सामायिक स्तवपूर्वक कायोत्सर्ग चर्तुविंशतिस्तव पर्यन्त जो विधि है उसे कृतिकर्म कहा है।[44] और इसका प्रयोग यथाजात मुद्राधारी श्रमण को मन-वचन-काय की शुद्धि करके दो प्रणाम, बारह आवर्त और चार शिरोनति पूर्वक कृतिकर्म का प्रयोग करने को कहा है। आचार्य शिवार्य कृतिकर्म स्थिति कल्प का लक्षण बतलाते हुए कहते हैं कि "चरित्र सम्पन्न मुनि का, अपने गुरु का, और अपने से बड़े मुनियों का विनय करना शुश्रूषा करना यह कर्तव्य है, और इसको कृतिकर्म स्थिति कल्प कहते हैं।[45] यह कृतिकर्म पापों के विनाश का उपाय कहा है।[46]

आचार्य वट्टकेर ने साधु को कृतिकर्म करने के लिए उससे सम्बन्धित नौ तरह से विचार करने का निर्देश दिया है।[47] (1)कृतिकर्म कौन करे ? अर्थात् कृतिकर्म के स्वामित्व की अपेक्षा विचार करना चाहिए। (2) किसका करे ? (3) किस विधि से करे ? (4) किस अवस्था में करे ? (5) कितनी बार करे ? (6) कितनी अवनतियों से करे ? (7) कितनी बार मस्तक पर हाथ रखकर करे ? (8) कितने आवर्तों से शुद्ध होता है। (9) कितने दोषों रहित कृतिकर्म करे।

1. कृतिकर्म का स्वामी

कृतिकर्म अर्थात् वंदन कर्ता का स्वरूप, जो पाँच महाव्रतों के अनुष्ठान में तत्पर हो, धर्म और धर्म के फल में जिनका शरीरहर्ष से रोमांचित हो रहा हो, आलस्य रहित हो, मान-कषाय से रहित हो, कर्म निर्जरा के इच्छुक हो, ऐसे मुनि दीक्षा में एक रात्रि भी यदि लघु है, तो वे सर्वकाल, आचार्य, प्रवर्तक, उपाध्याय तथा रत्नत्रय के विशेष रूप से आराधकों की मान रहित होकर यथायोग्य वंदना करते हैं।[48]

2. कृतिकर्म का विषय

कृतिकर्म का विषय क्या है ? अर्थात् वंदना के योग्य कौन नहीं है ? और कौन है ? इस पर विचारते हुए कहा कि उद्यमी रत्नत्रयधारी साधु असंयत माता-पिता की, असंयत गुरू की, दीक्षा गुरु यदि चरित्र में शिथिल हों, या श्रुतगुरु असंयत हैं अथवा चारित्र में शिथिल हैं, तो उनकी वन्दना न करें, अर्थात् श्रमण का शिक्षा गुरु-भ्रष्ट हो या फिर असंयत गृहस्थ हो जैसे कि पं. आशाधर जी श्रमणों को पढाते थे तो ऐसी दशा में श्रमण के लिए अवंदनीक ही हैं। इसी प्रकार राजा, पाखंडी, शास्त्रादि से प्रौढ देशव्रती श्रावक इन्द्रादिकदेव भी अवन्दनीक ही हैं। तथा पार्श्वस्थ आदि श्रमण निर्ग्रन्थ होते हुए भी दर्शन ज्ञान चारित्र में शिथिल हैं। अतः अवन्दनीक हैं। ऐसे शिथिलाचारी भ्रष्ट श्रमण, रत्नत्रयधारी श्रमणों के द्वारा अवंदनीक तो है ही, साथ ही वे यथोक्त अनुष्ठान करते हुए श्रावक के द्वारा भी अवंदनीक हैं।

आचार्य अपराजित सूरि ने दो प्रकार के अभ्युत्थान और प्रयोग विनय के भेद से वंदना कही है। अभ्युत्थान का स्वरूप बतलाया है कि "विनय से मान कषाय का विनाश होता है। गुरुजनों में बहुमान, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन, श्रुत में कहे गये धर्म की आराधना, परिणाम विशुद्धि, आर्जव और सन्तोष रूप फल की अपेक्षा करके विनय की जाती है। आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक आदि की वन्दना (कृतिकर्म) अपने कर्मों की निर्जरा के लिए करना चाहिए।[49]

3. कृतिकर्म की विधि

कृतिकर्म की विधि व उसके योग्य मुद्रा पर भी विचार किया। कृतिकर्म करते समय पार्यंकासन से बैठने का निर्देश है।[50] उस समय शरीर को, सम श्रृजु और निश्चल रखकर अभ्यन्तर बाधाओं से रहित अनुकूल स्पर्शवाली पवित्र भूमि पर सुख पूर्वक बैठना चाहिए।[51] अपनी गोद में बायें हाथ के ऊपर दाहिना हाथ रखे नेत्र न अधिक खुले हों, न अधिक बन्द हों, ऐसी स्थिति में मन-वचन और काय की विशुद्धिपूर्वक मद रहित होकर, कर्मों का उल्लंघन न करके कृतिकर्म करना चाहिए।

4. कृतिकर्म किस अवस्था में करें ?

जब आचार्य, उपाध्याय इत्यादि ध्यान आदि कार्य में न हों और शान्त चित्त होकर पर्यंकासनपूर्वक आसन में बैठे हों तब हे प्रभो! मैं वन्दना करता हूँ-इस तरह मेधावी मुनि को सम्बोधित करते हुए प्रार्थनापूर्वक कृतिकर्म करे।[52] यह कृतिकर्म, विक्षिप्त चित्त हुए अथवा पीठ करके बैठे हुए, आहार-निहार करते हुए गुरुओं को नहीं किया जाता। इसके साथ ही विशेष अवसरों पर यथा-आलोचना, सामायिकादि षडावश्यक, प्रश्न पूछने के पूर्व, पूजन, स्वाध्याय, क्रोधादि अपराध के समय, आचार्य-उपाध्याय की वंदना करनी चाहिए।[53] जब मुनि वंदना करते हैं, तब अन्य आचार्यादि साधु भी बहुत प्रेम से उन्हें पिच्छि लेकर प्रतिवन्दना करते हैं।

5. कृतिकर्म कितनी बार करें ?

षट्खण्डागम में कहा है कि कृतिकर्म तीनों संध्याकालों में करना चाहिए। इसकी टीका करते हुए वीरसेनाचार्य कहते हैं कि कृतिकर्म के तीन ही बार करने का ऐसा कोई एकान्तिक नियम नहीं है, क्योंकि अन्य समय में भी वंदना के प्रतिषेध का कोई नियम नहीं है परन्तु, तीन बार तो अवश्य ही करना चाहिए।[54] तीनों कालों में किये जाने वाले कृतिकर्म में सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव और वन्दना इन तीनों आवश्यकों की प्रमुखता होती है, तथा तीनों संध्याकालों में किया जाने वाला कृतिकर्म मुनि और श्रावक दोनों के समान है। मूलाचारकार ने पूर्वाह्न और अपराह्न दोनों कालों के भेद से सात-सात बार करके चौदह कृतिकर्म का विधान किया है। साधु के सात कृतिकर्म इस प्रकार से हैं-(1) आलोचना, (2) प्रतिक्रमण (3) वीर (4) चतुर्विंशतितीर्थंकर ये चार भक्ति प्रतिक्रमण काल के कृतिकर्म हैं तथा (5) श्रुतभक्ति (6) आचार्य भक्ति (7) स्वाध्याय उपसंहार ये तीन स्वाध्याय काल के कृतिकर्म है।[55]

6. कृतिकर्म कितनी अवनतियों से करें ?

अवनति से अभिप्राय है भूमि पर बैठकर भूमि स्पर्शपूर्वक नमन।[56] क्रोध, मान, माया, लोभ आदि से रहित मन-वचन और काय की शुद्धिपूर्वक कृतिकर्म में दो अवनति करना चाहिए।[57]

7. कितने बार शिरोनति (मस्तक से हाथ जोड़कर) कृतिकर्म करे ?

अवनति की तरह मन-वचन और काय की शुद्धिपूर्वक चार बार सिर से नमन करके कृतिकर्म करना चाहिए।[58] अर्थात् सामायिक के प्रारम्भ और अन्त में तथा थोस्सामि दण्डक के प्रारम्भ और अन्त में इस तरह चार बार शिरोनति विधि की जाती है।

8. कृतिकर्म कितने आवर्तों से शुद्ध होता है ?

प्रशस्त योग को एक अवस्था से हटाकर दूसरी अवस्था में ले जाने का नाम परावर्तन या आवर्त है। मन-वचन और काय की अपेक्षा आवर्त के तीन भेद इस तरह बारह भेद हैं। सामायिक के प्रारम्भ में तीन और अन्त में तीन, चतुर्विंशतिस्तव के प्रारम्भ और अन्त में तीन-तीन कुल मिलाकर बारह आवर्तों से कृतिकर्म शुद्ध होता है। अतः वंदना के लिए उद्यत साधु को ये बारह आवर्त करना चाहिए।[59]

9. दोष रहित कृतिकर्म-

बत्तीस दोषों से रहित कृतिकर्म करना चाहिए।[60] तभी निर्दोष वंदना हो सकती है। वंदना के 32 दोष इस प्रकार से हैं।

1. **अनादृत** - निरादरपूर्वक या अल्पभाव से समस्त क्रिया-कर्म करना।
2. **स्तब्ध** - विद्या जाति आदि आठ मदों के गर्व पूर्वक वन्दना करना।
3. **प्रविष्ट** - पंचपरमेष्ठी के अति सन्निकट होकर या असन्तुष्टता पूर्वक वंदना।
4. **परिपीडित**- दोनों हाथों से दोनों जंघाओं या घुटनों के स्पर्श पूर्वक वंदना।
5. **दोलायित** - दोलायमानयुक्त होकर अर्थात् शरीर हिलाते हुए वंदना करना।
6. **अंकुशित** - हाथ के अंगूठे को अंकुश की तरह ललाट से लगाकर वन्दना।
7. **कच्छपरिंगित** - कछुए की तरह चेष्टापूर्वक रेंगकर वंदना करना।
8. **मत्स्योदवर्त** - मछली की तरह कमर को ऊंची करके वंदना करना।
9. **मनोदुष्ट** - द्वेष अथवा संक्लेश मनयुक्त वंदना करना।
10. **वेदिका बद्ध** - दोनों हाथों से दोनों घुटनों को बांधकर वक्षस्थल के मर्दनपूर्वक वंदना।
11. **भय** - मरण आदि सात भयों से डरकर वंदना करना।
12. **विभ्य** - परमार्थ को जाने बिना गुरु आदि से भयभीत होकर वंदना करना।
13. **ऋद्धिगौरव**-- वंदना करने से कोई चातुर्वर्ण्य श्रमण संघ का भक्त हो जायेगा, इस अभिप्राय से वंदना करना।
14. **गौरव** - आसनादि के द्वारा अपना गौरव प्रगट करके, अथवा रसयुक्त भोजन आदि की स्पृहा रखकर वंदना करना।
15. **स्तेनित** - आचार्यादि से छिपकर-इस ढंग से वंदना करना जिससे उन्हें ज्ञात न हो।

16. **प्रतिनीत** - देव गुरु आदि के प्रतिकूल होकर वंदना करना
17. **प्रदुष्ट** - दूसरों के साथ द्वेष, वैर, कलह आदि करके उससे क्षमा मांगे या किये बिना वंदना आदि क्रिया करे।
18. **तर्जित** - दूसरों को भय दिखाकर अथवा आचार्यादि के द्वारा तर्जनी अंगुलि आदि से तर्जित अर्थात् अनुशासित किये जाने पर कि यदि नियमादि का पालन नहीं करोगे, तो आपको निकाल दूँगा-ऐसा तर्जित किये जाने पर ही वंदना करना तर्जित दोष है।
19. **शब्द** - मौन छोडकर शब्द बोलते हुए वंदना करना शब्द दोष है।
20. **हीलित** - आचार्य या अन्य साधुओं का पराभव करके वंदना करना।
21. **त्रिवलित** - ललाट की तीन रेखाएं चढाकर वंदना करना या वंदना करते समय कमर, हृदय और कण्ठ इन तीनों में भंगिमा पड़ जाना।
22. **कुंचित** - घुटनों के बीच में मस्तक झुकाकर वन्दना करना दोनों हाथों से सिर का स्पर्शकर संकोच रूप होकर वंदना करना।
23. **दृष्ट** - आचार्य के सामने ठीक से वन्दना करना, परोक्ष में स्वच्छन्दतापूर्वक अथवा इच्छानुकूल दशों दिशाओं में अवलोकन करते हुए वंदना करना।
24. **अदृष्ट** - आचार्य न देख सकें, अतः ऐसे स्थान से वंदना करना।
25. **संघ कर मोचन** - संघ के रुष्ट होने के भय से, तथा संघ को प्रसन्न करने के उद्देश्य से वंदना को कर (टैक्स) भाग समझकर पूर्ति करना।
26. **आलब्ध** - उपकरणादि प्राप्त करके वंदना करना।
27. **अनालब्ध** - उपकरणादि की आशा से वंदना करना।
28. **हीन** - ग्रन्थ, अर्थ, कालादि प्रमाण रहित वंदना करना।
29. **उत्तर चूलिका** - वंदना को थोडे समय में पूर्ण करना तथा उसकी चूलिका सम्बन्धी आलोचना आदि को अधिक समय तक सम्पन्न करके वंदना करना।
30. **मूक** - मूक व्यक्ति की तरह मुख के भीतर ही भीतर वंदना पाठ बोलना अथवा वंदना करते हुए हुंकार, अंगुलि आदि की संज्ञा (चेष्टा) करना।
31. **दर्दुर** - अपने शब्दों के द्वारा दूसरे के शब्दों को दबाने के उद्देश्य से तेज गले के द्वारा महाकलकल युक्त शब्द करके वंदना करना।
32. **चुकुलित** - एक ही स्थान में खडे होकर, हाथों की अंजुलि को घुमाकर सबकी वंदना करना अथवा चुरूलित पाठ के अनुसार पंचमादि स्वर से (गाकर) वंदना करना।

वंदना के उपर्युक्त दोषों से रहित ही वंदना निर्दोष मानी गयी है। बत्तीस दोषों में से किसी एक के भी होते हुए साधु निर्दोष कृतिकर्म नहीं कर सकता है।

प्रतिक्रमण :

व्यक्ति के अपने एक दीर्घ कालीन यात्रा में प्रमाद-वश पद-पद पर अन्तरंग व वहिरंग दोष लगा करते हैं, चाहे वह श्रावक हो या श्रमण। नीचे गिरना यह कोई विशेष अपराध नहीं, परन्तु गिरकर भी उठने का प्रयत्न न करना यह अक्षम्य अपराध है। श्रमण के श्रेयोमार्ग के लिए यह अति आवश्यक है कि वह अपना शोधन करता रहे। भूतकाल में जो दोष लगे हैं उनके शोधन हेतु,प्रायश्चित्त पश्चात्ताप,व गुरु के समक्ष अपनी निन्दा-गर्हा करना ही प्रतिक्रमण शब्द से कहा जाता है। दिन, रात्रि, पक्ष मास,संवत्सर आदि में लगे दोषों को दूर करने की अपेक्षा वह कई प्रकार का है।

इस प्रतिक्रमण का निश्चयनय और व्यवहार नय की अपेक्षा दो प्रकार से प्रतिपादन होता है। निश्चयनय की अपेक्षा से पूर्व कृतकर्मों के प्रदत्त फलों को अपना न मानना प्रतिक्रमण कहा है।[61] उत्तमार्थ आत्मा (कारण समयसार स्वरूप) में स्थित मुनिवर कर्म का घात करते हैं, अतः ध्यान ही वास्तव में उत्तमार्थ का प्रतिक्रमण है।[62] निज शुद्धात्म परिणति है लक्षण जिसका ऐसी जो क्रिया है, वह निश्चय नय से वृहत् प्रतिक्रमण कही जाती है।[63] शुद्ध निश्चय नय में पर्याय को गौणकर ध्रुव तत्व की प्रमुखता रहती है। और उसकी अपेक्षा से तो ध्रुव त्रिकाल शुद्ध है अतः प्रतिक्रमण का प्रश्न ही नहीं है। परन्तु ऐसा सर्वथा मान लेने पर निश्चयाभास का प्रसंग प्राप्त होगा। अतः पर्यायार्थिक नय को विषय बनाकर कहा गया कि पर्याय में जो दोष हुआ है वह "मेरा दोष मिथ्या हो", गुरु से ऐसा निवेदन करके अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करना प्रतिक्रमण है।[64] अथवा प्रमाद के द्वारा किये दोषों का जिसके द्वारा निराकरण किया जाता है, उसको प्रतिक्रमण कहते हैं। इसी प्रकार का ही स्वरूप धवल में प्राप्त है। चौरासी लाख गुणों के समूह से संयुक्त पाँच महाव्रतों में उत्पन्न हुए मल को धोने का नाम प्रतिक्रमण है।[65] द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से किया गया जो व्रत में दोष उसका शोधना, आचार्यादि के समीप आलोचनापूर्वक अपने दोषों को प्रकट करना, वह मुनिराज का प्रतिक्रमण गुण होता है।[66] तथा गुरुओं के सामने आलोचना किये बिना संवेग और निर्वेद से युक्त साधु को फिर कभी ऐसा न करूँगा यह कहकर अपने अपराध से निवृत्त होना प्रतिक्रमण नाम का प्रायश्चित्त होता है।[67]

प्रतिक्रमण के दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, चातुर्मासिक, सावत्सरिक, और उत्तमार्थ प्रतिक्रमण ऐसे सात भेद किये गये हैं।[68] जिनका भाव अपने शब्दों से स्पष्ट ही है।.

अशुभ से निवृत्त होने रूप प्रतिक्रमण के 6 निक्षेप नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में किये गये हैं।[69]

1. अयोग्य नामों का उच्चारण न करना यह **नाम प्रतिक्रमण** है।
2. आप्ताभासों की प्रतिमा के आगे खडे होकर हाथ जोडना, मस्तक नवाना, द्रव्य से पूजा करना इस प्रकार के स्थापना का त्याग करना, अथवा त्रस, अथवा स्थावर जीवों की स्थापनाओं का नाश करना, मर्दन या ताड़न आदि का त्याग करना **स्थापना प्रतिक्रमण** है।
3. उद्गमादि दोष युक्त वसतिका, उपकरण व आहार का त्याग करना, अयोग्य अभिलाषा, उन्मत्तता तथा संक्लेश परिणाम को बढाने वाले आहारादि का त्याग करना, यह सब **द्रव्य प्रतिक्रमण** है।
4. पानी, कीचड़, त्रस जीव, स्थावर से व्याप्त प्रदेश, तथा रत्नत्रय की हानि जहाँ हो ऐसे प्रदेशों का त्याग करना **क्षेत्र प्रतिक्रमण** है।
5. रात्रि, तीनों संध्याओं में, **स्वाध्याय काल, आवश्यक क्रिया के कालों में आने-जाने का** त्याग करना यह **काल प्रतिक्रमण** है।
6. आर्त-रौद्र इत्यादिक अशुभ परिणाम व पुण्यास्रव के कारणभूत अशुभ परिणाम का त्याग करना भाव प्रतिक्रमण है।[70]

इस प्रकार किये हुए अतिचारों का मन से त्याग करना मनः प्रतिक्रमण, वचनों के द्वारा सूत्रों का उच्चारण वाक्य प्रतिक्रमण तथा शरीर के द्वारा दुष्कृत्यों का आचरण न करना यह कार्यकृत प्रतिक्रमण है।[71]

समयसार ता.वृ. टीका में अप्रतिक्रमण को बतलाते हुए कहा है कि अप्रतिक्रमण दो प्रकार का होता है-ज्ञानी जनों के आश्रित व अज्ञानी जनों के आश्रित। अज्ञानी जनों के आश्रित जो अप्रतिक्रमण है वह, विषय-कषाय की परिणति रूप अर्थात् हेयोपादेय के विवेक शून्य सर्वथा अत्याग रूप अनर्गल प्रवृत्ति है। परन्तु ज्ञानी जीवों के आश्रित जो अप्रतिक्रमण **है वह शुद्धात्मा के सम्यग्श्रद्धान ज्ञान व आचरण लक्षण वाले अभेद रत्नत्रय रूप या त्रिगुप्ति** रूप है।[72]

पूर्वानुभूत विषयों का अनुभव व रागादि रूप **अप्रतिक्रमण दो प्रकार का है-द्रव्य व भाव अप्रतिक्रमण**।[73]

अतीत काल में जिन परद्रव्यों का ग्रहण किया था उन्हें वर्तमान में अच्छा समझना, उनके संस्कार रहना, उनके प्रति ममत्व रहना, वह **द्रव्य अप्रतिक्रमण** है और उन परद्रव्यों के निमित्त से जो रागादि भाव हुए थे, उन्हें वर्तमान में अच्छा जानना, उनके संस्कार रहना, उनके प्रति ममत्व रहना, **भाव अप्रतिक्रमण है**।[74]

प्रतिक्रमण शिष्यगणों के लिए आलोचनापूर्वक कहा है और गुरु के लिए आलोचना के बिना ही होता है। क्योंकि गुरु स्वयं किसी अन्य से आलोचना नहीं करता है।[75] परन्तु शिष्यगण विनयकर्म करके, शरीर व आसन को पिच्छि व नेत्र से शुद्ध करके, अंजलि क्रिया में शुद्ध हुआ निर्मल प्रवृत्ति वाला साधु श्रृद्धि आदि गौरव और जाति आदि के मान को छोड़कर गुरु से अपने अपराधों का निवेदन करके प्रतिक्रमण करें।

प्रतिक्रमण की विधि

व्रतों के अतिचारों को दूर करने का उपाय प्रतिक्रमण ही है। तथा आत्मालोचन पूर्वक किया गया प्रतिक्रमण, प्रतिक्रमण कहलाता है।[76] अतः इसकी विधि का ज्ञान होना भी परमावश्यक है। आचार्य वट्टकेर ने इसकी विधि निम्न प्रकार बतलायी है-सर्वप्रथम विनय कर्म करके, शरीर, आसन आदि का पिच्छिका से प्रमार्जन व आँखों से भलीभांति देखकर शुद्धि करे। इसके बाद हाथ जोड़ कर श्रृद्धि आदि गौरव तथा जाति आदि सभी तरह के मान छोडकर व्रतों में हुए अतिचारों को गुरु के समक्ष निवेदन करना चाहिए।[77] आचार्य के समक्ष अपराधों का निवेदन नित्यप्रति करना चाहिए, तथा इसमें काल क्षेप नहीं होना चाहिए। अल्प अपराध के समय यदि गुरु समीप न हो तब वैसी दशा में-"मैं फिर ऐसा कभी न करूँगा, मेरा पाप मिथ्या हो" इस प्रकार प्रतिक्रमण कर लेना चाहिए।[78] आलोचना भक्ति करते समय कायोत्सर्ग प्रतिक्रमण भक्ति करने में कायोत्सर्ग, वीरभक्ति में कायोत्सर्ग, और चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति में कायोत्सर्ग-प्रतिक्रमणकाल में ये चार कृतिकर्म करने का विधान है।[79]

मध्यम तीर्थंकरों के शासन के जीव दृढ़ बुद्धिवाले स्मरण शक्ति से सहित, एकाग्रचित्त वाले होते हैं, किन्तु प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के शासन के शिष्य चंचल मन वाले, मोह से सहित, ऋजु जड़मति वाले और वक्र जड़मति वाले होते हैं। यही कारण है कि आज सभी प्रतिक्रमण करना आवश्यक ही हैं। यहाँ प्रतिक्रमण का विवेचन मध्यम परिमाण में है विस्तार से मूलाचार आदि में वर्णित है।

प्रत्याख्यान :

आगामी काल में दोष न करने की प्रतिज्ञा करना प्रत्याख्यान है अथवा सीमित अवधि के लिए आहारादिक का त्याग करना प्रत्याख्यान है। त्याग प्रारम्भ करते समय प्रत्याख्यान की प्रतिष्ठापना और अवधि पूर्ण होने पर उसकी निष्ठापना की जाती है। "प्रत्याख्यानादि के ग्रहण बिना यदि कदाचित् पूर्वबद्ध आयुकर्म के वश से आयु क्षीण हो जाए, तो वह साधु विराधक समझा जाता है। किन्तु इसके विपरीत प्रत्याख्यान सहित तत्काल मरण होने पर थोड़ी देर के लिए और थोड़ा सा ग्रहण किया हुआ प्रत्याख्यान चण्ड नामक चाण्डाल की तरह महान् फल देने वाला होता है।[80]

निश्चयनय की अपेक्षा प्रत्याख्यान का स्वरूप बतलाते हुए कहा कि-"भविष्यत् काल का शुभ व अशुभ कर्म जिस भाव में बँधता है, उस भाव से जो आत्मा निवृत्त होता है, वह आत्मा प्रत्याख्यान है।[81] अथवा समस्त जल्प को छोड़कर और अनागत शुभ व अशुभ का निवारण करके जो आत्मा को ध्याता है, उसे प्रत्याख्यान कहते हैं। जो निजभाव को नहीं छोड़ता, किंचित भी परभाव को ग्रहण नहीं करता, सर्व को जानता देखता है, "वह मैं हूँ"-ऐसा ज्ञानी चिन्तन करता है।[82] आचार्य अमितगति भी यही कहते हैं कि, जो महापुरुष समस्त कर्मजनित वासना से रहित आत्मा को देखने वाले हैं, उनके जो पापों के आने में कारणभूत भावों का त्याग है, उसे प्रत्याख्यान कहते हैं।[83]

व्यवहार प्रत्याख्यान का स्वरूप बतलाते हुए कहा कि "मुनि दिन में भोजन करके फिर योग्यकाल पर्यन्त अन्न, पान, खाद्य और लेह्य की रुचि छोडते हैं, यह व्यवहार प्रत्याख्यान है।[84]

भविष्यत् में दोष न होने देने के लिए सन्नद्ध होना प्रत्याख्यान है।[85] प्रत्याख्यान, संयम और महाव्रत एक अर्थ वाले हैं।[86] महाव्रतों के विनाश व मलोत्पादन के कारण जिस प्रकार न होंगे वैसा करता हूँ, ऐसी मन से आलोचना करके चौरासी लाख व्रतों की शुद्धि के प्रतिग्रह का नाम प्रत्याख्यान है।[87] आचार्य वट्टकेर ने नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव इन छहों में शुभ मन, वचन व काय से आगामी काल के लिए अयोग्य का त्याग करना प्रत्याख्यान कहा है।[88]

प्रत्याख्यान के भेद

मूलाचारकार ने प्रत्याख्यान के दस भेद किये हैं।[89]

1. **भविष्यतकाल** में किए जाने वाले उपवास आदि पहले कर लेना, जैसे चतुर्दशी आदि में जो उपवास करना था उसको त्रयोदशी आदि में कर लेना **अनागत प्रत्याख्यान** है।
2. अतीतकाल में किए जाने वाले उपवास आदि को आगे करना **अतिक्रान्त प्रत्याख्यान** है। जैसे चतुर्दशी आदि में जो उपवास आदि करना है उसे प्रतिपदा आदि में करना।
3. शक्ति आदि की अपेक्षा से संकल्प सहित उपवास करना कोटिसहित प्रत्याख्यान है। जैसे कल प्रातः स्वाध्याय वेला के अनन्तर यदि शक्ति रहेगी तो उपवास आदि करूँगा, यदि शक्ति नहीं रही तो नहीं करूँगा, इस प्रकार से जो संकल्प करके प्रत्याख्यान होता है वह **कोटिसहित** है।
4. पाक्षिक आदि में अवश्य किए जाने वाले उपवास करना **नियण्डित प्रत्याख्यान** है।
5. भेद सहित उपवास करने को **साकार प्रत्याख्यान** कहते हैं। जैसे सर्वतोभद्र, कनकावली आदि व्रतों की विधि से उपवास करना, रोहिणी आदि नक्षत्रों के भेद से उपवास करना।

6. स्वेच्छा से उपवास करना, जैसे नक्षत्र या तिथि आदि की अपेक्षा के बिना ही स्वरूचि से कभी भी कर लेना **अनाकार प्रत्याख्यान** है।
7. प्रमाण सहित उपवास को परिमाणगत कहते हैं। जैसे बेला, तेला, चार उपवास, पाँच उपवास, सात दिन, पन्द्रह दिन, एक मास आदि काल के प्रमाण उपवास आदि करना **परिमाणगत प्रत्याख्यान** है।
8. जीवन पर्यन्त के लिए चार प्रकार के आहार आदि का त्याग करना **अपरिशेष प्रत्याख्यान** है।
9. मार्ग-विषयक प्रत्याख्यान अध्वानगत है। जैसे जंगल या नदी आदि से निकलने के प्रसंग में उपवास आदि करना अर्थात् इस वन से बाहर पहुँचने तक मेरे चतुर्विध आहार का त्याग है या इस नदी से पार होने तक चतुर्विध आहार का त्याग है ऐसा उपवास करना सो **अध्वानगत प्रत्याख्यान** है।
10. हेतु सहित उपवास सहेतुक हैं, यथा-उपसर्ग आदि के निमित्त से उपवास आदि करना **सहेतुक नाम का प्रत्याख्यान** है।

भगवती आराधना की टीका करते हुए अपराजित सूरि ने योग के सम्बन्ध से मन-वचन-काय की दृष्टि से प्रत्याख्यान के तीन भेद किये हैं।[90] निक्षेप दृष्टि से भी प्रत्याख्यान के नाम, स्थापना, द्रव्य क्षेत्र काल और भाव रूप से छह भेद मिलते हैं।[91] श्वे. सम्प्रदाय में भी प्रत्याख्यान के तीन और पाँच भेदों का भी उल्लेख मिलता है।[92]

व्यवहार नय के विषयभूत अनेक भेद रूप प्रत्याख्यान के द्वारा यद्यपि श्रमण निजको पर पदार्थ के संकल्प रूप भोगों से बचाता है, तथापि निश्चयनय से देखा जावे तो जिसमें समस्त संकल्पों का अन्त होता है ऐसी स्वाश्रित परिणति रूप श्रृद्धा, ज्ञान, चारित्र, होने पर "सर्व पदार्थ पर हैं" ऐसा ज्ञान ही यथार्थ में प्रत्याख्यान है। आत्मा में "त्याग ग्रहण शून्यत्व" शक्ति होने से इसने पर पदार्थ को आज तक ग्रहण ही नहीं किया, तो फिर उसके त्याग की चर्चा ही व्यर्थ है, और यह चर्चा मिथ्यात्व रूप, अतः कर्मबन्ध का कारण भी है। इस जीव ने अनादि काल से यह मान अवश्य रखा है कि "मैं पर को ग्रहण कर सकता हूँ, और करता हूँ। और इस पर- पदार्थ को ग्रहण करने रूप मान्यता का त्याग ही निश्चयनय से **जैनधर्म** में प्रत्याख्यान कहा है। अतः ज्ञान ही प्रत्याख्यान है।[93] तथा यही प्रत्याख्यान आवश्यक के करने की विधि है।

कायोत्सर्ग :

बाहर में क्षेत्र-वास्तु आदि का और आभ्यन्तर में कषाय आदि का अथवा नियम अनियत काल के लिए शरीर के मोह का त्याग करना व्युत्सर्ग तप या व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है। व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त का अपर नाम कायोत्सर्ग है, जो दैवसिक, रात्रिक, चातुर्मासिक आदि दोषों के साधनार्थ विधिपूर्वक किया जाता है। शरीर पर से ममत्व बुद्धि छोडकर,

उपसर्ग आदि को जीतता हुआ, अन्तर्मुहुर्त या एक दिन, मास व वर्ष पर्यन्त निश्चल खड़े रहना कायोत्सर्ग है।[94] ऐसा कायोत्सर्ग खडे होकर, बैठकर या लेटकर भी मौनपूर्वक भी किया जा सकता है। समाधिमरण के समय यावज्जीवन के लिए किया जाने वाला कायोत्सर्ग लेटकर ही किया जा सकता है।

आचार्य वट्टकेर ने कायोत्सर्ग का स्वरूप व विधि बतलाते हुए कहा कि, दैवसिक निश्चित क्रियाओं में यथोक्त काल प्रमाण पर्यन्त उत्तम- क्षमा आदि निज गुणों की भावना सहित देह में ममत्व को छोड़ना कायोत्सर्ग है।[95] आ. अकलंक देव ने भी यही कहा है कि "परिमित काल के लिए शरीर से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है।"[96] आ. कुन्दकुन्द ने इसको बहुत मार्मिक ढंग से कहा कि "काय आदि पर- द्रव्यों में स्थिर भाव छोडकर जो आत्मा को निर्विकल्प रूप से ध्याता है उसे कायोत्सर्ग है।[97]

कायोत्सर्ग आवश्यक रूप तप को विस्तार से समझाते हुए कार्तिकेय स्वामी कहते हैं कि "जिस मुनि का शरीर जल्ल और मल्ल से लिप्त हो, जो दुस्सह रोग के हो जाने पर भी उसका इलाज नहीं करता हो, मुख धोना आदि शरीर के संस्कार से उदासीन हो, और भोजन शय्या आदि की अपेक्षा नहीं रखता हो, तथा अपने स्वरूप के चिन्तन में ही लीन रहता हो, दुर्जन और सज्जन में मध्यस्थ हो, और शरीर से भी ममत्व न करता हो, उस मुनि के कायोत्सर्ग नाम का तप होता है।[98]

कायोत्सर्ग का प्रयोजन :

इस कायोत्सर्ग का प्रयोजन व फल बतलाते हुए आचार्य वट्टकेर ने कहा कि "ईर्यापथ के अतिचार को शोधने के लिए, मोक्षमार्ग में स्थित, शरीर में ममत्व को छोडने वाले मुनि, दुःख के नाश करने के लिए कायोत्सर्ग करते हैं। कायोत्सर्ग करने पर जैसे अंगो-उपांगों की संधियां भिद जाती हैं उसी प्रकार इससे कर्मरूपी धूल भी अलग हो जाती है।[99] परन्तु यह कायोत्सर्ग बल और आत्म शक्ति का आश्रय करके, क्षेत्र-काल और संहनन इनके बल की अपेक्षा करके कायोत्सर्ग के कहे जाने वाले दोषों का परित्याग करते हुए करना चाहिए। मायाचारी से रहित, अपनी शक्ति के अनुसार, बाल आदि अवस्था के अनुकूल, धीर पुरूष दुःख के क्षय के लिए कायोत्सर्ग करते हैं। जो तीस वर्ष प्रमाण यौवन अवस्था वाले समर्थ साधु सत्तर वर्ष वाले अशक्त वृद्ध के साथ कायोत्सर्ग की पूर्णता करके समान रहता है, वृद्ध की बराबरी करता है, वह साधु शान्त रूप नहीं है, मायाचारी है, विज्ञानरहित है, चारित्र रहित एवं जड़ है।[100]

कायोत्सर्ग का काल -

यह कायोत्सर्ग पंच पापों के अतिचार में, भक्त पान व गोचरी के पश्चात्, तीर्थ व निषद्या आदि की वन्दनार्थ जाने पर, लघु व दीर्घ शंका करने पर, ग्रन्थ को आरम्भ करते समय व पूर्ण हो जाने पर ईर्या- पथ दोषों की निवृत्ति के अर्थ कायोत्सर्ग किया जाता है। "कायोत्सर्ग एक वर्ष का उत्कृष्ट और अन्तर्मुहर्त प्रमाण जघन्य होता है। शेष कायोत्सर्ग दिन-रात्रि के भेद से बहुत हैं।"[101]

एक बार णमोकार मन्त्र के उच्चारण में तीन श्वोसाच्छ्वास होते हैं। यथा णमो अरहंताणं पद बोलकर श्वास ऊपर खींचना और णमो सिद्धाणं पद बोलकर श्वास नीचे छोड़ना ऐसा एक श्वासोच्छ्वास हुआ। ऐसे ही "णमो आयरियाणं" और "णमो उवज्झायाणं" में एक श्वासोच्छ्वास तथा "णमो लोए और "सव्वसाहूणं" इस पद में एक श्वासोच्छ्वास ये तीन उच्छ्वास हो जाते हैं। आगे कायोत्सर्गों के प्रमाण आचार्य ने उच्छ्वासों के माध्यम से बतलाया है।

दैवसिक प्रतिक्रमण के कायोत्सर्ग में 108 उच्छ्वास होते हैं। अर्थात् वीर भक्ति के प्रारम्भ में 36 बार णमोकार मन्त्र जपने में 108 उच्छ्वास हो जाते हैं। रात्रिक प्रतिक्रमण के कायोत्सर्ग में 54 उच्छ्वास, पाक्षिक प्रतिक्रमण के कायोत्सर्ग में 300 उच्छ्वास, चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में 400 तथा सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में 500 श्वासोच्छ्वासों में महामन्त्र का ध्यान होता है।[102] महाव्रतों के अतीचार में 108 उच्छ्वास का कायोत्सर्ग, भोजन पान में, ग्रामान्तर गमन में, अर्हन्त के कल्याणक स्थान व मुनियों की निषद्या वन्दना में मल मूत्र विसर्जन में पच्चीस उच्छ्वास का कायोत्सर्ग करना चाहिए।

कायोत्सर्ग के भेद :

कायोत्सर्ग के चार भेद होते हैं-उत्थितोत्थित, उत्थितनिविष्ट, उपविष्टोत्थित और उपविष्टनिविष्ट।

जो ध्यान में खडे होकर जिनमुद्रा से कायोत्सर्ग कर रहे हैं, और उनके परिणाम भी धर्मध्यान रूप या शुक्ल ध्यान रूप हैं, उनका वह कायोत्सर्ग उत्थितोत्थित है।

जो कायोत्सर्ग में स्थित है परन्तु आर्त और रौद्र इन दो ध्यान को ध्याते हैं उनका यह उत्थित निविष्ट नाम कायोत्सर्ग है।

जो बैठकर योगमुद्रा से कायोत्सर्ग कर रहे हैं, किन्तु अन्तरंग में धर्म-ध्यान या शुक्लध्यान रूप उपयोग चल रहा है। उनका वह कायोत्सर्ग उपविष्ट उत्थित है।

जो बैठकर आर्तध्यान या रौद्रध्यान रूप परिणाम कर रहे हैं उनका वह कायोत्सर्ग उपविष्टनिविष्ट कहलाता है।

इनमें से प्रथम व तृतीय अर्थात् उत्थितोत्थित व उपविष्टोत्थित इष्ट फलप्रद एवं शेष अनिष्ट फलदायी हैं।

कायोत्सर्ग के दोष :

कायोत्सर्ग के बत्तीस दोष निम्न हैं:-

1. **घोटक** - घोड़ा जैसे एक पैर को उठाकर अथवा झुकाकर खड़ा होता है उसी प्रकार से जो कायोत्सर्ग में खड़े होते हैं उनके घोटक सदृश यह घोटक नाम का दोष होता है।
2. **लता** - लता के समान अंगों को हिलाता हुआ जो कायोत्सर्ग में स्थित होता है उनके यह लता दोष होता है।
3. **स्तम्भ** - जो खम्भे का आश्रय लेकर कायोत्सर्ग करते हैं अथवा स्तम्भ के समान शून्य हृदय होकर करते हैं, उसके साहचर्य से यह वही दोष हो जाता है अर्थात् उनके यह स्तम्भ दोष होता है।
4. **कुड्य** - भित्ती-दीवाल का आश्रय लेकर जो कायोत्सर्ग से स्थित होते हैं उनके यह कुड्य दोष होता है। अथवा साहचर्य से यह उपलक्षण मात्र है। इससे अन्य का भी आश्रय लेकर नहीं खड़े होना चाहिए ऐसा सूचित होता है।
5. **माला** - पीठ /आसन आदि के ऊपर खड़े होना अथवा सिर के ऊपर कोई रज्जु वगैरह का आश्रय लेकर अथवा सिर के ऊपर जो कुछ वहाँ हो, फिर भी कायोत्सर्ग करना वह मालादोष है।
6. **शबरबधू** - भिल्लनी के समान दोनों जंघाओं से जंघाओं को पीड़ित करके जो कायोत्सर्ग से खड़े होते हैं उनके यह शबरबधू नाम का दोष है।
7. **निगड़** - बेड़ी से पीड़ित हुए के समान पैरों में बहुत सा अन्तराल करके जो कायोत्सर्ग में खड़े होते हैं उनके निगड़ दोष होता है।
8. **लम्बोत्तर** - नाभि से ऊपर का भाग लम्बा करके कायोत्सर्ग करना अथवा कायोत्सर्ग में स्थित होकर शरीर को अधिक ऊँचा करना या अधिक झुकाना सो लम्बोत्तर दोष है।
9. **स्तनदृष्टि** - कायोत्सर्ग में स्थित होकर जिसकी दृष्टि अपने स्तनभाग पर रहती है उसके स्तन दृष्टि नाम का दोष होता है।
10. **वायस** - कायोत्सर्ग में स्थित होकर कौवे के समान जो पार्श्वभाग को देखते हैं उनके वायस दोष होता है।

11. **खलीन** - लगान से पीडित हुए घोड़े के समान दांत कटकटाते हुए मस्तक को करके जो कायोत्सर्ग करते हैं उनके खलीन दोष होता है।

12. **युग** - जुआ से पीड़ित हुए बैल के समान गर्दन पसार कर जो कायोत्सर्ग से स्थित होते हैं उनके यह युग नाम का दोष होता है।

13. **कपित्थ** - जो कपित्थ-कैथें के फल के समान मुट्ठी को करके कायोत्सर्ग में स्थित होते हैं उनके यह कपित्थ दोष होता है।

14. **शिरः प्रकंपित** -कायोत्सर्ग में स्थित हुए जो शिर को कंपाते हैं उनके शिरः प्रकंपित दोष होता है।

15. **मूकत्व** - कायोत्सर्ग में स्थित होकर जो मूक के समान मुखविहार व नाक सिकोड़ना करते हैं उनके मूकित नाम का दोष होता है।

16. **अंगुलि** - जो कायोत्सर्ग से स्थित होकर अंगुलियों से गणना करते हैं उनके अंगुलि दोष होता है।

17. **भू विकार** - जो कायोत्सर्ग से खड़े हुए भौंहों को चलाते हैं, या पैरों की अंगुलियाँ नचाते हैं उनके भू विकार दोष होता है।

18. **वारूणीपायी** - मदिरापायी के समान झूमते हुए जो कायोत्सर्ग करते हैं उनके वारूणीपायी दोष होता है।

19 से 28.

दिशा अवलोकन - कायोत्सर्ग से स्थित हुए दिशाओं का अवलोकन करना। पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ईशान, ऊर्ध्व और अधः- इन दश दिशाओं के निमित्त से दश दोष हो जाते हैं। ये दिशावलोकन दोष हैं।

29. **ग्रीवोन्नमन** - कायोत्सर्ग में स्थित होकर गरदन को अधिक ऊँची करना यह ग्रीवा उन्नमन दोष है।

30. **प्रणमन** - कायोत्सर्ग में स्थित हुए गरदन को अधिक झुकाना या प्रणाम करना यह प्रणमन दोष है।

31. **निष्ठीवन** - कायोत्सर्ग में स्थित होकर खखारना, थूंकना यह निष्ठीवन दोष है।

32. **अंगमर्श** - कायोत्सर्ग में स्थित हुए शरीर का स्पर्श करना यह अंगमर्श दोष है।

कायोत्सर्ग करते समय इन बत्तीस दोषों का परिहार करना चाहिए।

इस प्रकार जैन श्रमण दुःखों का क्षय करने के लिए माया- प्रपंच से रहित, विशेषताओं से सहित, अपनी शक्ति के अनुरूप और अपनी बाल, युवा या वृद्धावस्था तथा अपने वीर्य के अनुरूप एवं काल के अनुरूप कायोत्सर्ग को करते हैं।

षडावश्यकोपसंहार :

जो श्रमण इन आवश्यक क्रियाओं को करते हुए पुनः उस रूप परिणत हो जाते हैं -निश्चय आवश्यक क्रिया रूप हो जाते हैं, वे निश्चय आवश्यक क्रियामय कहलाते हैं, और वे अन्तर्मुहुर्त में मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। तथा जो श्रमण इनको करते हुए भी अतिचारों से बच नहीं पाते हैं, वे इनके प्रभाव से कुछ काल तक स्वर्गों व मनुष्य लोक के सुखों को प्राप्त कर क्रमशः मुक्त होते हैं। जो सम्पूर्ण रूप से न्यूनता रहित है, जो मन-वचन-काय से इन्द्रियों को वश में रखने वाले हैं उनके ही ये आवश्यक परिपूर्ण होते हैं। तथा जिसने परिपूर्ण आवश्यकों का पालन किया है, उस साधु के ही मन-वचन-काय पूर्वक इन्द्रियाँ वशीभूत होती हैं जो कि षडावश्यक का उद्देश्य है। अतः श्रमणों को मन-वचन-काय से शुद्ध होकर, द्रव्य, क्षेत्र आदि विषय में निराकुलचित्त होकर नित्य ही मौनपूर्वक आवश्यक क्रियाओं का अनुष्ठान करना चाहिए। इस प्रकार षडावश्यकों को अति उत्साह से पाला जाता है, जैसे मयूर मेघ के शब्द को सुनकर नाचने लगता है वैसे ही छह आवश्यकों का पालक भी छह आवश्यकों की चर्चा-वार्ता सुनकर आनन्दित होता है। यदि कोई उनकी निन्दा करता है तो गूंगा बहरा जैसा हो जाता है, अर्थात् न तो वह स्वयं छह आवश्यकों की निन्दा करता है, और यदि दूसरा कोई करता है तो उसे सुनता भी नहीं है। षडावश्यक अर्थात् आत्मिक स्थिरता का प्रयत्न, अतः श्रमण आत्म चर्या/चर्चा में ही उद्यमवन्त रहते हैं।

नित्य नैमित्तिक क्रियाएं :

आवश्यकों के सम्पूर्ण उपायों में सावधान श्रमण कृतिकर्म का कथन करने वाले शास्त्र तथा गुरु परम्परा से प्राप्त उपदेश के अनुसार नियम से नित्य और नैमित्तक क्रियाओं को करते हैं।

नित्य नैमित्तिक क्रियाओं का एक पृथक रूप से अध्याय के रूप में वर्णन अनगार-धर्मामृत में किया है। वैसे अभी तक के श्रमण- स्वरूप विवेचन नित्य क्रिया में समाविष्ट है ही, तथापि उसे विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करने के लिए पृथक रूप से वर्णन किया है।

आशाधरजी ने अनगार धर्मामृत के नवम अध्याय के प्रथम 44 श्लोकों में नित्य क्रिया के प्रयोग की विधि बतलायी है। श्रमण- साधना में अन्य बहुत कर्तव्यों के साथ स्वाध्याय का विशेष महत्वपूर्ण स्थान है। साधु के पाँच आचारों में प्रथम ही ज्ञानाचार को स्थान मिला है। स्वाध्याय इसी का मूलभूत अंग है। अतः नित्य- क्रिया में स्वाध्याय पर ही **विशेष जोर दिया गया है, और बारम्बार स्वाध्याय करने को इसका नियतकाल भी अधिकांश ही है। अहोरात्रि स्वाध्याय के माध्यम से ही व्यतीत करने को कहा गया है।**

स्वाध्याय के सन्दर्भ में ये प्रश्न कि कब, किस प्रकार, प्रारम्भ और समाप्त करना चाहिए ? स्वाध्याय के प्रतिष्ठापन और निष्ठापन की विधि में कहा है कि, प्रभातकाल से दो घड़ी व्यतीत हो जाने पर जब तीसरी घड़ी लगे तो स्वाध्याय प्रारम्भ करना चाहिए, और मध्याह्न काल से दो घड़ी पूर्व समाप्त करना चाहिए। इसी तरह मध्याह्नकाल से दो घड़ी बीतने पर स्वाध्याय प्रारम्भ करे और दिन का अन्त होने में दो घड़ी शेष रहने पर समाप्त करे। प्रदोष से दो घड़ी बीतने पर प्रारम्भ करने और अर्द्ध-रात्रि में दो घड़ी शेष रहने पर समाप्त करे। तथा आधी रात से दो घड़ी बीतने पर स्वाध्याय प्रारम्भ करे और रात्रि बीतने में दो घड़ी शेष रहने पर समाप्त कर दें। इस तरह स्वाध्याय के चार काल कहे। जो कि गौसर्गिक, आपरान्हिक प्रादोषिक, और वैरात्रिक अथवा इन्हें पौर्वान्हिक, अपरान्हिक, पूर्वरात्रिक, और अपररात्रिक नामों से भी जाना जाता है। निद्रा समाप्त कर उठने के बाद सबसे प्रथम अपररात्रिक स्वाध्याय का विधान है। साधु लघु-श्रुतभक्ति और लघु-आचार्य भक्ति करके स्वाध्याय की प्रतिष्ठापना करते हैं, पुनः स्वाध्याय करके लघुश्रुतभक्ति के द्वारा निष्ठापन कर देते हैं।

सूत्रादि ग्रन्थों का स्वाध्याय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की शुद्धिपूर्वक यथोचित- काल में किया जाता है। यह स्वाध्याय वाँचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय, और धर्मोपदेश के द्वारा किया जाता है जो कि श्रुतज्ञान का ज्ञानाचार है।

1. द्रव्यशुद्धि - अपने शरीर में ज्वर, आदि कोई शारीरिक विकार हो, ऐसी स्थिति में स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।
2. क्षेत्रशुद्धि - व्याख्यान स्थान से चारों दिशाओं में मांस, हड्डी, रूधिर आदि पदार्थ कम से कम बत्तीस धनुष दूर होना चाहिए। कोई पंचेन्द्रिय जीव पीड़ा से दुखी हो, जीवों का घात हो रहा हो, वन में आग, धुंआ आदि उठ रहा हो तो वाचना/स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।
3. कालशुद्धि - अर्हंत, आचार्य, उपाध्याय आदि आराध्य जनों का आगमन हो, एक योजन के अन्दर सन्यास धारण करने वाले का महान् उपवास हो, तथा आचार्य का स्वर्गवास अपने ही गाँव में हो तो सात दिन तक, यदि चार कोश के भीतर हो तो तीन दिन तक, और यदि किसी दूर क्षेत्र में हो तो एक दिन तक वाचना/स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।
4. भावशुद्धि - यश, पूजा, पुरस्कार वा पारितोषिक की इच्छा न रखते हुए अहंकार रहित और श्रुतज्ञान रूपी अमृत के आनन्द में मग्न बुद्धि का होना भाव शुद्धि है।

उपर्युक्त चार प्रकार की शुद्धियों पूर्वक "पर्यंकासन से बैठकर पिच्छिका के द्वारा ग्रन्थ, भूमि आदि का प्रतिलेखन करके पिच्छिका सहित अंजलि जोडकर प्रणाम करके सूत्र और

अर्थ में उपयोग स्थिर करते हुए अपनी शक्ति के अनुसार पढ़ना चाहिए।

पश्चात्, पश्चिम रात्रि में रात्रिक प्रतिक्रमण करते हैं। पुनः, रात्रि योग निष्ठापन करते हैं। पूर्व रात्रिक स्वाध्याय को विसर्जन करके मध्य रात्रि के पहले की दो घड़ी और पश्चात् की दो घड़ी ऐसे चार घड़ी (1.30 घंटे) तक अस्वाध्याय काल में शरीर के श्रम को दूर करने के लिए निद्रा करते हैं। इस प्रकार श्रमण की नित्य अहोरात्रिक चर्या व्यतीत होती है।

नैमित्तिक क्रियाऐं :

नैमित्तिक क्रियाविधि में भक्ति पूर्वक अष्टमी चतुर्दशी, पाक्षिक प्रतिक्रमण, अपूर्व चैत्यवंदनादि, सन्यासविधि, श्रुत-पंचमी अष्टाह्निका महोत्सव, वर्षायोगग्रहण वीर निर्वाण विधि करते हैं। इन सब क्रियाओं में यथायोग्य भक्तियों का प्रयोग करते हैं। भक्तिपाठ के बिना कोई क्रिया सम्पन्न नहीं होती है।

नित्यनैमित्तिक क्रियाओं का वर्णन मूलाचार आदि ग्रन्थों में प्राप्त नहीं होता है। आशाधरजी ने ही इनका पृथक्तः वर्णन किया है। शायद इनके समय तक श्रमण वर्ग काफी शिथिल हो चुका था। अतः उनको विभिन्न धार्मिक आयोजनों में लगाये रखने के उद्देश्य से इन सब का विशेष वर्णन विभिन्न प्रतिबन्धों को लगाकर किया, ताकि श्रमण इन कार्यों में ही लगा रहे, लौकिक कार्यों की ओर प्रेरित न हो सके।

आहारचर्या :

कायस्थित्यर्थमाहारः कायोज्ञानार्थमिष्यते।
ज्ञानं कर्मविनाशाय तन्नाशे परमं सुख।।

अर्थात् आहार से शरीर की स्थिति होती है, शरीर की स्थिति होने से जीव ज्ञान प्राप्ति की इच्छा रखता है, ज्ञान प्राप्ति से कर्मों का नाश होता है और कर्मों के नाश से ही अनन्त अविचल आत्मीय सुख प्राप्त होता है। अतः आहार को ग्रहण कर मुनिगणों को भी शरीर की स्थिति कायम रखनी पड़ती है। यद्यपि जैन श्रमण आहार ग्रहण करते हैं, परन्तु वहाँ पर भी उनका मूल उद्देश्य अनशनादि अन्तरंग-वहिरंग द्वादशविध तपों को पुष्ट करना होता है। इसी कारण श्रमण की आहारचर्या में उसकी विशुद्धता का विशेष महत्व है। प्रत्येक व्यक्ति का आहार, उसका प्रकार एवं उद्देश्य आदि विभिन्न दृष्टिकोण उस व्यक्ति के आचार-विचार- व्यवहार आदि उसके व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों को प्रभावित करता है। एक लोकोक्ति है कि "जैसा खाये अन्न वैसा होवे मन" परन्तु यथार्थ तो यह है कि "जैसा होवे मन, वैसा खावे अन्न" अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति अपने आचरणगत मानसिकता

के आधार पर ही अपने आहार का चयन करता है। हिंसक विचारधारा वाला व्यक्ति, अभक्ष्य शराब, मांस आदि को पसन्द करता है, तथा अहिंसक विचारधारा वाला व्यक्ति समुचित अहिंसक भोजन को ही पसन्द करेगा।

इसी कारण श्रमणाचार विषयक सम्पूर्ण साहित्य में आहारचर्या के विषय में सर्वांगीण चिन्तन देखने को मिलता है, और उसके प्रतिपादन का मूल उद्देश्य आहार विवेक की सूक्ष्मता को विश्लेषित करना होता है। श्रमण के मूलगुण और उत्तरगुणों के बीच भिक्षा-चर्या को मूल-योग कहा गया है।[103] यह आहार विवेक समग्र साधना का एक प्रधान अंग है, जिसकी उपेक्षा करके साधना के क्षेत्र में निरतिचारतः आगे नहीं बढ सकता है। इसी कारण आहार ग्रहण की निरतिचारतः आगे महत्ता को प्रतिष्ठित करने के लिए आचार्य जिनसेन ने आदि पुराण में कहा कि **भगवान श्री ऋषभदेव ने यतिचर्या अर्थात् आहार ग्रहण विधि का ज्ञान समस्त जनता को कराने के लिए और अपने शरीर की स्थिति के लिए निर्दोष आहार की गवेषणा करने की बुद्धि हुयी।** ऋषभदेव ने अपने सहदीक्षित श्रमणों के सम्बन्ध में सोचा कि, ये चार हजार राजा लोग केवल एक आहार के बिना चारित्र मार्ग से भ्रष्ट हो गये, क्योंकि इनको यतिचर्या का ज्ञान नहीं था; उसके बिना क्षुधा के दुस्सह परीषह को जीतने में असमर्थ होकर मार्ग से भ्रष्ट हो गये। अतः काय की स्थिति के लिए आहार ग्रहण की चर्या प्रकाशित होनी चाहिए एवं संयम पथ को पूर्ण करने के लिए शिष्यों को शरीर की स्थिति बनाये रखना चाहिए। ऐसा निश्चय कर ऋषभदेव ने योग समाप्त कर चर्या के लिए विहार किया। प्राणों की रक्षा या नियमित धारणा के लिए आहार ग्रहण करना ही चाहिए। इस प्रकार ऋषभदेव ने विधि मार्ग बतलाया।

आचार-विषयक ग्रन्थ के आदि-प्रणेता आचार्य वट्टकेर ने अपने मूलाचार ग्रन्थ के "पिण्डशुद्धि" नाम छठवें अधिकार में आहार चर्या का स्पष्ट स्वतन्त्र एवं सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया है। और साथ ही प्रसंगानुसार यत्र-तत्र आहार-शुद्धि का समुचित प्रतिपादन एवं आहार विवेक के विषय में सतत् सजग बने रहने को भी कहा है। कारण कि, जो श्रमण मनमाने स्थान पर शुद्धाशुद्ध के विवेक से रहित, चाहे जैसा उपलब्ध आहार तथा उपधि आदि को शोधन किये बिना ग्रहण कर लेता है, वह श्रामण्य से रहित संसार को बढ़ाने वाला है।[104] चिरकाल से दीक्षित श्रमण भी यदि आहार शुद्धि का ध्यान नहीं रखता। तब उस तप, संयम और चारित्रहीन श्रमण की आवश्यक क्रियाएं भी कैसे शुद्ध रह सकती हैं ?[105] ऐसा श्रमण तो लोक में मूल स्थान (गृहस्थभाव) को प्राप्त श्रामण्यतुच्छ कहलाता है।[106]

आहार के लिए "पिण्ड" शब्द का तथा आहारशुद्धि के लिए "पिण्डशुद्धि" का प्रयोग अधिकांशतः जैन साहित्य में देखने को मिलता है। पिण्ड शब्द "पिडि संघाते" धातु से बना है। सामान्य अन्वर्थ की दृष्टि से सजातीय या विजातीय ठोस वस्तुओं के योग को पिण्ड कहते हैं। किन्तु श्रमणाचार के प्रसंग में अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य इन चारों प्रकार के

आहार को "पिण्ड" शब्द से कहा गया है।[107] आचार्य वट्टकेर ने "पिण्डशुद्धि" का "आहार शुद्धि" अर्थ किया है।[108]

आहार : स्वरूप एवं भेद :

आहार शब्द "आ" उपसर्गपूर्वक "ह हरणे" धातु से घञ् प्रत्यय पूर्वक बना है जिसका अर्थ, लाना, ले आना या निकट लाना है तथा वामन शिवराम आप्टे ने अपने "संस्कृत हिन्दी कोष" में इसका अर्थ "भोजन करना" भी किया है। अतः यहाँ तो आहार का सामान्य अर्थ भोजन से ही इष्ट है। आचार्य पूज्यपाद ने आहार शब्द की व्याख्या में कहा कि तीन (औदारिक, वैक्रियक और **आहारक**) और छह पर्याप्तियों (आहार, शरीर, इन्द्रिय, ज्ञानप्राण, भाषा और मन) के **योग्य पुद्गल** वर्गणाओं के ग्रहण करने को "आहार" कहते हैं।[109]

वस्तुतः शरीर को **रत्नत्रयरूपी धर्म का व्यवहार** से आधार कहा है। अतः आहार-पान आदि के द्वारा **इस शरीर की स्थिति** बनाये रखने के लिए इस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, जिससे **इन्द्रियां** वश में रहें और अनादि काल से सम्बद्ध तृष्णा के वशीभूत होकर वे कुमार्ग की ओर न ले जावें।[110] संसार के सभी प्राणियों के जीवन का आधार आहार भी है फिर चाहे वह किसी भी रूप में ही क्यों न कहा जावे, सभी प्राणी अपनी-अपनी शारीरिक स्थिति व सामर्थ्य के अनुसार ही आहार ग्रहण करते हैं। आहार संज्ञा (अभिलाषा) के चार कारण गोम्मटसार में कहे हैं-(1) आहार के देखने से, (2) उसकी तरफ मन लगाने से (3) पेट के खाली होने से, (4) असाता वेदनीय कर्म की उदय, एवं उदीरणा होने से आहार ग्रहण प्रायः देखा जाता है।[111]

एषणीय आहार ग्रहण के मार्गों की चर्चा प्रसंग में तीन प्रकार के भाव आहार बताये हैं-

1. **ओज आहार** - जन्म के पूर्व माता के गर्भ में सर्वप्रथम गृहीत आहार जो मात्र शरीर पिण्ड द्वारा ग्रहण किया जाता है।
2. **रोम आहार** - जो त्वचा या रोमकूप द्वारा ग्रहण किया जाता है, जैसे हवा आदि।
3. **प्रक्षेप (प्रक्षिप्त) आहार** - जो मुख जिह्वादि द्वारा ग्रहण किया जाता है।[112]

मूलाचार तथा अन्य आचार शास्त्र के प्रायः सभी जैन ग्रन्थों में आहार के चार भेद किये हैं-(1) अशन, (2) पान, (3) खाद्य, (4) स्वाद्य। इनमें जो भूख को मिटाता है वह अशन है जैसे अन्नादिक। जो दस प्रकार के प्राणों पर उपकार करता है, उन्हें जीवन देता है वह पान या पेय है जैसे जल, दूध आदि। जो रस पूर्वक खाया जाता है खाद्य या खादिम है जैसे मिष्ठान्न फलादिक। तथा जो आस्वादयुक्त होता है वह स्वाद्य है जैसे लोंग, इलायची आदि।

मूलाचार में इस विभाजन को पर्यायार्थिक नय की संज्ञा देते हुए कहा है कि, यों तो आहार के उपर्युक्त चार भेद हैं; किन्तु द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से सभी आहार अशन हैं, सभी आहार पान है, सभी खाद्य और सभी स्वाद्य हैं।[113]

सूत्र कृतांग निर्युक्ति (श्वे.) का विभाजन आहारग्रहण के मार्गों पर आधारित है। किन्तु वृहत्कल्पभाष्य (श्वे.) में अन्न के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट तीन भेद बताये गये हैं। इनमें जघन्य अन्न के अन्तर्गत आहार के तीन भेद हैं।[114] (1) **अन्नाहार**-गेहूँ, चना आदि (2) **प्रान्ताहार**-स्वभावतः रसहीन, निःसत्वद्रव्य, और **रुक्षाहार**-पूर्णतः स्नेह विहीन आहार।

प्रमुख ग्रन्थों के आधार पर सभी प्रकार के आहार मुख्यतः चार प्रकार से विभक्त हैं - (1) कर्माहारादि (2) खाद्यादि (3) कांजी आदि और (4) पानकादि। इन चारों के अन्तर्गत किन-किन आहारों को अन्तर्भूत किया जा सकता है उन्हें निम्नलिखित विभाजन एवं चार्ट के माध्यम से प्रदर्शित किया गया है।[115]

आहार

कर्माहारादि	खाद्यादि	कांजी आदि	पानकादि
(1)	(2)	(3)	(4)
कर्माहार	अशन	कांजी	स्वच्छ
नो कर्माहार	पान	आंवली या आचम्ल	वहल
कवलाहार	भक्ष्य या खाद्य	वेलडी	लेवल
लेप्याहार	लेह्य	एकलटाना	अलेवड
ओजाहार	स्वाद्य		ससिक्थ
मानसाहार			असिक्थ

आहार ग्रहण का प्रयोजन :

"यद्यपि मुनियों के बाह्य क्रिया से तो प्रयोजन नहीं है, और अट्ठाइस मूलगुण ग्रहण किया है, उसमें तो अतिचार नहीं लगाते हैं, और तदुपरान्त भी क्रिया ग्रहण करते हैं, वह उपयोग लगने के अनुसार करते हैं। अतः यदि वे भोजन करके शरीर को प्रबल हुआ जाने, तो ऐसा विचार करते है कि, यदि शरीर प्रबल होगा तो प्रमाद उत्पन्न करेगा। अतः एक दो दिन भोजन का त्याग ही करना उचित है। और यदि भोजन के त्याग से शरीर को क्षीण हुआ जाने तो ऐसा विचार करते हैं कि, यदि यह शरीर शिथिल होगा तो परिणामों को शिथिल करेगा और जब परिणाम शिथिल होंगे तो ध्यान-अध्ययन नहीं सधेगा। इस शरीर से मेरा कोई बैर तो है नहीं, यदि बैर हो तो उसका शोषण ही करते रहें। परन्तु मुनियों को

शरीर से रागद्वेष का तो अभाव है, अतः जिसमें मुनियों का ध्यान-अध्ययन सधे वही वे करते हैं।[116]

उपर्युक्त उद्धरण से इस भ्रान्ति का काफी निराकरण होता है कि जैन श्रमण शरीर का शोषण करते हैं, शरीर को कृश करने का भाव तो द्वेष मूलक है, अतः अनशनादिक वृत्तियों से आत्मोत्थान ही मुख्य होता है। आहार ग्रहण करते समय यही विचार प्रमुख होता है कि, इससे शरीर स्थिर रहेगा, जिससे कि हम तपश्चरण आदि करके आत्महित के साथ सदुपदेशादि के द्वारा दूसरों का भी हित कर सकेंगे। इतने पर भी वे स्वाभिमानी श्रमण अपने शरीरकृत परवशता पर आहार मात्र के ग्रहण करने पर भी लज्जा अनुभव करते हैं।[117]

आचार्य वट्टकेर के अनुसार बल, आयु, शरीर, तेज इन सबको वृद्धि और स्वाद के उद्देश्य से श्रमण आहार नहीं करते[118]। अपितु वे ज्ञान, संयम, और ध्यान की साधना के निमित्त आहार ग्रहण करते हैं।[119] अतः उनका ठण्डा, गरम, रूखा, सूखा, चिकना अथवा विकार रहित, नमक रहित या नमक सहित भोजन के प्रति आस्वादभाव होता है[120] क्योंकि वे गुणरत्नों को ढ़ोने वाली शरीररूपी गाड़ी के लिए समाधि नगर की ओर ले जाने की इच्छा रखने वाले होने से, जठराग्नि का दाह शमन करने के निमित्त औषधि की तरह या गाड़ी में औंगन देने की तरह अन्न आदि आहार को बिना स्वाद के ग्रहण करते हैं।[121]

उत्तराध्ययन (श्वे.) में कहा है कि भिक्षा जीवी मुनि संयमित जीवन की यात्रा के लिए आहार की गवेषणा करे, किन्तु रसों में मूर्च्छित न होवे।[122] भगवती सूत्रकार कहते हैं कि, प्रासुक आहार करता हुआ साधु आयुकर्म को छोडकर शेष सात कर्मों के बन्धनों को ढीला करता है। अतः उनका आहार निरवद्य एवं संयम को पुष्ट करने वाला है।[123] इसी कारण 'ज्ञाताधर्मकथा' में कहा कि श्रमण शरीर के द्वारा ज्ञानदर्शन चरित्र का परिवहन करने एवं मोक्ष प्राप्ति के लिए ही आहार ग्रहण करते हैं, न कि शरीर को पुष्ट करने के लिए ही आहार ग्रहण करते हैं।[124]

निष्कर्ष रूप में सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप रत्नत्रय धर्म इस देहालय में ही होता है। अतः उसे भोजन-पान आदिक के द्वारा स्थित रखना पड़ता है। परन्तु इस दिशा में प्रवृत्ति वहीं तक ही श्रेयस्कर है, जहाँ तक कि इन्द्रियाँ अपने आधीन रहें। रयणसार के अनुसार जो साधु ज्ञान और संयम की वृद्धि के लिए तथा ध्यान और अध्ययन के निमित्त यथालाभ भोजन ग्रहण करता है वह साधु मोक्षमार्ग में रत है।[125]

आहार का ग्रहण-त्याग - आचार्य वट्टकेर आहार ग्रहण के छः कारण बतलाते हैं। (1) वेदना (क्षुधाशान्ति) (2) वैयावृत्य (3) क्रियार्थ (षडावश्यकादि क्रियाओं का पालन) (4) संयमार्थ (5) प्राणचिन्ता (प्राणों की रक्षा) तथा (6) धर्मचिन्ता[126] इन छह कारणों के लिए जो यति अशन, खाद्य, लेह्य और पेय-ये चार प्रकार के आहार ग्रहण करता है वह चारित्र धर्म का पालक है।

आहार त्याग के भी छह कारण हैं-(1) आतंक (आकस्मिक व्याधि ज्वर आदि होने) (2) उपसर्ग (3) ब्रह्मचर्य गुप्ति की तितिक्षा (सुरक्षा) (4) प्राणिदया (5) तप तथा (6) शरीर परित्याग[127] इन छह कारणों में से किसी एक के भी उपस्थित होने पर वह आहार का त्याग भी करता है तो वह धर्मोपार्जन ही है।[128] वसुनन्दि ने कहा है कि आहार-त्याग के कारण उपस्थित होने पर भले ही क्षुधा-वेदनादि आहार-ग्रहण के कारण उपस्थित हों तो भी आहार त्याग कर देना चाहिए।[129]

आहार ग्रहण और त्याग के उपर्युक्त छह-छह कारणों का उल्लेख श्वेताम्बर परम्परा के स्थानांग तथा उत्तराध्ययन सूत्र में भी समान ही है। आहार ग्रहण के तृतीयकारण "क्रियार्थ" (किरियागए) के स्थान पर स्थानांग तथा उत्तराध्ययन में ईर्यासमिति के शोधन के लिए (इरियट्ठाए) पाठ मिलता है। तथा आहार त्याग के अन्तिम कारण "शरीर त्याग" के लिए आहार का व्युच्छेद के स्थान पर "शरीर विच्छेद के लिए" (सरीर वोच्छेयण ट्ठाए) पाठ मिलता है।[130]

भिक्षाचर्या के नाम :

सामान्यतः भिक्षा के तीन प्रकार होते हैं-दीनवृत्ति, पौरुषघ्नी और सर्व संपत्करी। अनाथ, दीनहीन एवं अपंग व्यक्तियों द्वारा मजबूरीवश माँगकर उदरपूर्ति करने को दीनवृत्ति कहा जाता है। परिश्रमी व्यक्ति भी यदि भिक्षा से उदरपूर्ति करने लग जाए तो वह पौरुषघ्नी भिक्षा है। संयम के धारक व्यक्ति द्वारा अहिंसा महाव्रत के विशुद्ध पालन एवं संयम यात्रा के निर्विघ्न निर्वाह के उद्देश्य से सहज प्राप्त आहार भ्रामरी आदि वृत्तियों के द्वारा ग्रहण करना सर्व-संपत्करी भिक्षा है।

प्रस्तुत प्रसंग में सर्व-संपत्करी अर्थात् श्रमण भिक्षा-चर्या ही यहाँ प्रतिपाद्य विषय है। श्रमणों की भिक्षावृत्ति के निम्न उल्लेख मिलते हैं। उदराग्निप्रशमन, अक्षप्रेक्षण, गोचरी, श्वभ्रपूरण या गर्त पूरण, भ्रामरी या मधुकरी वृत्ति।[131] अनगार-धर्मामृत में भिक्षाशुद्धि के वर्णन प्रसंग में ये पाँच भिक्षावृत्ति के नाम बतलाये हैं।[132]

1. उदराग्नि प्रशमन भिक्षावृत्ति -

इसका अर्थ है कि जितने आहार से उदर की क्षुधाग्नि शान्त हो उतना ही आहार ग्रहण करना। शरीर को तपश्चरणादि के योग्य बनाये रखने के उद्देश्य से क्षुधारूपी अग्नि को शान्त करने के लिए आहार ग्रहण करना एवं उसमें अच्छे-बुरे का स्वाद का प्रयोजन नहीं है।[133]

अक्षप्रेक्षण -

जैसे बैलगाड़ी आदि वाहनों को सुगमता से चलाने के लिए उस गाड़ी की धुरी पर तेलादि लगाया जाता है। उसी प्रकार मुनि इस शरीर को आत्मसिद्धि रूप धर्म का साधन करने के उद्देश्य से प्राण धारण के निमित्त आहार ग्रहण करते हैं। क्योंकि धर्म साधन के लिए प्राण और मोक्ष प्राप्ति के निमित्त धर्म धारण किया जाता है।[134] शान्त्याचार्य ने भी कहा है कि जैसे गाड़ी के पहिए के धुरी को भार-वाहन की दृष्टि से तेल आदि स्निग्ध पदार्थ लगाया जाता है; वैसे ही गुणभार वहन की दृष्टि से ब्रह्मचारी आहार करे, शरीर को पोषण दे।[135]

गोचरी -

जैसे गाय की दृष्टि आभूषणों से सुसज्जित सुन्दर युवति के श्रृंगार पर नहीं, अपितु उसके द्वारा लायी गयी घास पर ही रहती है, वैसे ही साधु को भी दाता तथा उसके वेश एवं भिक्षास्थल की सजावट आदि के प्रति या आहार के रूखे-चिकनेपन आदि पर ध्यान दिये बिना या उन सबकी अपेक्षा किये बिना आहार-ग्रहण करना गोचरी या गवेषणाआहार वृत्ति है।[136] दशवैकालिक की जिनदास कृत चूर्णि में भी गोचरी/आहार वृत्ति के विषय में इसी प्रकार के उदाहरण देखने को मिलता है "जैसे एक युवा वणिक् स्त्री सुन्दर वस्त्रादिक से अलंकृत हो गोवत्स को आहार देती है। किन्तु वह गोवत्स उसके हाथ से उस आहार को ग्रहण करता हुआ भी उस स्त्री के रंग- रूप, आभरणादि के शब्द, गंध और स्पर्श में मूर्च्छित नहीं होता है। इसी प्रकार साधु भी विषयादि शब्दों में अमूर्च्छित रहता हुआ आहारादि की गवेषणा में प्रवृत्त होता है।[137]

श्वे. साधु श्री हरिभद्र ने गोचर शब्द का अर्थ "गाय की तरह चरना-भिक्षाटन करना किया है। जैसे गाय अच्छी-बुरी घास का भेद किये बिना चरती है। वैसे ही साधु को उत्तम, मध्यम और अधम कुल का भेद न करते हुए तथा प्रिय-अप्रिय आहार में राग-द्वेष न करते हुए भिक्षाटन करना चाहिए।[138] श्वेताम्बर परम्परा के ही अन्य आचार्यों ने भी कहा है कि गोचर का अर्थ है भ्रमण; जिस प्रकार गाय शब्दादि विषयों में गृद्ध नहीं होती हुयी आहार ग्रहण करती है, उसी प्रकार साधु भी विषयों में आसक्त न होते हुए उद्गम-उत्पादन और एषणा के दोषों से रहित भिक्षा के लिए भ्रमण करते हैं।[139] इस तरह की गोचर आहार वृत्ति को गोचरी कहते हैं।

2. श्वभ्र पूरण

सरस-नीरस आदि रूप आहार से इस पेट रूपी गड्ढे को भर लेना श्वभ्रपूरण आहार विधि है। इसे गर्त पूरण आहार विधि भी कहते हैं।[140]

3. भ्रामरी -

जैसे भ्रमर, बिना म्लान किये ही द्रुम पुष्पों में यह निश्चित किये बिना कि मैं अमुक पुष्प का ही पान करूँगा, वह किसी भी द्रुम पुष्प से थोडा रस पीकर अपने को तृप्त कर लेता है वैसे ही श्रमण भोजन वृत्ति में यह नियत नहीं करता कि मैं अमुक वस्तु का आहार ग्रहण करूँगा।अतः आहारदाता पर भार रूप बाधा पहुँचाये बिना कुशलता से भ्रमर की तरह निर्दोष आहार ग्रहण करना ही भ्रामरी वृत्ति है।[141]

यथार्थतः भ्रमर अवधजीवी होता है। वह अपने जीवन निर्वाह के लिए किसी प्रकार का समारम्भ, उपमर्दन या हनन नहीं करता। वैसे ही श्रमण साधक भी अवधजीवी है-किसी तरह का पचन-पाचन और उपमर्दन नहीं करता, भ्रमर पुष्पों से स्वभाव सिद्ध रस ग्रहण करता है। उसी प्रकार श्रमण, साधक गृहस्थ के घरों से जहाँ आहार जल आदि स्वाभाविक रूप से बनते हैं, वहीं प्रासुक आहार ग्रहण करता है तथा जैसे मधुकर उतना ही रस ग्रहण करता है, जितना कि उदरपूर्ति के लिए आवश्यक होता है, वैसे ही श्रमण जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक उतना ही आहार ग्रहण करें जितना कि उसे आवश्यक हो। आवश्यकता से अधिक आहार न लेवें।

इस प्रकार श्रमण को भ्रामरी वृत्ति से आहार-ग्रहण की बात कहकर यह बताया गया है कि, अहिंसात्मक आराधना करने वाला श्रमण अपने शारीरिक स्थिति के लिए भी किंचित हिंसा न करे, वह अल्पाहार ले, संयम और तपोमय जीवन व्यतीत करे। श्रमणों के परिणाम सुधार का ही निरन्तर प्रयत्न होता है। जिस क्रिया में राग-द्वेष न हो उसी क्रिया रूप वे प्रवर्तन करते हैं।

आहार का समय :

सूर्योदय के तीन घड़ी बाद और सूर्यास्त के तीन घड़ी शेष रहने पर अर्थात् सूर्यास्त होने से तीन घड़ी पूर्व तक का काल श्रमण के आहार- ग्रहण का समय माना गया है। आहार के इस काल में एक मुहुर्त में आहार ग्रहण उत्कृष्ट काल या उत्कृष्ट आचरण माना गया है। दो मुहुर्त में मध्यम काल या मध्यम आचरण तथा तीन मुहुर्त में आहार ग्रहण जघन्य आचरण कहा गया है।[142] यह काल का परिमाण सिद्ध भक्ति करने के अनन्तर आहार ग्रहण करने का है न कि आहार के लिए भ्रमण करते हुए विधि न मिलने के पहले का भी। अर्थात् यदि साधु आहार हेतु भ्रमण कर रहे हैं उस समय का काल इसमें शामिल नहीं

है।[143] एक भक्त मूलगुण के अन्तर्गत इसी विधान की चर्चा करते हुए भोजन ग्रहण का समय दिन का मध्याह्न माना है। मूलाचार- वृत्ति में बताया है कि सूर्योदय की दो घड़ी निकलने पर आवश्यक क्रियाएं तथा स्वाध्याय आदि करने के पश्चात् मध्याह्नकाल की देववन्दना करे, तत्पश्चात् बालकों के भरे पेट से तथा अन्य लिंगियों से भिक्षा का समय ज्ञात कर ले और गृहस्थों के घरों से जब धुंआ आदि निकलना बन्द हो जाए, तथा मूसल आदि के शब्द शान्त हो जाएं, तब गोचरी के लिए प्रवेश करना चाहिए।[144]

भगवती-आराधना की विजयोदया टीका में कहा है कि तीन प्रकार के आहारकाल के विषय में तीन दृष्टियों से विचार करना चाहिए-भिक्षा काल, बुभुक्षा काल और अवग्रह काल। इसका विवेचन करते हुए कहा कि-

1. भिक्षाकाल -

अमुक मासों में ग्राम नगर आदि में अमुक समय भोजन बनता है, अथवा अमुक काल या अमुक मुहल्ले का अमुक समय भोजन का है, इस प्रकार इच्छा के प्रमाण आदि से भिक्षा का काल जानना चाहिए।

2. बुभुक्षाकाल -

मेरी भूख आज मन्द है या तीव्र है इस प्रकार अपने शरीर की स्थिति की परीक्षा करनी चाहिए।

3. अवग्रहकाल -

मैंने पहले यह नियम लिया था कि, इस प्रकार का आहार मैं नहीं लूँगा और आज मेरा यह नियम है। इस प्रकार विचार करना चाहिए।[145]

श्वेताम्बर परम्परा के उत्तराध्ययन सूत्र में स्वाध्याय, ध्यान, भिक्षाचर्या को उत्तरगुण कहा है।[146] तथा इसके पालन की दिनचर्या चार काल विभागों में विभक्त किया है। तदनुसार श्रमण को प्रथम प्रहर में पुनः स्वाध्याय करना चाहिए। इसके अनुसार श्रमण के भिक्षा का समय तृतीय प्रहर माना है। परन्तु सभी पक्षों से विचार करने पर मूलाचार में कथित आहार का समय सर्वाधिक उपयुक्त है।

पूर्व में अहिंसा महाव्रत की भावना में "आलोकितपान भोजन" के अन्तर्गत यह कहा गया है कि श्रमण दिन के प्रकाश में ही एक बार आहार ग्रहण करते हैं। दशाश्रुत स्कन्ध (श्वे) के अनुसार जो भिक्षु सूर्योदय और सूर्यास्त के प्रति शंका में पड़कर आहार-ग्रहण करते हैं, उनको रात्रि भोजन ग्रहण का दोष लगता है।[147] दशवैकालिक में कहा है कि सूर्यास्त से लेकर पुनः जब तक सूर्य पूर्व में न निकल आए, तब तक सब प्रकार के आहार

की मन में भी इच्छा न करे।[148] रात्रि भोजन से पाँच महाव्रत भंग होते हैं और अष्ट प्रवचनमाता के पालन में मलिनता आती है। यदि मुनि रात्रि में आहारार्थ निकले हों, तो गृहस्थों या किसी के भी मन में यह शंका उत्पन्न होती है कि मुनि वेश में यह कोई चोर हो सकता है। इसके अलावा विपत्ति के भी बहुत प्रसंग आते हैं। अतः महाव्रतों की रक्षा, अष्ट प्रवचनमाता तथा महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं के परिपालन हेतु रात्रि भोजन का त्याग तो प्रारंभिक कर्तव्य है।[149] अतः भिक्षागमन के योग्य काल को छोडकर अन्य समय या विकाल में आहारार्थ निकलना निषिद्ध है। दशवैकालिक में यह भी कहा है कि भिक्षा का काल होने पर भी यदि वर्षा हो रही हो, कुहरा फैला हो, आँधी चल रही हो, भ्रमर कीट आदि तिर्यन्च जीव छा रहे हों, तब श्रमण को भिक्षा के लिए नहीं जाना चाहिए।[150] इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रमण के आहार गमन काल में भी अत्यन्त विवेक का दर्शन होता है जो कि श्रमण की अहिंसक वृत्ति को सिद्ध करता है।

आहारार्थ गमनविधि :

श्रमण का आहार के समय पर जितना विवेक अपेक्षित है उतना ही उसके लिए विवेक पूर्वक गमन भी अपेक्षित होता है। विधिपूर्वक किया गया कार्य ही फलीभूत होता है। अतः **मूलाचारकार ने आहारार्थ गमन करने वाले श्रमण को इन पाँच तथ्यों की रक्षा करने के लिए निर्देशित किया है:-**

1. जिनशासन की रक्षा एवं उसकी आज्ञा का पालन।
2. स्वेच्छावृत्ति का त्याग।
3. सम्यक्त्वानुकूल आचरण
4. रत्नत्रय स्वरूप आत्मा की रक्षा।
5. संयम रक्षा।

इन पाँचों में से किसी में भी किंचित् दोष का प्रसंग आए, या बाधा की सम्भावना हो तो श्रमण को तत्काल आहार का त्याग कर देना चाहिए।[151] भिक्षाचर्या में प्रविष्ट हुए श्रमण मनोगुप्ति वचन गुप्ति और कायगुप्ति रूप त्रिगुप्ति, मूलगुण, उत्तरगुण, शील, संयम आदि की रक्षा करते हुए तथा शरीर से वैराग्य, परिग्रह से वैराग्य और संसार से वैराग्य का विचार करते हुए विचरण करें।[152] मूलाचार-वृत्ति में आहारार्थ गमन विधि बतलाते हुए कहा कि, सूर्योदय की जब दो घड़ी बीत जावे तब देववन्दना करने के पश्चात् श्रुतभक्ति एवं गुरूभक्ति पूर्वक स्वाध्याय को ग्रहण करके सिद्धान्त आदि की वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, परिवर्तन आदि करे, जब मध्याह्नकाल होने में दो घड़ी समय शेष रहे तब आदर के साथ सिद्धभक्ति पूर्वक स्वाध्याय को समाप्त करे। वसतिका से दूर जाकर समिति पूर्वक मलमूत्रादि बाधा दूर करे। तब शरीर को पूर्वापर देखकर हाथ-पैर आदि का प्रक्षालन करके, कमण्डलु और पिच्छि का ग्रहण करके मध्याह्नकाल की देववन्दना करे। तत्पश्चात् योग्य समय जानकर आहारार्थ प्रवेश करना चाहिए।[153] श्रमण- चर्या में गोचरी के पूर्व

सिद्ध भक्ति करने का विधान किया गया है, न कि अरहंत आचार्य आदि की भक्ति, क्योंकि ये आहारी हैं। स्वयं निराहारी बनने के लिए, परन्तु मजबूरीवश आहारार्थ गमन करते वक्त निराहारी सिद्ध को स्मरण कर चिन्तन करते हैं कि अहो! मैं भी कब आप जैसा निराहारी बनूँगा। आहारार्थ-गमन यह मेरी बहुत कमजोरी व परवशता है, और मैं एतदर्थ लज्जा का भी अनुभव कर रहा हूँ।

विजयोदया टीका में कहा है कि भिक्षा और भूख के समय को जानकर अवग्रह अर्थात् आहार के लिए विधि हेतु संकल्प की प्रतिज्ञा ग्रहण करके ईर्या- समिति पूर्वक ग्राम, नगर आदि में श्रमण को प्रवेश करना चाहिए। वहाँ अपना आगमन बताने के लिए याचना या अव्यक्त शब्द न करें। विद्युतवद् अपना शरीर मात्र दिखला दें। मुझे कौन निर्दोष भिक्षा देगा ऐसा भाव न करें। अपितु जीव-जन्तु रहित, दूसरे के द्वारा रोक-टोक से रहित, पवित्र स्थान में गृहस्थ द्वारा पडगाहना (प्रार्थना) किये जाने पर ठहरे। द्वार पर सांकल लगी हो या कपाट बन्द हो तो उन्हें न खोले। बालक, बछड़ा, मेढ़ा और कुत्ते को लाँघकर न जावें। जिस भूमि में पुष्प, फल और बीज फैले हों उस पर से न जावे। तत्काल लीपी गयी भूमि पर न जावे जिस घर में अन्य भिक्षार्थी भिक्षा के लिए खडे हों उस घर में प्रवेश न करें। जिस घर के कुटुम्ब घबराये हों, जिनके मुख पर विषाद और दीनता हो वहाँ न ठहरें। भिक्षादान भूमि से आगे न जावें। गोचरी को जाते हुए न तो अतिशीघ्र चले न अति धीरे-धीरे चले और न रुक-रुक कर ही, निर्धन और अमीर के घर का विचार न करें। मार्ग में न ठहरें, न वार्तालाप करें, हँसी आदि न करे। नीच कुलों में प्रवेश न करें। शुद्ध कुलों में भी यदि सूतक आदि दोष हो तो वहाँ न जावे। द्वारपाल आदि रोके तो न जावे। जहाँ तक अन्य भिक्षाटन करने वाले जाते हों वहीं तक जावे। जहाँ विरोध के निमित्त हो वहाँ न जावे। दुष्टजन, गधा, भैंस, बैल, सर्प आदि से दूर से ही बच कर जावें। मदोन्मत्त जनों से दूर रहे। स्नान विलेपन मण्डन और रतिक्रीडा में आसक्त स्त्रियों को न देखे, एवं **धर्म कार्य के अलावा किसी के भी घर न जावे।**[154]

संकल्प पूर्वक गमन का विधान :

मूलाचारकार ने वृत्ति परिसंख्यान नामक चतुर्थबाह्य तप के प्रसंग में कहा है कि श्रमण को भिक्षा से सम्बद्ध कुछ संकल्प या अभिग्रह लेकर आहारार्थ गमन करना चाहिए जैसेः-

(1) दाता संकल्प

अर्थात् यदि वृद्ध जवान आदि संकल्पानुसार दाता विशेष ही मेरा प्रतिग्रह करेगा तभी उसके यहाँ रुकूँगा अन्यथा नहीं।

(2) गोचर प्रमाण -

इसके अन्तर्गत घरों के प्रमाण का संकल्प लेकर निकलने का विधान है।

(3) भोजन संकल्प -

काँसे, पीतल आदि धातु या मिट्टी के पात्र विशेष से भिक्षा देगा तो स्वीकार करूँगा अन्यथा नहीं।

(4) अशन संकल्प -

चावल आदि विविध प्रकार के अन्न में से संकल्पित अन्न या भोज्य पदार्थ विशेष मिलेगा तो आहार ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं।

इसी प्रकार और भी अनेक प्रकार के संकल्प लेकर आहारार्थ गमन करना चाहिए।[155]

भगवती आराधना में भी विविध प्रकार के संकल्प लेकर आहारार्थगमन करने का उल्लेख है।[156] जैसे :-

(1) गत्वा प्रत्यागता -

जिस मार्ग से पहले गया उसी से लौटते हुए यदि भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं।

(2) ऋजुर्वाथि -

सीधे मार्ग से भिक्षा मिली तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं।

(3) गोमूत्रिका -

गाय या बैल के रास्ते में चलते-चलते मूत्र-त्याग करने से जैसे बलखाते हुए आकार बनता जाता है वैसे ही बाँए पार्श्व से दाँए पार्श्व के घर और दाँए से बाँये पार्श्व जाते हुए घर में भिक्षा मिली तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं।

(4) पेल्लवियं (पेठा) -

वस्त्र सुवर्ण आदि रखने के लिए बाँस के पत्ते आदि से जो सन्दूक बनता है, जिस पर ढ़कना भी हो, उसके समान चौकोर भ्रमण करते हुए भिक्षा मिली तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं।

(5) शबूंकावर्त -

शंख के आवर्तों के समान गाँव के अन्दर आवर्ताकार भ्रमण करके बाहर की ओर भ्रमण करते हुए भिक्षा मिली तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं।

(6) पतंग वीथी -

पतंगों की पंक्ति से अनियम क्रम से भ्रमण या उड़ने के समान भ्रमण करते हुए भिक्षा मिली तो ग्रहण करूँगा।

(7) गोयरिया -

गोचरी नामक भिक्षा के अनुसार भ्रमण करते हुए भिक्षा लेना।

(8) पाटक -

इसी पाटक या मुहल्ले में भ्रमण करते हुए भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूँगा। इस प्रकार एक पाटक, दो पाटक में ही प्रवेश करूँगा।

(9) नियंसण -

अमुक घर के परिकर से लगी हुयी भूमि में भिक्षा मिली तो स्वीकारूँगा, घर में प्रवेश नहीं करूँगा। कुछ ग्रन्थकारों का कथन है कि पाटक की भूमि में ही प्रवेश करूँगा, घरों में नहीं, इस संकल्प को पाटक-निवसन कहते हैं।

(10) भिक्षा परिमाण -

एक या दो बार में परोसे गये भोजन को ग्रहण करूँगा।

(11) दातृ ग्रास परिमाण -

एक या दो दाता के ही द्वारा देने पर भिक्षा ग्रहण करूँगा।

(12) पिण्डैषणा -

पिण्डरूप भोजन ही ग्रहण करूँगा।

(13) पानैषणा -

जो बहुत द्रव होने से पीने योग्य होगा वहीं ग्रहण करूँगा।

इसी प्रकार यवागु, पुग्गलया (चना, मसूर आदि धान्य) संसृष्टशाक, कुल्माष आदि से मिला हुआ, फलिहा-मध्य में भात और उसके चारों और शाक रखा हो वैसा आहार, परिखा-मध्य में अन्न तथा इसके चारों ओर व्यंजन रखा हो तो तैसा आहार,

पुष्पोसहित-व्यंजनों के मध्य पुष्पावली के समान चावल रखा हो, शुद्ध **गोपाहित-शुद्ध** अर्थात् बिना कुछ मिलाये अन्न से अपहित अर्थात् मिले हुए शाक व्यंजन आदि। **लेपकृत-जिसके** हाथ लिप्त हो जाए, **अलेपकृत-जिसके** हाथ लिप्त न हो। पानक-सिक्थ रहित और सिक्थ सहित (पानक) ऐसा भोजन मिलेगा तो ग्रहण करूंगा। इस प्रकार के संकल्प पूर्वक आहारार्थ गमन करना चाहिए।

इसी प्रकार पात्र, दाता आदि अनेक प्रकार के संकल्प अपनी शक्ति के अनुसार ग्रहण करके आहारार्थ गमन करना चाहिए। **संकल्पों के** पूर्ण होने पर यदि भिक्षालाभ होता है तो प्रसन्नता नही और भिक्षा न मिलने पर दुःखी नहीं होना चाहिए। क्योंकि श्रमण तो सुख-दुःख दोनों में आकुलता रहित मध्यस्थ रहता है। वह भिक्षा लाभ के लिए किसी सद्गृहस्थ की प्रशंसा या उनसे याचना नहीं करता है। श्रमण भिक्षाचर्या के लिए निकले, परन्तु अपना आगमन सूचित करने के लिए अस्पष्ट शब्दादि के संकेत नहीं करता, अपितु बिजली की चमक के सदृश अपना शरीर मात्र दिखा देना ही पर्याप्त मानता है।[157] जिस श्रावक के यहाँ श्रमण को आहार की विधि मिलती है वे पिच्छि और कमण्डलु को वामहस्त में एक साथ धारण करते हैं और दक्षिण कन्धे पर पंचागुंलि मुकुलित दाहिना हाथ रखकर आहार स्वीकृति व्यक्त करते है।[158] श्रावक जब देखता है कि मुनिराज के संकल्पानुसार आहार-विधि उसके यहाँ मिल गयी है; तब वहाँ स्थित मुनिराज को तीन बार परिक्रमा देता है तब मनः शुद्धि, वचन शुद्धि, काय (आहार) शुद्धि कहकर उन्हें आहारार्थ घर में प्रवेश के लिए आग्रह करता है। सचित्त, तंग, गन्दे व अन्धकार युक्त स्थान में श्रमण प्रवेश नहीं करते, क्योंकि संयम विराधना की आशंका रहती है।

आहार ग्रहण के योग्य घर :

श्रमण का आहार काल एवं गमन विधि का जैसे विधान है उसी तरह योग्य घर में आहार ग्रहण का भी विधान है। आदिपुराण में कहा है कि साधु जन को योग्य काल में भिक्षा लेनी और घर की पंक्ति को नहीं उल्लंघनी चाहिए[159]। सीधी पंक्ति से तीन अथवा सात घर से आया हुआ प्रासुक ओदन आदि को आचिन्न " अनाचीर्ण" अर्थात अग्राह्य बताया है।[160] क्योंकि इसमें ईर्यापथ शुद्धि नहीं रहती। संदेह युक्त स्थान का प्रासुक-अप्रासुक की आशंका तथा सूत्रयुक्त (शास्त्रोक्त) या सूत्र प्रतिकूल, तथा प्रतिषिद्ध, श्रमणों के उद्देश्य से बनाया गया एवं खरीदा गया आहार अग्राह्य है।[161] भिक्षा के लिए मुनि मौन-पूर्वक अज्ञात-अनुज्ञात अर्थात् परिचित-अपरिचित, निम्न, उच्च तथा मध्यम कुलों की पंक्ति में निकलते हैं। तथा भिक्षा ग्रहण करते हैं।[162] वसुनन्दि के अनुसार वहाँ निम्न (नीच) उच्च और मध्यम कुलों का अर्थ दरिद्र, धनी, एवं मध्यम गृहस्थों के घरों की पंक्ति में समान रूप से भिक्षार्थ भ्रमण करना किया है।[163]

णिच्चुच्चमज्झिम कुलेसु - वट्टकेर के इसी कथन के समान भाव के रूप में भगवतीआराधना की विजयोदया टीका में "ज्येष्ठ-अल्प-मध्यमानि सममेवाटेत्" अर्थात् बडे-छोटे और मध्यम कुलों में एक समान भ्रमण करे-अर्थ किया है।[164] दशवैकालिक चूर्णि में सम्बन्धियों के समवाय या घर को कुल कहा गया है।[165] प्रासाद, हवेली, आदि विशालभवन द्रव्य से उच्चकुल तथा जाति, धन विद्या आदि समृद्ध जनों के भवन भाव से उच्चकुल कहलाते हैं। इसी तरह तृण, कुटी, झोंपडी आदि द्रव्य से निम्न या कवच (निम्न) कुल कहलाते हैं।[166]

वस्तुतः आहारार्थ प्रवेश के विषय में भोज्य-अभोज्य घरों का विशेष ध्यान रखा गया है। क्योंकि अभोज्य घर में प्रवेश को आहार का एक अन्तराय माना गया है।[167] अभोज्य घर से तात्पर्य हिंसाजीवी, पतित, व्रत विहीन, संस्कार विहीन तथा निंदित घर आदि समझना चाहिए।

विजयोदया में दरिद्रकुलों में और आचारहीन सम्पन्न कुलों में प्रवेश का निषेध किया है।[168] कारण कि, दरिद्र कुल में उस घर के व्यक्तियों को स्वयं अपने उदरपूर्ति की समस्या रहती है, तब वे मुनि को नवधा- भक्ति से आहार कराने में कैसे समर्थ होंगे ? इसी प्रकार जिस घर में नाचना गाना होता हो, झांडियाँ लगी हों, एवं शराबी, वेश्या, लोक में निन्दित कुल यज्ञशाला, दानशाला, विवाहवाला घर तथा जिन गृहों में जाने की मनाई हो, और द्वारपालादिक हो, आगे रक्षक खडा हो एवं सब कोई न जा सकता हो ऐसे जगहों में न जाए। इसी प्रकार जो स्त्री बालक को दूध पिलाती हो या गर्भिणी हो, रोगी, अतिवृद्ध, बालक, पागल, पिशाच, मूढ, अन्धा, गूंगा, दुर्बल, डरपोक, शंकालु अतिनिकटवर्ती, दूरवर्ती मनुष्य के द्वारा जिसने लज्जा से अपना मुख फेर लिया हो, या मुख पर घूंघट डाला है ऐसी स्त्री के द्वारा, जिसका पैर जूते में रखा हो, या जो ऊंचे स्थान पर खडा हो, ऐसे व्यक्तियों के द्वारा आहार ग्रहण न करे।[169]

आहार योग्य घर में भी एक साथ अनेक साधुओं के आहार की व्यवस्था का स्वरूप बतलाते हुए आचार्य अमितगति अपने योगसार में कहते हैं कि -

पिण्डः पाणिगतोऽन्यस्मै दातुं योग्यो न युज्यते।
दीयते चेन्न भोक्तव्यं भुड्क्ते चेच्छेदभाग्यतिः ।। 8/64 ।।

अर्थात् देते समय गृहस्थ को चाहिए कि वह जिस मुनि को देने के लिए हाथ में आहार ले उसे उसी मुनि को दे अन्य मुनि को नहीं। यदि कदाचित् अन्य को भी दे दिया तो मुनि को खाना न चाहिए क्योंकि यदि मुनि उसे खा लेगा तो वह छेद प्रायश्चित का भागी गिना जायेगा।

इस सम्बन्ध में आचार्य रविषेण पद्मपुराण में कहते है कि "भिक्षां परगृहे लब्धां

निर्दोषां मौनमास्थितः (4/96) अर्थात् साधु भिक्षा के लिए दूसरे के घर पर ही (श्रावकों के) जाकर निर्दोष आहार को मौनपूर्वक ग्रहण करे।

श्वेताम्बर परम्परा में यद्यपि निन्दित कुल, अप्रीतिकर कुल तथा गृह स्वामी द्वारा निषिद्ध घर में भिक्षार्थ प्रवेश का निषेध है।[170] जुगुप्सनीय कुल से भिक्षा ग्रहण करने वाले को प्रायश्चित्त का भागी माना है।[171] जैसे, राजा अन्तःपुर और आरक्षिकों आदि के उस स्थान का मुनि दूर से ही वर्जन करे, जहाँ जाने से उन्हें संक्लेश उत्पन्न हो।[172]

आहार शुद्धि

जैन श्रमण की निर्दोष आहार विधि निर्दोष श्रामण्य की शोभा है। उसके व्रत, शील, गुण आदि श्रमणधर्म के सभी आधारभूत गुणों की प्रतिष्ठा भिक्षाचर्या की विशुद्धता पर ही निर्भर है।[173] जो वचन शुद्धि एवं मनशुद्धि पूर्वक भिक्षाचर्या करता है उसे जिनशासन में सुस्थित साधु कहा है।[174] ऐसे साधु दूसरे के घर में, नवकोटि आदि से विशुद्ध आहार, अपने पाणिपात्र में, श्रावक आदि दूसरे के द्वारा दिया हुआ ग्रहण करते हैं।[175]

नवकोटि अर्थात् मन-वचन-काय तथा कृत-कारित-अनुमोदना से परिशुद्ध आहार।[176] श्वेताम्बरों के स्थानांग सूत्र में नव कोटियों का उल्लेख इस प्रकार दिया है। आहार के लिए श्रमण स्वयं जीव वध न करे, न दूसरों से करवाए न करने वाले की अनुमोदना ही करे। न मोल ले, न लिवाए, और न ही लेने वालों की अनुमोदना ही करे, एवं भोजन न पकाए न पकवाए और न ही पकाने वालों की अनुमोदना ही करे।[177]

जैन श्रमण की भिक्षा शुद्धि के सन्दर्भ में दिगम्बर एवं श्वेताम्बर आम्नायों में भी कहीं-कहीं तो काफी समानता है। परन्तु कहीं-कहीं श्वेताम्बरीय आगमों एवं श्वेताम्बर आचार्यों में श्रमण की भिक्षा पर पर्याप्त शिथिलता एवं भ्रष्टता परिलक्षित होती है। **यहाँ दोनों सम्प्रदायों की आहार शुद्धि पर क्रमशः विचार करते हैं।**

दिगम्बर आम्नाय में आहार की शुद्धता के सम्बन्ध में कहा कि "विशुद्ध आहार, शंकित, मृक्षित आदि दस दोषों से रहित नख, रोम, जन्तु अर्थात् प्राणरहित शरीर, हड्डी, कण अर्थात् जौ आदि का बाह्य अवयव, शाल्य आदि के आभ्यन्तर भाग का सूक्ष्म अवयव, पीव, चर्म, रुधिर, माँस, बीज, फल, कंद और मूल चौदहों मलों से रहित होना चाहिए।[178] आहार ग्रहण के समय इनके निकल आने पर तत्काल सर्व आहार के त्यागपूर्वक प्रायश्चित्त किया जाता है।[179] तथा रुधिर पीव एवं कहीं पर भी माँस दिख भी जाए तो आहार छोडना होता है। आचार्य वट्टकेर ने बतलाया कि मुनि के ज्ञान, संयम, और ध्यान की सिद्धि तथा यात्रा साधन मात्र के लिए नवकोटि से शुद्ध भोजन, जो कि 46 दोषों से रहित, संयोजना से हीन, अंगार और धूम दोष से रहित छह कारणों से सहित,

क्रम से विशुद्ध और प्रमाण सहित विधि पूर्वक दिया जाता है।[180] प्रमाण का अभिप्राय यहाँ पर भोजन के प्रमाण से है। दिगम्बर परम्परा में श्रमण का अधिकतम आहार का प्रमाण 32 ग्रास माना गया है। जो कि श्वेताम्बर परम्परा में भी मान्य है। देखें :-

"कुक्कुडि अंडयमेत्ता कवला बत्तीस भोयण प्रमाणे।
राएणा सायंतो संगारं करई स चरित्तं[181] ।।

अर्थात् कुकडी पक्षी (मुर्गी) के अण्डे के बराबर प्रमाण वाले 32 ग्रास (कौर) श्रमण के भोजन का प्रमाण है। प्रमाण से अधिक भोजन करने से प्रचुर ईंधन वाले वन में उत्पन्न हुयी दावाग्नि की तरह इन्द्रियाँ शान्त नहीं होती हैं।[182] और यदि इससे कम भोजन करे तो गुण होता है।

दोनों मुख्य सम्प्रदायों के मूलगुणों में "एक भक्त" अर्थात् एक बार भोजन करने का विधान है। दिगम्बर आम्नाय में अद्यावधि अखंड रूप से प्रत्येक स्थिति में इसे स्वीकृत किये रखा है। परन्तु श्वेताम्बर आम्नाय इस गुण को नहीं निभा सकी, तभी तो श्वेताम्बर के अति आदरणीय ग्रन्थ कल्पसूत्र की टीका में इस प्रकार का शिथिल स्वरूप देखने को मिलता है कि "साधुओं ने हमेशा एक-एक बार आहार कर वो कल्पे पण आचार्य आदिक तथा वैयाबच्छ करनारने वे बार पण आहार लेवो कल्पे। अर्थात् एक बार भोजन-जो ते वैयावच्छ आदिक न करी शके तो ते वे बार पण आहार करे। केम के तपस्यां करतां पण वैयावच्छ उत्कृष्ण छे।"[183] अर्थात् साधुओं को सदा एक बार आहार करना योग्य है, किन्तु आचार्य आदिक तथा दूसरे किसी रोगी साधु की वैयावृत्य (सेवा) करने वाले को दो बार भी दिन में आहार करना योग्य है। तात्पर्य यह है कि एक बार भोजन करने से जो वैयावृत्य आदिक न कर सके तो वह दो बार आहार करे। कारण कि, तपस्या करने से भी बढ़कर वैयावृत्य है।

उपर्युक्त कथन पूर्वापर विरुद्ध है क्योंकि साधुओं को उनके छोटे अपराधों को प्रायश्चित्त देने वाले आचार्य स्वयं दो बार भोजन करें और अन्य मुनियों को एक बार ही भोजन मिले यह न्यायसंगत नहीं है। तथा किसी श्रमण की सेवा करने वाला साधु इस कारण एक बार भोजन करने के नियम को तोड़कर दिन में दो बार आहार करे कि तप करने से वैयावृत्य उत्कृष्ट है। इस तरह तो श्रमणों को तपस्या त्याग कर वैयावृत्य ही करना चाहिए, क्योंकि भोजन भी दो बार एवं फल भी तपस्या से दुगुना। इस तरह तो शिथिलाचार ही प्रोत्साहित होगा।

इसी सन्दर्भ में इसी ग्रन्थ में आगे लिखा है कि-

"वली ज्यां सुधी दाढी मुंछना वालों न आव्या होय अर्थात् बालक एवां साधु-साधवियों ने वे बार पण आहार कर वो कल्पे। तेयां दोष नथी। माटे एवीरीते आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, ग्लान अने बालक साधु ने वे बार पण आहार करवो कल्पे।"[184]

अर्थात् - जब तक दाढ़ी मूछों के बाल न आये हों, अर्थात् साधु- साध्वी को दो बार भी आहार करना योग्य है। उसमें दोष नहीं है। अतएव आचार्य, उपाध्याय, रोगी साधु और बालक साधु-साध्वी को दो बार भी आहार करना योग्य है। दो बार आहार ग्रहण विधान के अलावा श्वेताम्बर परम्परा आहार की शुद्धता को श्रमणोत्तम महावीर के साथ भी नहीं निभा सकी। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार महावीर भी "कभी वासी अन्न मिल जाता तो खा लेते, और वह भी दो दिन, तीन दिन, चार दिन, पाँच दिन में एक बार। वे अपने आहार के लिए न स्वयं पाप करते न दूसरों से कराते, और न ही करने वालों की अनुमोदना ही करते।[185]

यहाँ पर महावीर ने "बासी" भोजन सम्बन्धी उल्लेख से स्पष्ट है कि, श्वेताम्बर समुदाय ने आहार चर्या में भी पर्याप्त सुविधायें प्रदान करने की कोशिश की; जिससे इस सम्प्रदाय में शिथिलाचार को प्रोत्साहन मिला। "बासी" भोजन "चलित" अर्थात् अभक्ष्य होने से श्रमण के लिए सर्वथा त्याज्य है। श्वेताम्बर परम्परा में इस प्रकार के पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं एवं इनके मान्य आगम ग्रन्थों में भी आहार की अशुद्धता के पर्याप्त उद्धरण प्राप्त हैं। श्वेताम्बर श्रमण की आहारगत शिथिलता का प्रधान कारण उनके द्वारा कथित महावीर के भी मांसाहार का भक्षण है यह एक अकाट्य नियम है कि जिसका आदर्श ही पथ- भ्रष्ट हो मांस भक्षी हो, चाहे वह किन्हीं भी परिस्थितियों में किया गया हो, तो उसके अनुयायियों द्वारा इस प्रकार की प्रवृत्ति न होना एक असम्भव आश्चर्य ही होगा। श्वेताम्बर आगमों ने ही जब महावीर को परिस्थिति वश मांसाहारी बतलाया तो आगमों में किसी न किसी प्रकार से माँसाहार का विवेचन भी हुआ एवं उनके परवर्ती टीकाकारों, व्याख्याकारों ने उनका समर्थन ही किया। वर्तमान कालिक कुछ विद्वान उनका वनस्पतिपरक अर्थ करें या अन्य रूप से उन कथनों का प्रतिवाद करें, लेकिन उस सम्प्रदाय की पूर्व की उन मान्यताओं को तो किसी भी प्रकार से आवृत नहीं किया जा सकता है।

दिगम्बर सम्प्रदाय में महावीर को सर्वथा मांस - मधु आदि से दूर कहा। इसी कारण से दिगम्बरों द्वारा मान्य किसी भी ग्रन्थ में किसी भी प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से मांसाहार स्थान न प्राप्त कर सका।

इस प्रसंग में श्वेताम्बरों के मान्य आगमों के परिप्रेक्ष्य में एवं विभिन्न विद्वानों, टीकाकारों के द्वारा-मांसाहार सम्बन्धी-पक्ष-विपक्षों पर अनुशीलन योग्य है।

कल्पसूत्र संस्कृत टीका पृ. 177 में-

"यद्यपि मधुमद्यमांसवर्जनंयावज्जीवं अस्त्येव तथा अत्यन्तापवादः दशायां बाह्यपरिभोगाद्यर्थं कदाचिद् ग्रहणेऽपि चतुर्मास्यां सर्वथा निषेधः" इसकी गुजराती टीका[186] जिसका अनुवाद है-मधु (शहद) मांस और मक्खन जो कि साधुओं को आजन्म त्याग करने योग्य है, फिर भी अत्यन्त अपवाद की दशा में शरीर के बाहरी उपयोग के लिए किसी समय ग्रहण करना हो तो करे वरना चातुर्मास में तो उनका निषेध ही है।

आचारांग सूत्र में[187]

संति-तत्थेगतियस्स भिक्खुस्स पुरे संथुया वा पच्छा संथुया वा परिवसंति,
तेलं वा महुं वा, मज्जं वा मांस वा पिंडवायं पडिगाहेत्ता आहारं आहेरेज्जा।

इसकी गुजराती टीका निम्नतः है-

"कोई गाममां मुनिना पूर्व परिचित तथा पश्चात्परिचित सगाववाला रहेताहोय, जेवा के गृहस्थो, गृहस्थ बानुओ, गृहस्थ पुत्रो, गृहस्थ पुत्रिओ, गृहस्थ पुत्रबधुओ, दाइओ, दास, दासीओ, अने चाकरो के चाकरडीओ, तेवा गाममां जतां जो ते मुनि एवो विचार करे कि हुँ एक बार वधथी पहेला मारा सगाओमां भिक्षार्थे जइश, अने त्यां मने, अन्न, पान, दूध, दहि, माखण, घी, तेल, मधु, मद्य, मांस, तिलपापडी, गोल कुलंपाणी, बुंदी के श्रीखंड मलशे। ते हूं सर्वश्री पहेला खाई पात्रो साफ करी पछी बीजा मुनिआ साथे गृहस्थना घरे भिक्षा लेवा जइश, तो ते मुनि दोषपात्र थाय छे माटे मुनिए एम नहिं करवूं, किंतु बीजा मुनिओ साथे बखतसर जुदा जुदा कुलोमां भिक्षा निमित्ते जई करी भागमां मले लो निर्दूषण आहार लई वापरवो।

ऊपर के उद्धरण का भाव है कि मुनि किसी गाँव में जिसमें उसके किसी सम्बन्धी आदि का घर हो, जाते समय यदि ऐसा विचार करे कि मैं इस बार सबसे पहले अपने सगे सम्बन्धियों में भिक्षा के लिए जाऊँगा, और वहाँ मुझे अन्नपान, दूध दही, मक्खन, घी, गुण, तेल, मधु, मद्य, माँस आदि मिलेगा उसे मैं सबसे पहले खाकर अपने पात्र साफ करके पश्चात् फिर अन्य मुनियों के साथ गृहस्थ के घर भिक्षा लेने जाऊँगा, यदि ऐसा वह मुनि करता है तो वह दोषी है। इसलिए मुनियों को ऐसा नहीं करना चाहिए।किन्तु और मुनियों के साथ समय पर अलग-अलग कुलों में भिक्षा के लिए जाकर मिला हुआ निर्दूषण आहार लेना चाहिए।"

यहाँ पर निर्दूषण शब्द मूलसूत्र में नहीं है अपितु गुजराती टीकाकार का है। एवं टीकाकार ने कहीं मधु, मांस, मदिरा आदि अभक्ष्य, निंद्यपदार्थों के खाने का निषेध भी नहीं किया है। इसके अतिरिक्त इसी ग्रन्थ के 175 पृष्ठपर मधुमांस के सम्बन्ध में यह भी लिखा है कि "बखते कोई अतिप्रमादादि गृद्ध होवाथी मद्यमांस पण खाना चाहे माटे ते लीधा

छे एम टीकाकार (संस्कृत टीकाकार शीलाचार्य) लखे छे।"

अर्थात् किसी समय कोई साधु अति प्रभावी और लोलुपी होकर मद्य, मांस भी खाना चाहे उसके लिए यह उल्लेख है।

इसी प्रकार इसी संस्करण में :-

"से भिक्खुवा आव समाणे सेज्जं पुव्वं जाठोज्जा मंसं वा मच्छं वा मज्जिज्जमाणं पहए तेल्लपूययं वा आएसाए उलक्खडिज्जमाणं पेहाएणो खंद खंदणो उवसंकमित्तु ओमासेज्जा। णन्नत्थ गिला णणीसाए।[188] इसकी इस संस्करणं में गुजराती टीका, मुनिए मांस के मत्स्य मुंजाता जोई अथवा परोणाना माटे पूरोओ तेलमां तलाती जादू तेना सारू गृहस्थ पाले उतावला दौडी ते चीजों मांगती नहीं। अगर मांगगी मागवनार मुनिना सारूं खपती होय तो जुदी बात छे।"

अर्थात् मुनि किसी मनुष्य को मांस या मछली खाता हुआ देखकर या मेहमान के लिए तेल में तलती हुयी पूडियाँ देखकर उनको लेने के लिए जल्दी-जल्दी दौडकर उन चीजों को भोगे नहीं। यदि किसी रोगी मुनि के लिए उन चीजों की आवश्यकता हो तो अन्य बात है।

परन्तु परवर्ती अन्य प्रकाशकों के सम्पादकों ने इस प्रकरण में अपनी तरफ से शब्द संयोजन कर अर्थ किया है। यहीं पर आगम प्रकाशन समिति व्याबर संस्करण सन् 1980 की प्रति में निम्नतः अर्थ है।

"गृहस्थ के घर में साधु या साध्वी के प्रवेश करने पर उसे यह ज्ञात हो जाए कि वहाँ अपने किसी अतिथि के लिए मांस या मत्स्य भूना जा रहा है, तथा तेल के पुए बनाये जा रहे हैं, इसे देखकर वह अतिशीघ्रता से पास में जाकर याचना न करे। रुग्ण साधु के लिए अत्यावश्यक हो तो किसी पथ्यानुकूल सात्विक आहार की याचना कर सकता है।"

यहाँ पर "पथ्यानुकूल सात्विक आहार" में सात्विक शब्द जोडा गया है, क्योंकि मूल ग्रन्थ में कथित आहारों में असात्विक आहार भी है। उनको भी ग्रहण का कथन है परन्तु इन सम्पादक ने उसको छिपाने का प्रयास किया है। प्रसिद्ध वर्त्तमान श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विद्वान श्री दलसुख भाई मालवणिया ने भी अप्रत्यक्ष रूप में ऐसे आहार को भी स्वीकृत किया है-"जैन भिक्षु के लिए यह सामान्य नियम है कि अशन, पान, खादिम एवं स्वादिम छोटे-बडे जीवों से युक्त हो, काई व्याप्त हो, गेहूँ आदि के दानों से सहित हो, हरी वनस्पति आदि से मिश्रित हो, ठंडे पानी से भिगोया हुआ हो, जीव युक्त हो, रजवाला हो, उसे भिक्षु स्वीकार न करें। कदाचित् असावधानी से ऐसा भोजन आ भी जाए तो उसमें से जीव जंतु आदि निकालकर विवेक पूर्वक उसका उपयोग करें।[189]

यहाँ पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय में श्रमणों के भोजन में कारणवश आ पडे जीव जंतु को हटाकर उस ही भोजन को स्वीकृत कर लिया है परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय में ऐसी दशा श्रमण के लिए अन्तराय होती है, और वे भोजन को त्याग कर प्रायश्चित्त लेते हैं जैसा कि पूर्व में कहा था।

आचारांग सूत्र में 10 वें अध्याय के 10 वें उद्देश्य में "से भिक्खू वा सेज्जं पुण जाणेज्जा, बहुअडिठ्यं मंसंवा मच्छवा, बहुकटंग-------इत्यादि का प्राचीन आचार्यों विद्वानों ने तो माँसपरक अर्थ किया है, परन्तु अभी कुछ वर्षों से व्याख्याकार वनस्पति-परक अर्थ करने लगे हैं। इसी प्रकार दशवैकालिक में

बहु अट्ठियं पुग्गलं अणिमिसं व बहुकंटयं।
अच्छियं तिदुयं बिल्लं उच्छुखंडचसिंवति।

इन गाथाओं में पूर्ववत् ही स्थिति है।

श्वेताम्बर सम्मत इन आगमों के व्याख्याकारों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे वेदों में भगवान ऋषभ से सम्बन्धित प्रशंसात्मक लेख देखकर पश्चात्वर्ती विद्वानों ने तो उन लेखों को ही उडा दिया, या उनका अर्थ वे अपने ही शंकर आदि भगवानों में समायोजित करने लगे। टोडरमल के मोक्षमार्ग प्रकाशक में जो वेद सम्बन्धी उद्धरण दिये हैं, वे वर्तमान कालीन संस्करणों में देखने को नहीं मिलते हैं। इसी प्रकार श्वेताम्बरीय आगमों में पूर्व के सभी मध्य आचार्य उन माँस परक शब्दों का अर्थ माँस परक ही करते रहे लेकिन जब अभी बीसवीं सदी में काफी पढ़ा जाने एवं जन-सामान्य के हाथों में भी जाने लगा तब इस तर्क प्रधान युग में उन आगमों को प्रसारित करने के उद्देश्य से उनका अर्थ बदलकर कुछ अपने शब्द संयोजित कर आगम प्रकाशित किये जाने लगे। इन श्वे. आगमों के पूर्वापर संस्करणों पर एक व्यापक अनुशीलन की महती आवश्यकता है। अस्तु।

यापनीय सम्प्रदाय के आचार्य अपराजित सूरि ने सर्वथा त्याज्य दूषित आहार के विषय में कहा है कि, माँस, मधु, मक्खन, बिना कटा फल, मूल, पत्र, अंकुल, कन्द तथा इन सबसे छुआ हुआ भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिए। इस गन्ध से विकृत दुर्गन्धित, पुष्पित, पुराना, जीव-जन्तु युक्त भोजन न तो किसी को देना चाहिए, न स्वयं खाना चाहिए और न ही छूना चाहिए। टूटे या फूटे हुए करछुए आदि से दिया हुआ आहार ग्रहण न करें। कपाल, जूठे, पात्र, कमल तथा केले आदि के पत्तों में रखा हुआ आहार भी ग्रहण न करें।[190] इस प्रकार श्रमण सभी दोषों से रहित विशुद्ध आहार ग्रहण करें।

जल ग्रहण के विषय में उष्ण एवं प्रासुक जल का प्रयोग श्रमण के लिए विहित है। दशवैकालिक में "तत्तफासुय" (तप्त प्रासुक) तप्त अर्थात् पर्याप्त मात्रा में उबला होने पर जो प्रासुक हो वैसे उष्णादिक के प्रयोग का विधान मिलता है। तथा अन्तरिक्ष में और जलाशय, ओले, बरसात के जल और हिम से सेवन का निषेध किया गया है।[191] मूलाचार में भी सचित्त जल के अनेक प्रकारों का उल्लेख है।[192] उत्तराध्ययन में कहा है कि- अनाचार से घृणा करने वाला लज्जावान् संयमी प्यास से पीडित होने पर सचित्त जल का सेवन न करे किन्तु प्रासुक पानी की गवेषणा करे। निर्जन मार्ग से जाता हुआ मुनि तीव्र प्यास से व्याकुल हो जाए तथा मुंह सूखने लगे तो भी दीनता रहित होकर कष्ट सहन करे।[193] इस तरह श्रमण को प्रासुक जल के प्रयोग का विवेक आवश्यकीय कर्तव्य है।

आहार की शुद्धता का सम्बन्ध एषणा समिति से है। अतः आहार के अन्वेषण, ग्रहण और उपभोग में संयम धर्म पूर्वक सावधानी आवश्यक है।

एषणा तीन तरह की होती है-

गवेषणा - अर्थात् सोलह उद्गम और सोलह उत्पादन दोषों के शोधन पूर्वक शुद्ध आहार की शोध करना।

ग्रहणेषणा - एषणा के शंकित आदि दस दोषों के शोधनपूर्वक आहार लेना।

परिभोगेषण - (ग्रासेषणा) संयोजना, प्रमाणातिक्रान्त, अंगार, तथा धूम- इन चार दोषों को टालकर भोजन करना चाहिए।[194]

आचार्य वट्टकेर ने स्पष्ट कहा है कि जिस द्रव्य से जीव निकल गये हों वह प्रासुक है। किन्तु यदि वह द्रव्य श्रमण के लिए बनाया गया हो तो वह शुद्ध होते हुए भी अशुद्ध है। कारण, कि जैसे मछलियों के लिए जल में मादक वस्तु डालने पर उससे मछलियाँ ही विह्वल होती हैं, मेंढक नहीं; इसी प्रकार दूसरे के लिए बनाये गये भोजन आदि में से ग्रहण करते हुए भी मुनि विशुद्ध रहते हैं। अर्थात् मुनि अधःकर्म आदि दोष से दूषित नहीं होते।[195] किन्तु जिनकी प्रवृत्ति शुद्ध आहार के अन्वेषण की ओर है, उनको यदि कदाचित् अशुद्ध अधःकर्म युक्त आहार ग्रहण हो जाता है तो वह आहार भी उनके लिए शुद्ध है।[196] किन्तु जिन साधुओं की प्रवृत्ति अधःकर्म की ओर है, वे यदि प्रासुक द्रव्य के ग्रहण में अशुद्ध भाव करते हैं, तो वे कर्मबन्ध के भागी हैं। खडे होकर मौनपूर्वक वीरासन से तप, ध्यान आदि करने वाला श्रमण भी यदि अधःकर्मयुक्त आहार में प्रवृत्त होता है तो उसके सभी योग, वन, शून्यघर, पर्वत की गुफा, तथा वृक्षमूल-इनमें निवास आदि सब व्यर्थ है।[197] तथा यदि सिंह व्याघ्रादि, एक, दो, या तीन मृगों को खाने पर "नीच" कहलाते हैं

तो अधःकर्मयुक्त आहार में जीवराशि खाने वाले श्रमण भी नीच क्यों नहीं कहलायेंगे ?[198]

आहार में सभी दोषों से ज्यादा दोष अधःकर्म का होता है। जो महादोष कहलाता है। इसमें कूटना, पीसना, रसोई करना, पानी भरना, एवं झाड़ू लगाना है, ऐसे पंचसूना नाम के आरम्भ से षट्कायिक जीवों की विराधना होने से यह दोष गृहस्थाश्रित है।[199] परन्तु इन दोनों में यदि साधु लग जाता है तो वह भी मूलस्थान (गृहस्थादशा) को प्राप्त होता है। यह दोष 46 दोषों से अतिरिक्त महादोष मूलाचार में कहा है।

गवेषणा में उद्गम और उत्पादन के 16 दोष निम्न हैं-

उद्गम के 16 भेद निम्नतः हैं-

1. **औद्देशिक** - साधु, पाखंडी आदि के निमित्त से बना हुआ आहार ग्रहण करना उद्देश्य है।
2. **अध्यधि** - आहारार्थ साधुओं को आते देखकर पकते हुए चावल आदि में और अधिक चावलादि मिलाना।
3. **पूतिकर्मदोष** - प्रासुक तथा अप्रासुक को मिश्र कर देना।
4. **मिश्रदोष** - असंयतों के साथ साधु का आहार देना।
5. **स्थापित** - अपने घर में या अन्यत्र कहीं स्थापित किया हुआ भोजन देना।
6. **बलिदोष** - यक्ष देवता आदि के लिए बने हुए में से अवशिष्ट को देना।
7. **प्रावर्तित** - काल की वृद्धि या हानि करके आहार देना।
8. **प्राविष्करण** - आहारार्थ साधु के आने पर खिड़की आदि खोलना या बर्तन आदि साफ करना।
9. **क्रीतितर** - उसी समय वस्तु खरीद कर लाना।
10. **प्रामृष्य** - ऋण लेकर आहार लाकर देना।
11. **परिवर्त** - धान, घी, आदि देकर बदले में अन्य धान्य आदि लेकर आहार बनाना।
12. **अभिघट** - पंक्तिबद्ध सात घर से अतिरिक्त अन्य स्थान से अन्नादि लाकर मुनि को देना।
13. **उद्भिन्न** - बर्तन के ढक्कन आदि को खोलकर अर्थात् सील, मुहर, चपड़ी आदि हटाकर वस्तु निकाल कर देना।
14. **मालारोहण** - सीढ़ी, नसेनी से चढ़कर वस्तु लाकर देना। यह वसतिका का दोष भी है, जहाँ सीढी चढकर जाने वाली दूसरी-तीसरी मंजिल पर रहने का निषेध किया गया है।[200]
15. **अछेद्य** - राजा, समाज आदि के भय से आहार देना।
16. **अनीशार्थ** - अप्रधान दातारों से दिया हुआ, आहार लेना।

उपर्युक्त 16 भोजन के उद्गम के दोष श्रावक के आश्रित होते हैं, पर यदि श्रमण को ज्ञात होने पर वे इस प्रकार का आहार नहीं लेते हैं।[201] इनके बहुत से दोष तो अनुमानाश्रित है एवं कुछ अवधिज्ञानी ही जान सकते हैं। परन्तु ज्ञात होने पर आहार ग्रहण नहीं करेंगे।

उत्पादन के 16 भेद

1. **धात्री दोष** - धाय के समान बालकों को भूषित करना, खिलाना, पिलाना, आदि करना जिससे दातार प्रसन्न होकर अच्छा आहार देवें, यह मुनि का धात्री दोष है।
2. **दूतदोष** - दूत के समान किसी का समाचार अन्य ग्रामादि में पहुँचा कर आहार लेना।
3. **निमित्त दोष** - स्वर, व्यंजन, आदि निमित्त ज्ञान से श्रावकों को हानि लाभ बताकर खुश करके आहार लेना
4. **आजीवका दोष**-अपनी जाति कुल या कला योग्यता, ईश्वरता आदि बताकर दातार को अपनी तरफ आकर्षित कर आहार लेना आजीवक दोष है।
5. **वनीपक दोष** -कुत्ता, कृपण, अतिथि, ब्राह्मण, पाखण्डी, श्रमण (आजीवक) और कौवा इनको दान आदि करने से पुण्य है या नहीं-ऐसा पूँछने पर पुण्य है ऐसा बोलना वनोपक वचन है।
6. **चिकित्सा दोष** - औषधि आदि बतलाकर दातार को खुश करके आहार लेना।
7. **क्रोध दोष** - क्रोध करके आहार उत्पादन कराकर ग्रहण करना।
8. **मान दोष** - मान करके आहार उत्पादन करा कर लेना।
9. **माया दोष** - कुटिल भाव से आहार उत्पादन करा कर लेना।
10. **लोभ दोष** - लोभाकांक्षा दिखाकर आहार कराकर लेना।
11. **पूर्व संस्तुति दोष** - प्रथम दातार की प्रशंसा करके आहार उत्पादन करा कर लेना।
12. **पश्चात् स्तुति दोष** - आहार के बाद दातार की प्रशंसा करना।
13. **विद्या दोष** - दातार को विद्या का प्रलोभन देकर आहार लेना।
14. **मंत्र दोष** - मंत्र का माहात्म्य बताकर आहार ग्रहण करना।
15. **चूर्ण दोष** - नेत्रों के लिए अंजन चूर्ण और शरीर को भूषित करने वाले भष्म ये चूर्ण है। इन चूर्णों से आहार उत्पन्न कराना, अतः यह चूर्ण दोष है। है।
16. **मूलकर्म दोष** -अवशों का वशीकरण करना और नियुक्त हुए जनों का संयोग कराना यह मूलकर्म कहा गया है।[202]

उद्गम और उत्पादन के सोलह-सोलह के भेद से बत्तीस दोषों में गृहस्थाश्रित 16 दोषों में आहार के उद्गम/औद्देशिक आदि दोष विशेष ध्यान देने योग्य है। वस्तुतः ये दोष होते तो हैं श्रमण के, परन्तु वे दोष गृहस्थ के आश्रित होते हैं। जैन साधु उद्दिष्ट भोजन के त्यागी अर्थात् अनुदिष्ट भोजी होते हैं। वे अपने लिए बनाये गये भोजन के मन वचन काय एवं कृत कारित अनुमोदना में नवकोटि से त्यागी होते हैं। इस उद्दिष्ट भोजन का त्याग दिगम्बर श्वेताम्बर मान्यताओं में लगभग समान रूप से पाया जाता है।[203] परन्तु फिर भी वर्तमान काल के उभय सम्प्रदाय में अधिकांश उद्दिष्ट भोजी ही हैं, यहाँ तक कि दिगम्बर सम्प्रदाय में बहुत से प्रसिद्ध संघ अपने साथ स्वतंत्र भोजन व्यवस्था लेकर भी चलते हैं जिनमें स्थित कुछ नौकर तथा महिलाएं ही उन साधुओं को इच्छानुसार आहार बनाती है, इस प्रकार साधु संघ में अत्यन्त अनाचार व्याप्त है।

जैन समाज का कोई भी वर्ग क्यों न हो चाहे समाज का आम वर्ग या विद्वत् वर्ग हो अथवा तथाकथित जैन श्रमण स्वयं भी क्यों न हो "सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से यह नहीं कह सकता कि उद्दिष्ट आहार लिया जा सकता है, उद्दिष्ट स्थानों में रहा जा सकता है परन्तु शताधिक वर्षों से यह मानसिक परिवर्तन अवश्य हो गया है कि "अभी दुष्शम काल है, पांचमा आरा है कलिकाल है, इस समय साधु के कठोर नियमों को नहीं निभाया जा सकता है, इस धारणा ने साधु संघ को शिथिलता की ओर मोड दिया है।[204]

ग्रहणेषणा विषयक दोष -

एषणा अर्थात् अशन के दस दोष होते हैं जो कि क्रमशः निम्न हैं:-

1. **शंकित दोष** - अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य-ये चार प्रकार के आहार हैं। इनके विषय में, चित्त या आगम से ऐसा सन्देह कि यह योग्य है या अयोग्य ? ऐसा सन्देह रखते हुए फिर उसी आहार को ग्रहण करना शंकित दोष है।
2. **भ्रक्षित दोष** - चिकनाईयुक्त हाथ, बर्तन या कलछी-चम्मच से दिया गया भोजन भ्रक्षित दोषयुक्त है। इसमें सम्मूर्च्छन आदि सूक्ष्म जीवों की विराधना का दोष देखा जाता है।
3. **निक्षिप्तदोष** - सचित्त पृथ्वी, जल, अग्नि और वनस्पति तथा बीज और त्रस जीव - उनके ऊपर जो आहार रखा हुआ है वह छह भेद रूप निक्षिप्त होता है। तथा अंकुरित गेहूँ आदि धान्य जीवों की उत्पत्ति के योग्य स्थान है, योनिभूत है, इसलिये सचित्त है।
4. **पिहित दोष** - जो सचित्त वस्तु से ढका हुआ है अथवा जो अचित्त भारी वस्तु से ढका हुआ है उसे हटाकर जो भोजन देता है वह पिहित है।
5. **संव्यवहार दोष**- दान के निमित्त वस्त्र या बर्तन आदि को जल्दी से खींचकर बिना देखे जो भोजन आदि मुनि को दिया जाता है और यदि वे वह

भोजन पान आदि ग्रहण कर लेते हैं तो उनके लिए वह संव्यवहरण दोष होता है।

6. **दायक दोष** - धाय, मद्यपायी, रोगी, मृतक से सूतक सहित, नपुंसक, पिशाच, ग्रस्त, नग्न, मलमूत्र करके आये हुए, मूर्च्छित, वमन करके आये हुए, रूधिर सहित, वेश्या, श्रमणिका, तैलमालिश करने वाली, अतिवाला, अतिवृद्धा, खाती हुयी, गर्भिणी, अंधी, किसी के आड़ में खड़ी हुई, बैठी हुयी, ऊँचे पर खड़ी हुयी या नीचे स्थान पर खड़ी हुयी आहार देवे तो दायक दोष होता है एवं फूँकना, जलाना, सारणकरना, ढ़कना, बुझाना, तथा लकड़ी आदि को हटाना या पीटना इत्यादि अग्नि का कार्य करके, लीपना-धोना करके तथा दूध पीते हुए बालक को छोड़कर इत्यादि कार्य करके आकर यदि दान देते हैं तो दायक दोष होता है।
7. **उन्मिश्र दोष** - पृथ्वी, जल, हरितकाय, बीज और सजीव त्रस इन पाँचों से मिश्र हुआ आहार उन्मिश्र होता है।
8. **अपरिणत दोष** - तिलोदक, तण्डुलोदक, उष्णजल, चने का धोवन, तुष धोवन, विपरिणत नहीं हुए और भी जो वैसे हैं, परिणत नहीं हुए हैं, उन्हें ग्रहण नहीं करे।
9. **लिप्त दोष** - गेरू, हरिताल, सेलखडी, मनःशिखा (आमपिष्ट या चावल आदि का चूर्ण) गीला आटा कोंपन आदि सहित जल इनसे लिप्त हुए हाथ या बर्तन से आहार देना वह लिप्त दोष है।
10. **परित्यजन दोष** - बहुत सा गिराकर या गिरते हुए दिया गया भोजन ग्रहण कर और भोजन करते समय गिराकर जो आहार करना है वह व्यक्त दोष है।

उपर्युक्त दश अशन दोष कहे गये हैं, ये सावद्य को करने वाले हैं, इनसे जीव दया नहीं पलती है और लोक में निन्दा भी होती है। अतः ये त्याज्य हैं।

संयोजनादि दोष -

भोजन सम्बन्धी ग्रासैषणा के संयोजना, प्रमाण, अंगार, और धूम इन चार दोषों का स्वरूप प्रस्तुत है -

(1) **संयोजना दोष** - ठण्डा भोजन उष्ण जल से मिला देना, या ठण्डे जल आदि पदार्थ उष्ण भात आदि से मिला देना। अन्य भी परस्पर विरूद्ध वस्तुओं को मिला देना संयोजना दोष है।

(2) **प्रमाण दोष** - व्यंजन आदि भोजन से उदर के दो भाग पूर्ण करना और जल से उदर का तीसरा भाग पूर्ण करना तथा उदर का चतुर्थ भाग खाली रखना वह

प्रमाणभूत आहार कहलाता है। इससे भिन्न जो अधिक आहार ग्रहण करते हैं, उनके प्रमाण या अतिमात्र नाम का आहार दोष होता है। प्रमाण से अधिक आहार लेने पर स्वाध्याय नहीं होता है, षट् आवश्यक क्रियाएं करना भी शक्य नहीं रहता है। ज्वर आदि रोग भी उत्पन्न होकर संतापित करते हैं तथा निद्रा और आलस्य आदि दोष भी होते हैं। अतः प्रमाणभूत आहार लेना चाहिए।

(3) **अंगार दोष** - गृद्धता युक्त आहार लेना अंगार दोष है। अर्थात् जो अत्यन्त आसक्ति पूर्वक आहार ग्रहण करता है, उसके अंगार नामक दोष उत्पन्न होता है।

(4) **धूम दोष** - बहुत निन्दा, क्रोध और द्वेष करते हुए आहार लेना धूम दोष है। अर्थात् यह भोजन विरूपक है, मेरे लिए अनिष्ट है-ऐसी निन्दा करके भोजन करना धूम दोष है, क्योंकि इसके कारण अन्तरंग में क्लेश देखा जाता है।

आहार के अन्तराय

अन्तराय नाम विघ्न का है। साधुओं की आहार चर्या में भी कदाचित् बाल या चींटी आदि पड़ जाने के कारण जो बाधा आती है उसे आहार अन्तराय कहते हैं। साधु के आहार के अन्तराय के निम्न रूप मिलते हैं। जिनका विवेचन निम्न प्रकार से है:-

(1) **काक** - आहारार्थ गमन करते हुए या आहार लेते समय कौआ, वक आदि पक्षी बीट कर दे तो वह **काक अन्तराय** है।

(2) **अमेध्य** - आहार को जाते समय विष्ठा आदि अपवित्र मल पैर आदि में लग जाना।

(3) **छर्दि** - वमन हो जाना।

(4) **रुधिर** - अपने या अन्य शरीर से रक्तस्राव होता दिखना।

(5) **रोधन** - आहार जाते समय कोई रोक दे।

(6) **अश्रुपात** - दुःख, शोक से अपने या पर के आँसू गिरना।

(7) **जान्वधः परामर्श** - जंघा के नीचे भाग का स्पर्श हो जाना।

(8) **जानूपरि व्यतिक्रम** - घुटनों से ऊपर के अवयवों का स्पर्श हो जाना।

(9) **नाभ्यधो निर्गमन** - दाता के घर का दरवाजा छोटा होने पर नाभी से नीचे शिर करके आहारार्थ जाना।

(10) **प्रत्याख्यात सेवना** - जिस वस्तु का त्याग हो उसका भक्षण हो जाना।

(11) **जंतुवध** - कोई जीव सामने ही किसी जीव का वध कर दे।

(12) **काकादि पिण्डहरण** - आहार करते समय हाथ से कौआ आदि के द्वारा आहार का छिन जाना।

(13) **पाणि** - पिण्डपतन-पाणिपात्र से ग्रास मात्र भी गिर जाना।

(14) **पाणि जन्तुवध** - आहार करते समय किसी जन्तु का पणिपुट में स्वयं आकर मर जाना।

(15) **मांसादि दर्शन** - भोजन करते समय मांस, मद्य आदि दिख जाना।

(16) **उपसर्ग** - किसी प्रकार का उपसर्ग हो जाना।
(17) **पादान्तर जीव** - दोनों पैरों के मध्य से किसी पंचेन्द्रिय जीव का निकल जाना।
(18) **भाजनसंपात** - दाता के हाथ से कोई बर्तन गिर जाना।
(19) **उच्चार** - आहार करते समय मल विसर्जित हो जाना।
(20) **प्रस्रवण** - मूत्र विसर्जित होना।
(21) **अभोज्य गृहप्रवेश** - आहारार्थ भ्रमण के समय चाण्डालादि के घर में प्रवेश हो जावे तो यह अन्तराय है।
(22) **पतन** - आहार के समय मूर्च्छा आदि से साधु का गिर जाना पतन नामक अन्तराय है।
(23) **उपवेशन** - किसी कारण से भोजन करते-करते बैठ जाना।
(24) **सदंश** - कुत्ते, बिल्ली आदि के काटने पर।
(25) **भूमि संस्पर्श** - सिद्ध भक्ति कर लेने के बाद यदि हाथ से भूमि का स्पर्श हो जावे।
(26) **निष्ठीवन** - आहार करते समय कफ, थूंक आदि का निकलना।
(27) **उदर कृमि निर्गमन** - यदि उदर से कृमि (कीडे) निकल पडे।
(28) **अदत्त ग्रहण** - दाता के दिये बिना ही कोई वस्तु ग्रहण कर लेना।
(29) **प्रहार** - अपने ऊपर या अन्य किसी पर तलवार आदि का प्रहार हो जावे।
(30) **ग्रामदाह** - यदि ग्रामआदि में अग्नि लग जावे।
(31) **पादेन किंचित ग्रहण** - मुनि द्वारा भूमि पर पडी कोई वस्तु पैर से उठाकर ग्रहण कर लेना।
(32) **करेण किंचितग्रहण** - साधु के द्वारा अपने ही हाथ से गृहस्थ की किसी वस्तु का ग्रहण कर लेना।[205]

इन कारणों के अलावा भोजन के स्थान पर यदि कीड़ी आदि तुच्छ जीव-जन्तु चलते-फिरते अधिक नजर आयें, या ऐसा ही कोई निमित्त उपस्थित हो जाए तो संयमियों को हाथ धोकर वहाँ से दूसरी जगह के लिए आहारार्थ मौन पूर्वक चले जाना चाहिए।[206]

आहार की मात्रा व काल

श्रमण का प्रतिपल आदर्श एवं विवेक पूर्ण होता है। इसी कारण उनकी आहार की मात्रा भी परिमित होती है। वे स्वच्छन्दता पूर्वक आहार ग्रहण नहीं करते हैं। और जो "लिंगधारी पिण्ड अर्थात् आहार के लिए दौड़ते हैं, आहार के लिए कलह करके उसे खाते हैं, तथा उसके निमित्त परस्पर अन्य से ईर्ष्या करते हैं वह श्रमण जिनमार्गी नहीं है।[207] जैन श्रमण तो दातृ जनों को किसी भी प्रकार की बाधा पहुँचाये बिना कुशलता से भ्रमर की तरह आहार लेते हैं। अतः उनकी भिक्षा वृत्ति को भ्रामरीवृत्ति और आहार को भ्रमराहार कहा है।[208] पं. टोडरमल ने भ्रमराहार के विरुद्ध आहार लेने वालों को गृहस्थों की प्राण पीडा करने वाला कहा है।"ये आसक्त होकर दातार के प्राण पीडि आहारादिक ग्रहण करते

हैं - इत्यादि अनेक विपरीतता प्रत्यक्ष प्रतिभासै और अपने आप को मुनि मानते हैं ; मूलगुणादिक के धारक कहलाते हैं।[209] यहाँ पर पण्डित प्रवर टोडरमल भी सीमित सात्विक आहार के ही पक्ष में हैं।

अतः आहारदाता को भी यह विवेक अपेक्षित है कि शीत या उष्ण काल के अनुसार तथा मुनि की वात, पित्त या कफ प्रधान प्रकृति जानकर, परिश्रम, व्याधि, कायक्लेश तप और उपवास आदि देख-जानकर उन्हें उसके अनुसार आहार देना चाहिए।[210] कारण, आहार उदरस्थ होकर पाचनक्रिया शरीर में प्राण धारणादि शक्ति पैदा करता है, जिससे संयमपथ प्रबल होता है। परन्तु मुनि को अधिक आहार भी नहीं लेना चाहिए, उन्हें तो "उदर के चार भागों में से दो भाग तो व्यंजन सहित भोजन से भरे, तीसरा भाग जल से परिपूर्ण करे और चतुर्थ भाग पवन के विचरण के लिए रिक्त रखे।[211]

यह शरीर वैज्ञानिकों के अनुसार भी तर्कसंगत है। अतः वट्टकेर ने आहार की मात्रा बतलाते हुए कहा कि "साधारण पुरुष को अधिक से अधिक बत्तीस ग्रास प्रमाण आहार ग्रहण करना चाहिए।[212] यह स्वस्थ पुरुष का सामान्यतः परिमाण है, वैसे आ. कुन्दकुन्द तो कहते हैं कि श्रमण इतना भोजन करे कि जिससे उसका पेट न भरे।[213] श्वे. के औपपातिक सूत्र में "भक्तपान अवमौदर्य के प्रसंग में कहा कि - आठ ग्रास ग्रहण करने वाला अल्पाहारी, बारह ग्रास ग्रहण करने वाला अपार्द्ध अवमौदर्य, सोलह ग्रास वाला, अर्द्ध अवमौदर्य, चौबीस ग्रास वाला पौन अवमौदर्य, तथा इकत्तीस ग्रहण करने वाले को किंचित अवमौदर्य होता है।[214]

आचार्य वट्टकेर ने साधु के आहार ग्रहण करने के काल की मर्यादा बतलाते हुए कहा कि भोजन काल में तीन मुहुर्त लगाना वह जघन्य आचरण है, दो मुहुर्त लगाना वह मध्यम आचरण है और एक मुहुर्त लगाना वह उत्कृष्ट आचरण है।[215]

आहार ग्रहण विधि

श्रमण का आहार विषयक पर्याप्त विवेचन एषणा समिति, स्थित भोजन, व एक भक्त, में हो गया है, एवं उनको योग्य कुल, कालादि में संकल्पानुसार आहार की विधि संकल्पानुसार मिल जाती है, तब वे नवधा- भक्ति पूर्वक भक्त दाता के सात गुण सहित क्रिया से दिया गया आहार ग्रहण करते हैं।[216] नवधा भक्ति का स्वरूप बतलाते हुए कहा कि "मुनिराज का पडिगाहन करना, उन्हें उच्च स्थान पर विराजमान करना, उनके चरण धोना, उनकी पूजा करना, उन्हें नमस्कार करना, अपने मन, वचन, काय की शुद्धि और आहार की विशुद्धि करना, इस प्रकार दान देने वाले के यह नौ प्रकार का पुण्य अथवा भक्ति कहलाती है।[217] दाता के सात गुण बतलाते हुए अकलंक देव ने कहा कि *"पात्र में ईर्ष्या न होना, त्याग में विषाद न होना, देने की इच्छा करने वाले में तथा देने वालों में या*

जिसने दान दिया है उन सबमें प्रीति होना, कुशल अभिप्राय, प्रत्यक्ष फल की आकांक्षा न करना, निदान नहीं करना, किसी से विसंवाद नहीं करना आदि, दाता की विशेषताएं हैं।[218] और यह दान विधि दाता के द्वारा स्वयं की जाती है क्योंकि -

"धर्मेषु स्वामिसेवायां पुत्रोत्पत्तौ श्रुतोद्यमे।
भैषज्ये भोजने दाने च प्रतिहस्तं न कारयेत।।

अर्थात् धर्म और स्वामि सेवा, पुत्र की उत्पत्ति, विद्याभ्यास, औषधिपान, भोजन और दान आदि दूसरों के हाथ से नहीं कराये जाते। स्वामी के अभाव में दिया गया दान जैन श्रमण ग्रहण करते नहीं हैं। वर्तमान अधिकांश श्रमण संघों में श्रमण अपना सम्पूर्ण सामान जिसमें आहार पानी शयनादिक के लिए प्याल आदि की सामग्री लेकर चलते हैं। तथा श्रेष्ठिवर्ग द्वारा व्यवस्थापित नौकरों के द्वारा आहार बनता है और कभी-कभी वे भी आहार देते हैं। वस्तुतः यह शिथिलाचारी वेषी मात्र हैं, श्रमण नहीं हैं। आहार की इस प्रकार की विस्तार चर्चा "दिगम्बर जैन मुनिसंघ और सदोष आहार दान पर विचार" में ब्र. हीरालाल खुशालचन्द दोशी (फलटण) ने की है, यहाँ तो संकेत मात्र है।

श्रमण के लिए नवकोटि से ही शुद्ध आहार का विधान दिगम्बर परम्परा में मिलता है, परन्तु स्याद्वाद मंजरी (श्वे.) में पंचकोटि से शुद्ध आहार ग्रहण की बात आती है। वहाँ कहा है कि "जैन मुनियों के वास्ते सामान्य रूप से संयम की रक्षा के लिए नव कोटि विशुद्ध आहार ग्रहण करने की विधि बतायी गयी है। परन्तु यदि किसी कारण से कोई द्रव्य-क्षेत्र-काल भावजन्य आपदाओं से ग्रस्त हो जाए और उसे कोई मार्ग सूझ न पड़े, तो ऐसी दशा में वह पाँच कोटि से शुद्ध आहार का ग्रहण कर सकता है यह अपवाद नियम है। परन्तु जैसे सामान्य विधि संयम की रक्षा के लिए है, वैसे ही अपवाद भी संयम की रक्षा के लिए है।

अयोग्य आहार दाताओं का स्वरूप बतलाते हुए भगवती आराधनाकार ने कहा कि जो अपने बालक को स्तनपान करा रही है, और जो गर्भिणी है, ऐसी स्त्रियों का दिया हुआ आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए। अतिशय रोगी, वृद्ध, बालक, उन्मत्त, अन्धा, गूंगा, अशक्त, भययुक्त, शंकायुक्त, अतिशय नजदीक जो खड़ा हुआ है, जो दूर खड़ा हुआ है, ऐसे पुरुष से आहार नहीं लेना चाहिए। लज्जा से जिसने अपना मुंह फेर लिया है, जिसने जूता अथवा चप्पल पर पाँव रखा है, जो ऊंची जगह पर खड़ा है, ऐसे मनुष्य के द्वारा आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए। तथा खण्डयुक्त कड़छी के द्वारा दिया गया आहार भी नहीं लेना चाहिए।[219]

आहार लेते समय, दीवाल, स्तम्भादि आश्रय के बिना अपने पैरों में चार अंगुल का अन्तर रखकर तथा समपाद खड़े हो; पैर रखने, जूठन गिरने और दाता के खड़े होने पर तीन प्रकार की भूमि-शुद्धि पूर्वक अपने हाथों की अंजुलि पुट को ही पात्र बनाकर उसी में ही आहार ग्रहण करते हैं।[220] एवं उस पाणिपात्र में भूख से कम, यथालब्ध---रस निरपेक्ष तथा मधुमांसादि रहित ऐसा शुद्ध अल्प आहार दिन के समय केवल एक बार ग्रहण करते हैं।[221] और श्रावकों के ही घर में प्राप्त उस भिक्षा को मौन पूर्वक खड़े होकर लेते हैं।[222] मौन के सम्बन्ध में कहा है कि मौन स्वाभिमान की अयाचकत्वरूप व्रत की रक्षा होने पर तथा भोजन विषयक लोलुपता के निरोध से तप को बढ़ाता है, और श्रुतज्ञान के विनय के सम्बन्ध में पुण्य को बढ़ाता है।[223] मौनी स्वाभिमानी श्रमण "खाने योग्य पदार्थ की प्राप्ति के लिए अथवा भोजन विषयक इच्छा को प्रगट करने के लिए हुंकारना और ललकारना आदि इशारों को तथा भोजन के पीछे संक्लेश को छोड़ता हुआ, संयम को बढ़ाता हुआ भोजन करता है।[224]

दिगम्बर परम्परा में श्रमण को पाणिपात्री कहा है, परन्तु श्वेताम्बरीय परम्परा में श्रमण को पात्र रखने का विधान है एवं वह विभिन्न घरों से मांगकर भोजन एकत्रित कर एक जगह बैठकर आहार करता है। श्वे. के अनुसार महावीर भी पहले पाणिपात्री नहीं थे, परन्तु पश्चात् वे पाणिपात्री हो गये थे,[225] मुनि नथमल (श्वे.) जी लिखते हैं कि "भगवान भिक्षा के लिए स्वयं गृहस्थों के घर जाते और वहीं खड़े होकर भोजन करते, तीर्थ स्थापना के पश्चात् भगवान ने श्रमण को एक पात्र रखने की अनुमति दी, अब मुनिजन पात्रों में भिक्षा लेने लगे।[226]

परन्तु श्वे. मुनि श्री नथमल जी के ये विचार युक्त पूर्ण नहीं हैं, क्योंकि पात्र रखने से परिग्रह का दोष आएगा। अतः जो दोष सचेलकावस्था में थे लगभग वही दोष, पात्र रखने, सुरक्षा, सफाई आदि करने जैसी आपत्तियों को स्थान मिलेगा।

निष्कर्ष रूप में, श्रमणों का तथा उनकी आहार चर्या के सर्वांगीण विश्लेषणात्मक अध्ययन के बाद यह सहज कहा जा सकता है कि मूलगुणों व उत्तरगुणों के सहज पालक साधु श्रावकों द्वारा नवधा भक्तिपूर्वक समुचित काल व विवेक के साथ एक स्थान पर खडे होकर अपने जीवन को संयम पूर्वक यापन करने के लिए आहार ग्रहण करते हैं। तब वे अपने जीवन को सफल व सार्थक बनाते हैं।

विहार चर्या :

विहार शब्द "वि" उपसर्ग पूर्वक "ह" धातु से घञ् प्रत्यय पूर्वक बना है। इसका अर्थ है - हटाना, दूर करना, भ्रमण, सैर करना आदि। यहाँ जैनधर्म की परम्परा व उसकी आत्मा पर सूक्ष्मता से विचार करते हुए "विहार चर्या" का यह अर्थ किया जा सकता है कि, भ्रमण (विहार) करते हुए श्रमणों द्वारा अपने परिणामों से राग-द्वेष को हटाने रूप क्रिया को "विहार चर्या" कहते हैं। परन्तु वे पृथ्वी पर पद-विहार करते हुए भी किसी प्राणी को पीडा नहीं पहुँचाते, अपितु उन जीवों के समक्ष दया के अवतार रूप में ही सदा उपस्थित रहते हैं। उन्हें देखकर कल्पना मेरा स्वयंवरण करती हुयी कहती है कि, वे मुक्तिदूत श्रमण, चतुर्गति में विहार (भ्रमण) करते भव्य जीवों को, चतुर्गति से विहार (हटाना) के प्रेरक निमित्त होने के लिए ही शायद "विहारचर्या" के विकल्प के वश होते हैं। सम्भवतः, इसी कारण साधु को चलते-फिरते सिद्ध कहा गया है। चलते-फिरते इन सिद्ध-श्रमणों को देखकर निरन्तर मृत्यु के आलिंगन में बँधे संसारी भव्य जीवों को उतना ही आनन्द आता है, जितना कि, दीर्घकाल से बिछड़ा स्तन पान करने वाला पुत्र अपनी माँ की ममता-मयी मूर्ति को देखकर आनन्दातिरेक से अश्रुधारा बहाता है। उस शिशु का जीवन उसकी पुष्टि व तुष्टि ही माँ के आंचल में ही है। अतः अत्यन्त आह्लादकारिणी माँ को देखकर वह प्रसन्न क्यों नहीं होगा ? उसी तरह श्मशान के वातावरण में पल रहे भव्य जीव, जब अमरत्व की कथा कहने वाले श्रमणों को देखते हैं, और उनसे मधुर वचनामृत रूपी दुग्ध के सेवन की आशा होती है। तो उन्हें देखकर भव्य जीवों को सन्तुष्टि क्यों नहीं होगी ? अर्थात् अवश्य होगी। **अतः श्रमणों की विहार चर्या जीवों को संसार से विहार का मंगल संदेश देती है कि, किस तरह राग-द्वेष से दूषित लोक में भी उनसे अप्रभावित रहकर आत्म साधना की जाती है।**

जगत से अप्रभावित रहकर उनको सहज प्रभावित करने वाले जैन श्रमणों की यह एक आवश्यक और विशिष्ट चर्या है। अतः वे भिक्षाचर्या में, एकान्तवास आदि में कलह आदि के त्याग रूप विहार चर्या करते हैं। वे बिना किसी अपेक्षा के हवा और पानी की तरह बहते हैं, और स्वोपकार के साथ परोपकार भी करते हैं। इसीलिए इनको अतिथि तथा अनियतविहारी भी कहा जाता है।

आचार्य शिवार्य श्रमण को अनियत विहारी बतलाते हुए कहते हैं कि "जो समाधि मरण के योग्य है, जिसने मुक्ति के उपायभूत लिंग को धारण किया है, जो शास्त्राध्ययन करने में तत्पर है, पाँच प्रकार का विनय करने वाले, अपने मन को वश में करने वाले ऐसे **श्रमणों के लिए ग्राम नगर आदिक अनियत क्षेत्र में विहार करना चाहिए।**[227] **श्रमणों की वृत्ति पक्षी समान होती है,** जैसे पक्षियों का किसी एक स्थान विशेष से लगाव नहीं होता है। वे स्वतन्त्र आकाश में विचरण करते हैं, परन्तु जहाँ दाना-पानी मिलता है, वहाँ क्षणिक रुकते

हैं फिर उड़ जाते हैं; वैसे ही श्रमण आहार-पानी के लिए क्षणिक रूप से नगर में आते हैं, पश्चात् वे वन वापिस चले जाते हैं। अनियत विहार की महत्ता बतलाते हुए कहा कि "अनियत विहारी साधु को सम्यग्दर्शन की शुद्धि, स्थितिकरण, रत्नत्रय की भावना व अभ्यास, शास्त्र कौशल, तथा समाधिमरण के योग्य क्षेत्र की मार्गणा, इतनी बातें प्राप्त होती हैं। अनियत विहारी को तीर्थंकरों के जन्म, निष्क्रमण, ज्ञान आदि के स्थानों का दर्शन होने से उसके सम्यग्दर्शन में निर्मलता होती है। अन्य मुनि भी उसके संवेग वैराग्य, शुद्ध लेश्या, तप आदि को देखकर वैसे ही बन जाते हैं, अतः उसे स्थितिकरण होता है। (तथा अन्य श्रमणों के गुणों को देखकर वह स्वयं भी अपना स्थितिकरण करता है) परीषह सहन करने की शक्ति प्राप्त करता है। देश-देशान्तर की भाषाओं आदि का ज्ञान प्राप्त करता है। अनेक आचार्यों के उपदेश सुनने के कारण सूत्र के विशेष अर्थ व अर्थ करने की अनेक पद्धतियों का परिज्ञान होता है। अनेक मुनियों का संयोग प्राप्त होने से साधु के आचार-विचार आदि की विशेष जानकारी हो जाती है।[228]

वीतरागी श्रमण वसतिका, उपकरण, गाँव, नगर, स्वसंघ, श्रावकलोक, इन सभी में ममत्व रहित हैं। अतः वे अनियत विहारी ही होते हैं। विहार करते समय यदि जल आदि में प्रवेश करना पड़े तो "श्रमण को प्रवेश के पूर्व पाँवों आदि अवयवों से सचित्त व अचित्त धूलि को दूर करके, जल से बाहर आने तक, जब तक पाँव न सूख जाए, तब तक ज़ल के समीप ही खड़ा रहे। बड़ी नदी को पार करने के पूर्व, तट पर सिद्ध वन्दना करके दूसरे तट की प्राप्ति होने तक के लिए शरीर, आहार आदि का प्रत्याख्यान करना चाहिए। प्रत्याख्यान करके नौका वगैरह पर आरूढ़ होवे और दूसरे तट पर पहुँचकर अतिचार दूर करने के लिए कायोत्सर्ग करना चाहिए।[229]

विहार करते समय श्रमण, बैलगाड़ी, हाथी की सवारी, डोली, रथ आदि बहुत बार जिस मार्ग से चल चुके हों, सूर्य आदिक के आताप से जो व्याप्त हो चुका हो, ऐसे प्रासुक मार्ग पर चलते हैं।[230] और इस तरह से उनके लिए रात्रि विहार सुतरां निषिद्ध हो जाता है। क्योंकि सूर्य का आताप न होने से रात्रिकालीन मार्ग अप्रासुक हो जाता है। समुचित प्रकाश का अभाव होने से ईर्या- समिति नहीं पाली जा सकती है, अतः अहिंसा भी नहीं पल सकती है। इसके अलावा भी रात्रि में सम्भावित दुर्घटनाएँ, लोक निन्दा आदि अनेक विवादों से स्वतः बच जाता है। अतः संयमी मुनि को प्रासुक और सुलभ- वृत्ति योग्य क्षेत्रों एवं काल का अवलोकन करना योग्य है। जहाँ गमन करने से जीवों को बाधा न हो, जो त्रस जीवों व वनस्पतियों से रहित हो, जहाँ बहुत पानी व कीचड़ न हो, वह क्षेत्र प्रासुक है।[231] ऐसे प्रासुक क्षेत्र में श्रमण अपनी गमन-क्रिया करते हैं। गमन में विशेष सावधानी रखते हुए युग- प्रमाण भूमि को देखते हुए, बीज, घास, जल त्रस आदि जीवों से बचते हुए चले। तथा वर्षा कुहासा आदि के होने पर न चले। ऊपर-नीचे देखता हुआ, वार्तालाप व हँसता हुआ भी नहीं चले। हिलते हुए पत्थर, लकड़ी, ईंट आदि पर पैर रखकर भी नहीं

चले, गलीचे, दरी आदि आवरण युक्त जगह पर न चले। इस प्रकार द्रव्य- क्षेत्र-काल-भाव की मर्यादा का पर्याप्त विवेक रखते हुए जैन श्रमण अपना एक-एक कदम बढ़ाते हैं। अतः यह कहने में कोई संकोच नहीं, कि सघमुघ में यह व्यक्तित्व ही विवेक का साक्षात् बिम्ब है।

एकल विहार :

आचार्य के संघ के बिना अकेले रहने अथवा विहार करने को एकल विहार कहते हैं। इस एकल विहार का जैनधर्म में सर्वथा निषेध नहीं किया गया है। मुख्यतः एकदम एकाकी तो जिनकल्पी तीर्थंकर ही होते हैं। परन्तु सामान्य श्रमण को इस प्रकार संघ रहित एकाकी का सर्वथा निषेध किया गया है। इस प्रकार का यदि कोई नग्न, पिच्छि- कमण्डलु लिये भ्रमण करता है, तो उसे जैन श्रमण की चर्या में शंकास्पद माना जा सकता है। तथापि यदि कोई श्रमण, ज्ञान से अधिक किन्हीं अन्य आचार्य के पास विशेष अध्ययन के लिए जाना चाहता है, तो वह एक बार नहीं अपितु अनेक बार अपने संघ प्रमुख से आज्ञा लेता है, और फिर एकाकी नहीं, अपितु चार, तीन या दो मुनि के साथ विहार कर सकता है। आचार्य वसुनन्दि ने चार मुनि के साथ जाने वाले को उत्तम मार्ग एवं दो मुनि के साथ जाने वाले को जघन्य मार्ग कहा है।[232] यदि कोई तथाकथित श्रमण एकदम एकाकी और वह भी किसी आचार्य के पास विद्याध्ययन के लिए न जाकर और बिना आज्ञा के प्रयोजन रहित भ्रमण करता है, तो जैन श्रमणाचार के परिप्रेक्ष्य में उसे श्रमणाभास की संज्ञा दी जा सकती है।

विहार के दो भेद हैं -

गृहीतार्थ और अगृहीतार्थ। तत्वज्ञानी मुनि चारित्र में दृढ़ रहते हुए जो सर्वत्र विचरण करते हैं, उनका विहार प्रथम है और जो अल्प-ज्ञानी, चारित्र का पालन करते हुए विचरण करते हैं उनका विहार द्वितीय है। इनके अतिरिक्त अन्य तरह का विहार जिनशासन में अमान्य है।[233]

एकल विहार का निषेध करते हुए आचार्य वट्टकेर ने कहा कि "सोना, बैठना, ग्रहण करना, शिक्षा, मल-त्याग करना इत्यादि कार्यों के समय जिसका स्वच्छन्द गमनागमन है, स्वेच्छा से ही बिना अवसर बोलने में अनुरक्त है ऐसा एकाकी मेरा वैरी भी न हो। गण को छोड़ अकेले विहार करने में इतने दोष आते हैं जैसे गुरू की निन्दा, श्रुत का विनाश, जिनशासन में कलंक, मूर्खता, विव्हलता, कुशीलपना, पार्श्वस्थता। जो स्वच्छन्द विहार करता है वह कांटे, स्थाणु, क्रोध से आये हुये कुत्ते बैल आदि, सर्प, म्लेच्छ, विष, अजीर्ण, इनके द्वारा मरण दुःख पाता है। शिथिलाचारी मुनि ऋद्धि आदि गौरव वाला, भोगों की इच्छा वाला, कुटिलस्वभावी उद्यमरहित, लोभी, पाप बुद्धि होता हुआ मुनि समूह में रहते हुए भी दूसरे को नहीं चाहता। एकाकी स्वच्छन्द विहारी साधु को आज्ञाकोप, अति प्रसंग,

मिथ्यात्व की आराधना, अपने सम्यग्दर्शनादि गुणों का घात, संयम का घात, ये पाप स्थान अवश्य होते हैं। ऐसे गुरू कुल में रहना ठीक नहीं, जहाँ आचार्य, उपाध्याय, प्रर्वतक, स्थविर, और गणधर ये पाँच मुनिराज संघ के आधारभूत न हो। जो श्रमण संघ को छोड़कर संघ रहित अकेला विहार करता है, और दिये उपदेश को ग्रहण नहीं करता है वह पाप श्रमण है। जो पहिले शिष्यपना न करके आचार्यपना करने को वेगवान है, वह पूर्वापर विवेक रहित ढोंढाचार्य है, जैसे अंकुश रहित मतवाला हाथी।[234] आचार्य मल्लिषेण ने ऐसे श्रमण को सांड की उपाधि दी है।[235] तो चामुण्डराय ने एकल बिहारी को मृग-चारित्र कहकर वहिष्कृत किया है।[236] वस्तुतः "जो मुनि होकर उत्कृष्ट सिंहवृत्ति रूप प्रवर्तता है, बहुत तपश्चरण आदि से संयुक्त है, बड़ा पदधारी है, परन्तु स्वच्छन्द प्रवर्तता है, वह पाप व मिथ्यात्व को ही प्राप्त होता है।[237] आदिपुराण में तो पंचमकाल में एकलविहारी साधु की सत्ता का ही निषेध किया है।[238] वस्तुतः इसका यह तात्पर्य है कि इस योग्य पुरूषार्थी जीवों का लगभग अभाव ही रहेगा।

एकल विहार योग्य साधु का स्वरूप बतलाते हुए कहा कि, जो द्वादश प्रकार का तप, बारह अंग चौदह पूर्व अथवा उस काल क्षेत्र के अनुरूप आगम का पारगामी, उत्कृष्ट शारीरिक शक्ति-युक्त, शरीर से भिन्न अपनी आत्मा में रति रूप एकत्व भावयुक्त, वज्रवृषभ आदि संहनन वाला, मनोबल संयुक्त इतना ही नहीं, अपितु दीक्षा से, आगम से बलवान, तपश्चर्या से वृद्ध, आचार सम्बन्धी सिद्धान्त में भी अक्षुण्ण, ऐसे अनुकूलचर्या में निपुण गुणविशिष्ट को एकल विहार की अनुमति दी गयी है।

एकल विहार के सम्बन्ध में श्वेताम्बरीय आगम में भी लगभग ऐसा ही स्वरूप मिलता है। सूत्र कृतांग में एकाकी चर्या की योग्यता पर विचारते हुए कहा कि "एकाकी विचरण करने वाले साधु को कठोर साधना करनी पड़ती है, क्योंकि एकाकी विचरण साधना अंगीकार करने के पश्चात् थोडी सी भी स्थान की, आहार-पानी की असुविधा, सम्मान सत्कार में लोगों की अरुचि देखी कि, मन में रोष आ गया, अथवा वाणी में रोष, कठोरता या अपशब्द आ गये या किसी सूने घर में ठहर जाने पर भी वहाँ किसी प्रकार का देवी, मानुषी या पाशविक उपद्रव आ गया तो साधु की समाधि भंग हो जाएगी, मन में राग-द्वेष की उत्पत्ति होगी।[239] दशाश्रुत स्कन्ध में कहा है - उक्त बीस असमाधि स्थानों से दूर रहकर श्रुत, विनय, आचार, एवं तप इन चार प्रकार की समाधि में स्थित रहना चाहिए। वस्तुतः एकचर्या का लाभ उसी को मिल सकता है, जो पहले अपने आपको एकचर्या के योग्य बना ले। अन्यथा एकचर्या से लाभ के बदले हानि ही अधिक उठानी पड़ सकती है।[240]

सूत्रकृतांग की अमरसुखबोधिनी व्याख्या में अत्यन्त पौरूषवन्त एवं अतिएकान्तप्रिय को ही एकलविहारी बनने का निर्देश मिलता है। वहाँ अनेक शर्तों के मध्य ये सार द्रष्टव्य है"

सब दोषों तथा राग- द्वेष कषाय आदि से बचने के लिए साधु अकेला विचरण करता है, अकेला ही कायोत्सर्ग, उठना, बैठना आदि करता है। यहाँ जितनी भी एकाकी चर्या बतलायी है, वह द्रव्य और भाव दोनों से एकाकी होना चाहिए। द्रव्य से एकाकी का अर्थ है-दूसरे श्रमण/श्रावक के सहयोग से निरपेक्ष। भाव से एकाकी का अर्थ है-राग द्वेषादि दोषों से तथा जन-सम्पर्क जनित दोषों से रहित एक मात्र आत्म भावों में या आत्मगुणों में स्थित रहकर विचरण करना। अपना स्थान भी ऐसा चुने जो एकान्त, विजन, पवित्र, शान्त और स्त्री-पशु नपुंसक के संसर्ग रहित हो। जिसके लिए शास्त्रकार ने आगे निर्देश किया है-"भयमाणस्स विवित्तमासणं।"

यदि साधु एकलविहारी भी हो गया, किन्तु ग्राम के बाहर अथवा कहीं एकान्त में रहकर भी अपना अखाड़ा जमाना शुरू कर दिया, जनता की भीड़ वहाँ भी आने लगी, अथवा वह स्थान एकान्त में होते हुए भी मुर्दाघाट या गन्दगी-डालने का स्थान है तो वह भी ठीक नहीं, अथवा एकान्त होते हुए भी वहाँ आस-पास कल-कारखानों का या अन्य कोई कोलाहल होता है अथवा वह पशुओं को बाँधने का बाड़ा हो, अथवा किसी स्त्री या नपुंसक का वहाँ रात्रिकाल में आवागमन होता हो तो वह विविक्त नहीं कहलाता है। अपवित्र अशान्त, कोलाहलयुक्त या स्त्री-पशु संसक्तजन समुदाय के जमघट वाले स्थान में रहने से साधु के एकाकीचर्या की साधना स्वीकार करने का उद्देश्य पूर्ण नहीं होता। वहाँ उसके स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि साधना में विक्षेप पड़ेगी। लौकिक स्वार्थ- वश सांसारिक लोगों का जमघट शुरू हो गया तो, साधु को उनके संसर्ग से ही अवकाश नहीं मिल पायेगा। इन सब खतरों से बचे रहने के लिए एकचर्या के विशिष्ट साधक को यहाँ सावधान किया है। 128 वीं गाथा में इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा कि "संसग्गी असाहु रायिहिं" अर्थात् राजा आदि राजनीतिज्ञों या सत्ताधारियों के साथ संसर्ग ठीक नहीं है, वह आचारवान् साधु के लिए असमाधि कारक है।[241]

एकलविहार के सन्दर्भ में हम यह पाते हैं कि, अति पौरूषवन्त को ही एकल विहार का निर्देश है; जैसे राम, बाहुबली आदि एकलविहारी थे या फिर जिनकल्पी अर्हन्त तीर्थंकर एकल विहारी थे। सामान्य जन को एकल विहार का सख्त निषेध है। जबकि आज के काल में एकलविहारी श्रमणों की अधिकता देखी जा सकती है। वस्तुतः ये श्रमणाचार से भ्रष्ट हैं।

विश्राम चर्या

(वसतिका स्वरूप):-

विहार करते हुए जैन श्रमण स्थान-स्थान पर ठहरते भी जाते हैं। श्रमणों के ठहरने के स्थान को "वसतिका" कहते हैं। वह मनुष्य, तिर्यंच, शीत उष्णादि की बाधाओं से रहित

होती है। वसतिका का सामान्यतः स्वरूप बतलाते हुए कहा कि "जो उद्गम, उत्पादन, और एषणा दोषों से रहित हो, जिसमें जन्तुओं का वास न हो, अथवा बाहर से आकर जहाँ प्राणी वास न करते हों, संस्कार रहित हो, जिसमें प्रवेश करना या जिसमें निकलना सुखपूर्वक हो सके, जिसका द्वार ढका हो, जहाँ विपुल प्रकाश हो। जिसके किवाड़ व दीवारें मजबूत हो, जो ग्राम के बाहर हो, जहाँ बाल, वृद्ध और चार प्रकार के गण आ-जा सकते हों। जिसके द्वार खुलें हो या भिड़े हों, जो समभूमि युक्त हो या विषम हो या विषम भूमि युक्त हो, जो ग्राम के बाह्य भाग में हो अथवा अन्त में हो, ऐसी वसतिका में मुनि ठहरते हैं।[242] तथा जहाँ अमनोहर या मनोहर स्पर्श, रस-गन्ध-रूप और शब्दों द्वारा अशुभ परिणाम नहीं होते, जहाँ स्वाध्याय व ध्यान में विघ्न नहीं होता। जहाँ रहने से मुनियों की इन्द्रियाँ विषयों की तरफ नहीं दौड़ती, मन की एकाग्रता नष्ट नहीं होती, और ध्यान निर्विघ्न होवे, ऐसी वसतिका में मुनि निवास करते हैं।[243] एवं जिस क्षेत्र में कषाय की उत्पत्ति हो, आदर का अभाव हो, मूर्खता हो, इन्द्रिय विषयों की अधिकता हो, स्त्री आदि बहुत जनों का संसर्ग हो, क्लेश व उपसर्ग हो, ऐसे क्षेत्र को मुनि अवश्य छोड़ दें।[244]

मूलाचार व ज्ञानार्णव की यह बात बहुत तार्किक व मनावैज्ञानिक थी। इसी कारण शान्ति व वीतरागता का ग्राहक दीक्षार्थी, निर्द्वन्द हो शान्त वन रूप बाजार में इसका निराबाध रूप से व्यापार करता था। तथा विषय- कषाय रूप वणिकों, व उनके व्यापारों से अपने को सहज दूर रखता था। इस तरह अमूल्य जीवन को स्वाभाविक रूप से पवित्र रखता था। इसमें वस्तुतः कोई आश्चर्य व बडप्पन जैसी बात भी नहीं है। क्योंकि पापोत्पादक पतित विषय-कषायों की सामग्री का जब शहरों में ही बहुत सम्मान व मूल्यांकन होता है, तो वे क्यों निर्जन वन में जाना पसन्द करेंगे। भोगों के स्थल शहरों में एक-एक भोग सामग्री को प्राप्त करने के लिए असंख्य प्राणी अपना सर्वस्व समर्पण करने के लिए प्रतिपल उत्सुक रहे, जिससे उनकी निरन्तर कमी ही रहती हो, तो उन्हें यह सोचने का भी अवकाश कहाँ कि वे जंगल की ओर जावे; और इस कारण साधु स्वाभाविक रूप से विषय- कषायों से दूर होकर पवित्र रह जाते हैं। अतः उनकी ऐसी सहज पवित्रता, प्राणी मात्र के लिए सहज पूज्य हो जाती है। परन्तु उस समय तो मानव जगत की ही यह एक काल रात्रि थी कि जब ऐसा उत्कृष्ट आदर्श ही विषय कषाय के क्रीडा-स्थल शहरों में रहना पसन्द कर रहा होगा। हमें ऐसे निष्कृष्ट काल में भारवि को याद करके सन्ताप कम कर लेना चाहिए; जिसमें भी युधिष्ठिर को सम्बोधन के माध्यम से एक अत्यन्त मार्मिक तथ्य प्रस्तुत करते हैं, देखें-

चतुसृष्वपि ते विवेकिनी नृप विद्यासु निरूढिमागता।
कथमेत्य मतिर्विपर्ययं करिणी पङ्कमिवावसीदति।। 6।।[245]

यहाँ भीम के कहने का तात्पर्य है कि छोटा पशु यदि कीचड़ में फँस जावे तो उसे निकाला भी जा सकता है; परन्तु यदि हथिनी (सामर्थ्यवान व्यक्तित्व) ही कीचड़ में फँस जावे, तो उसे कौन निकाल सकता है? इसी तरह आप जैसा महान् व्यक्तित्व की बुद्धि यदि विभ्रम में पड़ जावे, तो फिर उसे कौन पथ प्रदर्शित कर सकता है ?

आचार्य पूज्यपाद तो इसीलिए साधु के तपोधन को सुरक्षित व संवर्धित करने के अभिप्राय से उसको एकान्त व जन्तुओं की पीड़ा से रहित स्थानों में शय्या व आसन लगाने को कहते हैं। आचार्य गुणभद्र तो नगर व ग्राम में ही बसकर रहने वाले श्रमणों पर अति खेद व्यक्त करते हुए कहते हैं कि "जिस प्रकार सिंहादि के भय से मृगादि रात्रि के समय गाँव के निकट आ जाते हैं, उसी प्रकार इस कलिकाल में मुनिजन भी वन को छोड़ गाँव के समीप रहने लगे हैं, यह खेद की बात है। यदि आज का ग्रहण किया गया तप कल स्त्रियों के कटाक्षरूप लुटेरों के द्वारा वैराग्य सम्पत्ति से रहित कर दिया जाये, तो इस तप की अपेक्षा गृहस्थ जीवन ही कहीं श्रेष्ठ था।

श्रमण के रहने योग्य स्थान तो शून्यघर, पर्वत की गुफा, वृक्ष का मूल, अकृत्रिम गृह, उद्यान गृह, श्मशान भूमि, गिरिशिखर, शिक्षागृह स्कूल आदि छोड़े हुए घर हैं।[246] इसके अलावा शहर के बाहर के चैत्यालय में ठहरा जा सकता है, परन्तु शहर के मध्य तो बिल्कुल अनुचित ही है; जबकि आज का श्रमण शहर के मध्य ही रह रहा है, और जन सामान्य यही स्वरूप स्वीकार कर बैठा है। जो कि भ्रमपूर्ण सन्तुष्टि है। इसी कारण शिथिलाचार अपने पूर्ण यौवन पर हैं। इस सम्बन्ध में यह तर्क दिया जाता है कि, आज जंगलों में श्रमणों के अनुरूप अनुकूलता नहीं है। परन्तु यह विचार युक्ति- पूर्ण नहीं है। आज न तो भयानक जंगल ही रहे और न ही उनमें रहने वाले क्रूर पशु। अतः जीवनगत आपत्ति नहीं कही जा सकती है। द्वितीय, पूर्व के जंगलों में तथा शहर के बाहर साधुओं के लिए चारित्रिक खतरे भी हुआ करते थे। अधिकांशतः "जार" स्त्रियाँ अभिसार करने जंगल के मनोरम वातावरण में जाया करती थीं, और प्रायः वे साधुओं के चारित्रिक पक्ष पर भी आक्रमण किया करती थीं। जैसे द्रोपदी के पूर्व भव में आर्यिका के रूप में तपस्या के समय उनके सामने के वृक्ष तले स्थित एक जार पाँच पुरुषों में अनुरक्त थी; और जिसे देखकर द्रोपदी के जीव ने पाँच पति का निदान बाँधा था। परन्तु, कालान्तर में यह प्रवृत्ति जंगलों से हटकर, होटलों, शहरों के मध्य व धर्मशाला में सिमटी। तो भ्रष्ट साधुओं की तीव्र काम व लोकेषणा की चाह ने भी अपने साध्य के पास रहना प्रारम्भ किया।

जैन श्रमण वसतिका के 46 दोष-उद्गम, उत्पादन एवं एषणा जन्य दोषों से बचते हुए एक ग्राम में एक रात और नगर में पाँच रात तक रहते हैं, वे साधु धैर्यवान, प्रासुक बिहारी हैं।[247] परन्तु षड्ऋतुओं में एक-एक मास रहने का भी विधान मिलता है। वर्षाकाल में आषाढ़ शुक्ल चौदस से कार्तिक कृष्ण पूर्णिमा तक एक स्थान में रहते हैं। प्रयोजनवश

अधिक भी रहते हैं। परिस्थितिवश इस काल में हानि- वृद्धि भी होती है। जैन श्रमण अनियतविहारी और अतिथि कहलाते हैं। अर्थात् उनकी कहीं भी जाने की तिथि निश्चित नहीं होती है। परन्तु आज तो एक- दो महीने तक के कार्यक्रम छपकर प्रचारित होते हैं, नारियल देकर चातुर्मास निश्चित कराकर छपवा कर प्रसारित किया जाता है। यह एक जगह एवं तिथि के प्रतिबन्धन हैं। जैन श्रमण किसी के प्रति उत्तरदायी एवं बंधे हुए नहीं होते हैं। जो नारियल स्वीकृत करते हैं। वह जैनधर्म के परिप्रेक्ष्य में उचित नहीं है। चातुर्मास के लिए नारियल भेंट करने की प्रथा समाज द्वारा सम्भवतः इसलिए प्रचलित हुयी होगी; ताकि साधु उस समाज की सामूहिक भक्ति एवं 4 महीने तक संघ के भार वहन की क्षमता से परिचित होकर अमुक शहर/गाँव में अपना मानसिक निर्णय कर सकें। परन्तु उस निर्णय को उद्घोषित नहीं करते हैं, क्योंकि इससे उनका सत्यमहाव्रत एवं अनियत-विहार संकट में पड़ जाता है। सत्यमहाव्रती होने से किसी को गमनागमन का वचन नहीं देते हैं। श्रमण की ऐसी उत्कृष्ट तपोमय विहार व विश्राम चर्या होती है।

वसतिका के छयालीस दोष :-

उद्गम के दोष –

वसतिका के उद्गम से सम्बन्धित दश दोष इस प्रकार से हैं। वृक्ष काटना, काटकर लाना, ईंटे पकाना, जमीन खोदना, पत्थर बालू वगैरह से गढ्ढा भरना, जमीन कूटना, कीचड़ करना, खम्भे खड़े करना, अग्नि से लोहे को तपाकर पीटना, आरा से लकडी चीरना, विसोले से छानना, कुल्हाडी से काटना, इत्यादि कार्यों से छह काय के जीवों को बाधा देकर जो वसतिका स्वयं बनायी हो अथवा दूसरों से बनवायी हो वह वसतिका अधःकर्म के दोष से युक्त होती है। जितने दीन, अनाथ कृपण अथवा साधु आयेंगे, अथवा निर्ग्रन्थ मुनि आयेंगे अथवा अन्य तापसी आयेंगे, उन सब के लिए यह वसतिका होगी, इस उद्देश्य से बनायी गयी वसतिका **उद्देशिक दोष** से युक्त होती है। अपने लिए घर बनवाते समय "यह कोठरी साधुओं के लिए होगी" ऐसा मन में विचारकर बनवायी गयी वसतिका **अभ्योभव दोष** से युक्त होती है। अपने घर के लिए लाये गये बहुत काष्ठादि में श्रमणों के लिये लाये हुए काष्ठादि मिलाकर बनवायी गयी वसतिका **पूतिका दोष** से युक्त होती है। अन्य साधु अथवा गृहस्थों के लिए घर बनवाना आरम्भ करने पर पीछे साधुओं के उद्देश्य से ही काष्ठा आदिका मिश्रण करके बनवायी गयी वसतिका **मिश्र दोष** से दूषित होती है। अपने लिए बनवाये हुए घर को पीछे संयतों के लिए दे देने से वह घर **स्थापित दोष** से दूषित होता है। मुनि इतने दिनों में आयेंगे जिस दिन वे आयेंगे उस दिन सब घर को लीप पोतकर स्वच्छ करेंगे ऐसा मन में संकल्प करके जिस दिन मुनि का गमन हो उसी दिन वसतिका को साफ करना **पाहुडिग दोष** है। मुनि के आगमन से पहले संस्कारित वसतिका **प्रादुष्कृत दोष** से दूषित होती है। जिस घर में बहुत अंधेरा हो;मुनियों के लिए प्रकाश लाने के निमित्त से उसकी दीवार में छेद करना, लकड़ी का पटिया हटाना, उसमें दीपक जलाना,

यह **पादुकार दोष** है। खरीदे हुए घर के दो भेद हैं-द्रव्यकीत और भावक्रीम। गाय बैल, वगैरह सचित्त पदार्थ लेकर अथवा गुड़ खांड वगैरह अचित्त पदार्थ देकर खरीदा हुआ मकान द्रव्यक्रीत है। विद्या मंत्र वगैरह देकर खरीदा हुआ मकान भावक्रीत है। बिना ब्याज पर अथवा ब्याज पर थोड़ा सा कर्जा करके मुनियों के लिए खरीदा हुआ मकान **पामिच्छ दोष** से दूषित होता है। आप मेरे घर में रहें और अपना घर मुनियों के लिए दे दें, इस प्रकार से लिया हुआ मकान **परिवर्त दोष** से दूषित होता है। अपने घर की दीवार के लिए जो स्तम्भ आदि तैयार किये हों, वह संयतों के लिए लाना **अभ्याहत** नामक दोष है। इस दोष के दो भेद हैं-आचरित और अनाचरित। जो सामग्री दूर देश से अथवा अन्य ग्राम से लायी गयी हो उसको अनाचरित कहते हैं और जो ऐसी नहीं हो उसे आचरित कहते हैं। ईंट, मिट्टी, बाड़ा, किवाड़ अथवा पत्थर से ढ़का हुआ घर खोलकर मुनियों के लिए देना **उद्भिन्न दोष** है। नसैनी वगैरह से चढ़कर "आप यहाँ आइये, यह वसतिका आपके लिए है" ऐसा कहकर संयतों को दूसरी अथवा तीसरी मंजिल रहने के लिए देना **मालारोह नामक दोष** है। राजा मंत्री वगैरह का भय दिखाकर दूसरे कामकान वगैरह मुनियों के लिए दिलाना **अछेद्य** नामक दोष है। अनिसृष्ट दोष के दो भेद हैं-जिसे देने का अधिकार नहीं है ऐसे **गृहस्वामी** के द्वारा जो वसतिका दी जाती है वह **अनिसृष्ट दोष** से दूषित है।

उत्पादन के दोष-

जैसे धाय के पाँच काम होते हैं। कोई धाय बालक को स्नान कराती है, कोई आभूषण पहनाती है, कोई उसका मन खेल से प्रसन्न करती है, कोई उसको भोजन कराती है, और कोई उसको सुलाती है। वैसे ही इन धात्री कर्मों में से किसी काम का गृहस्थ को उपदेश देकर उससे वसतिका प्राप्त करना **धात्री दोष** है। अन्य ग्राम, अन्य नगर, देश, देशान्तर के समाचार कहकर प्राप्त की गई वसतिका **दूतकर्म** दोष से दूषित है। अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, छिन्न, भौम, स्वप्न और अन्तरिक्ष ये आठ महानिमित्त हैं। इन आठ महानिमित्तों के द्वारा शुभाशुभ फल बतलाकर प्राप्त की गयी वसतिका **निमित्त दोष** से दूषित है। अपनी जाति, कुल ऐश्वर्य, वगैरह का माहात्म्य बतलाकर प्राप्त की गयी वसतिका आजीवक दोष से दूषित है। भगवान, सब को आहार दान देने से और वसतिका के दान से क्या महान् पुण्य की प्राप्ति नहीं होती? ऐसा श्रावक का प्रश्न सुनकर श्रावक के अनुकूल उत्तर देकर वसतिका प्राप्त करना **बनीपक दोष** है। आठ प्रकार की चिकित्सा करके वसतिका प्राप्त करना **चिकित्सा दोष** है। क्रोध आदि से प्राप्त की गई वसतिका **क्रोधाद्युत्पादि दोष** से दूषित है। "आने-जाने वाले मुनियों को आपका ही घर आश्रय है" ऐसी स्तुति करके प्राप्त की गई वसतिका **पूर्वस्तुति नामक दोष** से दूषित है। वसतिका छोड़ते समय "आगे भी कभी स्थान मिल सके" इस हेतु से गृहस्थ की स्तुति करना पश्चात् **स्तुति नामक** दोष है। विद्या मंत्र वगैरह के प्रयोग से गृहस्थ को वश में करके वसतिका प्राप्त करना **विद्यादि दोष** है। भिन्न जाति की कन्या के साथ सम्बन्ध मिलाकर वसतिका प्राप्त करना अथवा विरक्तों को अनुरक्त करके उनसे वसतिका प्राप्त करना **मूलकर्म दोष** है। इस प्रकार ये सोलह उत्पादन

दोष हैं।

एषणा के दोष-

यह वसतिका योग्य है अथवा नहीं ऐसी शंका जिसमें हो वह वसतिका **शंकित दोष** से दुष्ट है। उसी समय लीपी-पोती गयी या धोई गयी वसतिका **भ्रक्षित दोष** से दूषित है। सचित्त, पृथिवी, जल, अग्नि, वनस्पति, वगैरह अथवा त्रस जीवों के ऊपर आसन वगैरह रखकर "यहाँ आप विश्राम करें" ऐसा कहकर दी गयी वसतिका **निक्षिप्त दोष** से दूषित है। सचित्त मिट्टी वगैरह के आच्छादन को हटाकर दी गयी वसतिका **पिहित दोष** से दूषित है। लकडी वगैरह को घरीट कर ले जाते हुए पुरुष के द्वारा बतलायी गयी वसतिका **साधारण दोष** से दुष्ट है। मरण के अशौच या जन्म के अशौच से युक्त गृहस्थ के द्वारा अथवा रोगी गृहस्थ के द्वारा दी गयी वसतिका **दायक दोष** से दूषित है। स्थावर जीवों और त्रस जीवों से युक्ति वसतिका **अन्मिश्र दोष** से दूषित है। मुनियों को जितने शरीर प्रमाण जमीन ग्रहण करना चाहिए उससे अधिक जमीन ग्रहण करना **प्रमाणातिरेक दोष** है। इस प्रमाण में हवा ठंड या गर्मी वगैरह का उपद्रव है ऐसी बुराई करते हुए वसतिका में रहना **धूम दोष** है। यह वसतिका विशाल है, इसमें वायु का उपद्रव नहीं है, यह बहुत अच्छी है, ऐसा मानकर उसके ऊपर राग भाव रखना **इंगाल दोष** है।[248]

इस प्रकार उद्गम उत्पादन और एषणा दोष से रहित वसतिका मुनियों के योग्य है।

वर्षाकाल :

जैन श्रमण यद्यपि निरन्तर चलते रहते हैं, तथापि किसी काल-विशेष में यदि उनके पद विहार से जीवों का घात हो रहा हो, तो उनके उपकारार्थ व अपने अट्ठाइस मूलगुणों के संरक्षणार्थ विहार भी नहीं करते हैं। साधु के विहार के दौरान् यह स्थिति वर्षाऋतु में आती है। जब वे अपने विहार को विराम देते हैं। यह विराम अवधि चार माह की होती है। वर्षाऋतु में साधु के विहार की विरामवृत्ति उसके लिए अनिवार्य व महत्वपूर्ण अंग है। वे इन चार माह एक ही स्थान पर रहकर भ्रमण का त्याग कर देते हैं।[249] इसका कारण यह है कि वर्षाऋतु में सूक्ष्म-स्थूल सभी प्रकार के जीवों से यह पृथ्वी व्याप्त रहती है। उस समय विहार करने पर महान् असंयम रहता है। वर्षा और शीत वायु का प्रकोप तथा वापी और जलाशयों में गिरने का भय रहता है। जलादि में छिपे हुए ठूंठ, कण्टक, आदि से कष्ट पहुँचता है।[250] इस तरह का विवेचन श्वेताम्बरीय सम्प्रदाय में प्राप्त होता है। इन परिस्थितियों को देखकर (श्वे.) आचरांग सूत्र में कहा कि मुनि को वर्षाकाल में एक ग्राम से दूसरे ग्राम तक विहार नहीं करना चाहिए। अपितु वर्षाकाल में यथावसर प्राप्त वसति में ही संयत रहकर वर्षावास करना चाहिए।[251]

श्वेताम्बर परम्परा में "पर्युषण कल्प" नाम से वर्षावास का स्वरूप वर्णन मिलता है। वृहत्कल्प भाष्य में इसको "संवत्सर" नाम से कहा गया है।[252] परन्तु दिगम्बर परम्परा में यह "वर्षायोग" धारण करना या चातुर्मास आदि से प्रसिद्ध है। लेकिन यह नाम तो चार महीनों को एकत्रित करके दिया गया है। वर्ष के बारह महीनों में ग्रीष्मऋतु (चैत, वैशाख, जेठ, आषाढ़), वर्षाऋतु (श्रावण, भाद्रपद, अश्विन, कार्तिक), शीतऋतु (मार्गशीर्ष, पौष, माघ, फाल्गुन), इन तीन रूप में मौसम की दृष्टि से विभाजित किया गया है। इन्हीं में चार मास के योग रूप वर्षाऋतु को "चातुर्मास" शब्द से रूढ़ किया गया है। यह चातुर्मास का समय अध्ययन और आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से श्रमण व श्रावक दोनों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है। विशेष रूप से यह समय श्रावकों के लिए उतना ही हितकारी व महत्वपूर्ण है, जितना कि मयूर के लिए मेघ तथा कमल के लिए सूर्योदय विकास का सन्देश लिए आता है। इस तरह से श्रमण श्रावकों पर वर्षाऋतु में अमृत की वर्षा करते हुए (तत्वोपदेश से अमरत्व की वर्षा) चातुर्मास तक कषायों के अभावपूर्वक चतुर्गति के अभाव का दिव्य सन्देश भव्यरूपी चातकों को दिया करते हैं।

वर्षायोग ग्रहण-त्याग :

अहिंसा महाव्रत के धारी जैन श्रमण गमनागमन के लिए एक क्षेत्र विशेष की मर्यादा बाँध लेते हैं। इसी से एक क्षेत्र विशेष में वर्षा के योग की स्थापना भी करते हैं। परन्तु, चारण ऋद्धिधारी मुनिराज, जिनके कि पैरों से जीवों का घात नहीं होता है, वे वर्षा ऋतु में एक क्षेत्र विशेष की ही मर्यादा नहीं बांधते हैं। जैसे कि चारुदत्त के यहाँ सप्तर्षि चारण ऋद्धिधारी मुनिराज वर्षाकाल में आए थे, यह पद्मपुराण के 92 सर्ग के एक कथा प्रसंग से सिद्ध हैं (देखें दीक्षा की पात्रता के प्रकरण में इस कथानक का उद्धरण)। इस वर्षा योग की विधि का स्पष्ट वर्णन मूलाचार आदि में देखने को नहीं मिलता है। परन्तु पण्डित आशाधर जी इसकी विधि बतलाते हुए कहते हैं कि "आषाढ शुक्ला चतुर्दशी की रात्रि के प्रथम प्रहर में पूर्व आदि चारों दिशाओं में प्रदक्षिणा क्रम से लघु चैत्यभक्ति चार बार पढकर सिद्ध भक्ति, योगि भक्ति, पंच गुरू भक्ति और शान्ति भक्ति करते हुए आचार्य आदि साधुओं को वर्षायोग ग्रहण करना चाहिए। और कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि के पिछले प्रहर में इसी विधि से वर्षायोग को छोडना चाहिए।[253]

इसको और विस्तार देते हुए आशाधर कहते हैं कि, जिस जगह पर वर्षायोग करना है, उस जगह आषाढ़ के महीने तक चले जाना चाहिए और मार्गशीर्ष महीना व्यतीत करने पर वर्षायोग के स्थान को छोड देना चाहिए। तथा कितना ही प्रयोजन क्यों न हो, परन्तु श्रावण कृष्ण चतुर्थी तक वहाँ अवश्य पहुँच जाना चाहिए। और प्रत्येक स्थिति में कार्तिक शुक्ला पंचमी तक वर्षायोग के स्थान पर चले जाना चाहिए। यदि किसी दुर्निवार उपसर्ग आदि के कारण वर्षायोग के उक्त प्रयोग में अतिक्रम करना पड़े, तो साधु-संघ को प्रायश्चित्त लेना चाहिए।[254]

श्वेताम्बर परम्परा के आगम साहित्य में थोडी सी पृथकता है। वहाँ कहा है कि "मासकल्प से विचरते हुए श्रमणों को आषाढ मास की पूर्णिमा को चातुर्मास के लिए कल्पता है।[255] कल्पनिर्युक्ति में कहा कि आषाढ मास की पूर्णिमा तक नियत स्थान पर पहुँचकर श्रावण कृष्ण पंचमी से वर्षावास प्रारम्भ कर देना चाहिए। उपयुक्त क्षेत्र न मिलने पर श्रावण कृष्ण दसमी से पाँच-पाँच दिन बढाते-बढाते भाद्र शुक्ल पंचमी तक तो निश्चित ही वर्षावास प्रारम्भ कर देना चाहिए, इस तिथि का उल्लंघन नहीं करना चाहिए।[256]

संघ में आगन्तुक श्रमण :

जब कोई श्रमण/आचार्य सल्लेखना के लिए या विशेष साधना अथवा ज्ञान प्राप्ति के लिए अपने संघ से आज्ञा लेकर अपने इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु किसी अन्य गण में जाता है, तो ऐसा श्रमण अन्य गण के आचार्य व श्रमणों के लिए अतिथि या आगन्तुक श्रमण कहलाता है। ऐसे श्रमण का विशेष रूप से वर्णन मूलाचार तथा भगवती आराधना में देखने को मिलता है।

"ज्ञान ध्यान तपोरक्तः" स्वरूप वाले जैन श्रमणों उच्च व विशेष ज्ञान की अभिलाषा से अन्य गणों में जाने के उल्लेखों के वर्णन प्रायः जैन पुराणों में देखने को मिल जाते हैं। षड्खण्डागम के रचयिता भूतवलि पुष्पदन्त भी विशेष ज्ञान प्राप्ति की इच्छा से धरसेनाचार्य पास गये थे। तथा धरसेनाचार्य ने भी संघ में शामिल करने के पूर्व उन द्वय मुनिराजों की विधिवत् परीक्षा ले ली थी। तत्पश्चात् ही उन्हें संघ में शिक्षा हेतु शामिल किया था।

जब कोई श्रमण अपने गुरू से सम्पूर्ण श्रुत पढ चुका होता है, तो वह धीर, वीर, विद्या, बल और उत्साह आदि सभी गुणों से युक्त होता हुआ, अपने गुरू के पास आकर, विनयपूर्वक मन-वचन-काय से प्रणाम करके प्रयत्न पूर्वक उनसे दूसरे संघ में जाने की अनुमति माँगता हुआ कहता है कि---"हे गुरो! आपके चरणों की कृपा से अब मैं अन्य आयतन (ज्ञान योग्य आचार्य) को प्राप्त करना चाहता हूँ।" इस तरह से वह इस विषय में एक बार ही नहीं, तीन, पाँच अथवा छह बार तक पूँछता है। कारण कि, बार-बार पूँछने से विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करने में अपना उत्साह तथा आचार्य के प्रति विशेष विनय प्रकट होता है। वह मुनि अपने पूज्य गुरू से पूँछकर और आज्ञा प्राप्तकर अपने सहित चार, तीन अथवा दो मुनि साथ लेकर वहाँ को विहार करता है। अकेले जाना उचित नहीं है।[257] इसी कारण भूतवलि व पुष्पदन्त मुनिराज अकेले न जाकर दो साथ गये थे।

जब कोई साधु समाधिमरण की भावना से अपने गण में द्रव्य-क्षेत्र आदि की दृष्टि से अनुकूलता नहीं पाता है, तो वह गुरू की आज्ञा से दूसरे गण में अनुकूल वातावरण और योग्य आचार्य के सान्निध्य में समाधिमरण करने जा सकता है। परन्तु दूसरे गण के आचार्य आगन्तुक क्षपक की प्रकृति, प्रयोजन आदि भली-भाँति जानकर तथा गणस्थ श्रमणों

से समाधिमरण कराने हेतु विचार विमर्श करके ही स्वीकृति देते हैं। श्रमण दूसरे संघ में जब प्रयोजन-वश पहुँचता है, तो उसको आते देखकर गण के आचार्य एवं सभी श्रमण, उसके प्रति सम्मान, वात्सल्य, जिन-आज्ञा, संग्रह (ग्रहण) एवं उन्हें प्रणाम करने हेतु तत्काल उठकर खडे हो जाते हैं।[258] तथा सात कदम आगे बढकर उसके प्रति आदर और हर्ष भाव व्यक्त करके परस्पर प्रणाम करते हैं। और अपने साथ लाकर योग्य करणीय कार्यों में सम्पन्न करके सम्यग्दर्शन, ज्ञान-चरित्र रूप रत्नत्रय आदि के निर्विघ्न आचरण की कुशलता के प्रश्न पूँछते हैं।[259] तत्पश्चात् उस दिन तो वह आगन्तुक विश्राम करता है।[260] अथानन्तर तीन दिन तक उसे आवश्यक क्रियाओं, संस्तर, मलमूत्र-विसर्जन स्थल आदि तथा स्वाध्याय आदि के विषय में जानकारी एवं इन सभी कार्यों में परीक्षा हेतु उसके साथ रहकर उसे सहयोग दिया जाता है।[261]

आगन्तुक व गणस्थ श्रमण परस्पर में प्रतिलेखन, भिक्षा, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण तथा तेरह क्रियाओं आदि के ज्ञान एवं इनके आचरण की विशुद्धता आदि की परीक्षा करते हैं। आगन्तुक श्रमण से सन्तुष्ट होकर दूसरे या तीसरे दिन उसके द्वारा निवेदन किये गये प्रयोजन के अनुसार, तथा उसका सम्पूर्ण परिचय आदि प्राप्त करके और विनीत, उत्साही तथा बुद्धिमान समझ कर, उसे स्वीकार करके अपने ज्ञान की सामर्थ्यानुसार पढाना प्रारम्भ करते हैं।[262] इसी तरह से पूर्ण सन्तुष्टि होने पर ही आगन्तुक श्रमण शिष्य रूप में स्वीकार किया जाता है।

शरीर त्याग (समाधि मरण):-

आयु कर्म के क्षय से एक शरीर को छोड़कर अन्य शरीर को ग्रहण करना मरण कहलाता है। शरीर के प्रति अति आसक्ति वाले संक्लेश भाव से जिनका शरीर छूट जाता है, वह मरण कहलाता है। परन्तु जो अति साहस से देश या समाज की रक्षा भाव से परहित रक्षार्थ बुद्धिपूर्वक शरीर का त्याग करते हैं वह "वीर गति" कहलाती है। लेकिन जो धर्मबुद्धि से, स्वतः नाश को प्राप्त हो रही शरीर की अवस्था को देखकर, उसके ऐसे ही स्वरूप का विचार करते हुए, निरासक्त होते हुए धीर- वीर भाव से शरीर का त्याग करते हैं, और नया शरीर कर्मोदय वश प्राप्त होता है, उसे प्रत्याख्यान, सल्लेखना, समाधिमरण आदि नामों से कहा जाता है। श्रमण ऐसा ही मरण करते हैं, परन्तु जो ऐसा करते हुए नया शरीर ग्रहण नहीं करते हैं उसे निर्वाण कहते हैं। जिसके होने पर सिद्ध दशा प्राप्त होती है।

अतिवृद्ध या असाध्य रोग हो जाने पर, अथवा अप्रतिकार्य उपसर्ग आ जाने पर अथवा दुर्भिक्ष आदि के होने पर साधक साम्य भाव पूर्वक अन्तरंग कषायों का सम्यक् प्रकार से दमन करते हुए, भोजन आदि का त्याग करके, धीरे-धीरे शरीर को कृश करते हुए, इसका त्याग कर देते हैं। इसे ही सल्लेखना या समाधि मरण कहते हैं। सम्यग्दृष्टि जनों को यह

दशा सम्भव होने से इसे पण्डित मरण कहते हैं। शरीर के प्रति जो स्वभाव से ही उपेक्षित है, ऐसे श्रावक व साधु को ऐसे अवसरों पर अथवा आयु पूर्ण होने पर ही इस प्रकार की वीरता का त्याग योग्य है। इसे आत्महत्या कहना न्यायोचित नहीं है। राग-द्वेष और मोह से युक्त होकर जो विष और शस्त्र आदि उपकरणों का प्रयोग करके उनसे अपना घात करता है उसे आत्मघात का दोष लगता है परन्तु सल्लेखना को प्राप्त हुए जीव के रागादिक नहीं है। अतः इसे आत्मघात का दोष प्राप्त नहीं होता है।[263] रागादिक का होना ही हिंसा है।[264]

मरण किसी को भी इष्ट नहीं है। जैसे, नाना प्रकार की विक्रय वस्तु के देने, लेने और संचय में लगे हुए किसी व्यापारी को अपने धन का नाश होना इष्ट नहीं है; फिर भी परिस्थितिवश उसके विनाश के कारण उपस्थिति हों, तो यथाशक्ति वह उनको दूर करता है। इतने पर भी यदि वे दूर न हो सकें तो, जिससे विक्रय वस्तु का नाश न हो, ऐसा प्रयत्न करता है। इसी प्रकार व्रत और शील में जुटा हुआ व्यक्ति इनके आधारभूत आयु का पतन नहीं चाहता। यदि कदाचित् उनके विनाश के कारण उपस्थित हो जाएं, तो जिससे अपने गुणों में बाधा नहीं पड़े, इस प्रकार उनको दूर करने का प्रयत्न करता है। इतने पर भी यदि वे दूर न हो तो जिससे अपने गुणों का घात न हो इस प्रकार का प्रयत्न करता है। अतः इसे आत्मघात नहीं कह सकते।[265] सल्लेखनागत साधु को क्षपक कहते हैं। पीड़ाओं के प्राप्ति की सम्भावना हेतु इस विधि में निर्यापकों, परिचारकों, वैयावृत्ति, उपदेश आदि का महत्वपूर्ण स्थान है। इन सब का सम्पूर्ण विवेचन क्रमशः प्रस्तुत है।

भली-भाँति काय और कषाय का लेखन अर्थात् कृश करना सल्लेखना है, अर्थात् बाह्य शरीर का, और भीतरी कषायों को, कृश करना सल्लेखना कही गयी है। उत्तरोत्तर काय और कषाय को पुष्ट करने वाले कारणों को घटाते हुए भले प्रकार से लेखन करना अर्थात् कृश करना सल्लेखना है।[266] यह सल्लेखना दो प्रकार की होती है। "आत्म संस्कार के अनन्तर उसके लिए ही क्रोधादि कषाय रहित अनन्त ज्ञानादि गुण लक्षण परमात्म पदार्थ में स्थित होकर रागादि विकल्पों को कृश करना भाव सल्लेखना है, और उस भाव सल्लेखना के लिए कायक्लेश रूप अनुष्ठान करना अर्थात् भोजन आदि का त्याग करके शरीर को कृश करना द्रव्य सल्लेखना है। इन दोनों रूप आचरण करना सल्लेखना काल है।[267]

शरीर त्याग के लिए प्रवेश करने से पूर्व में प्रतिज्ञा स्वरूप यह संकल्प लिया जाता है कि "निर्विकल्प सामायिक को स्वीकार करते हुए अपने सम्पूर्ण अतीत, अनागत एवं वर्तमान के दुश्चरितों को मन-वचन-काय से त्याग करता हूँ।" एवं च बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह को, शरीर आदि को और भोजन, सभी को मन-वचन-काय पूर्वक तीन प्रकार से त्यागता हूँ। इस प्रकार वहिरंग समस्त हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाप एवं पापों के विषयों का त्याग

पूर्वक सामायिक स्थित श्रमण का स्वरूप बतलाते हुए कहा कि मेरा "**सभी जीवों में समताभाव है, मेरा किसी के साथ वैर नहीं है,**" सम्पूर्ण आशाओं को त्यागता हुआ कहता है कि, सभी जीवों को मैं क्षमा करता हूँ, सभी जीव मुझें क्षमा करें, सभी जीवों के साथ मेरा मैत्री भाव है, मेरा किसी के साथ वैरभाव नहीं है। एवं वह श्रमण मात्र वैर का ही त्याग नहीं करता है। अपितु वैर के निमित्त राग का अनुबन्ध, प्रकृष्ट द्वेष, हर्ष, दीन भाव, उत्सुकता, भय, शोक, रति, और अरति का भी त्याग करता है।[268] इस प्रकार ममत्व को छोड़ता हुआ निर्ममत्व को प्राप्त उस श्रमण के लिए आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र में स्थिति का नाम ही प्रत्याख्यान है।

इस प्रकार का प्रत्याख्यान आचरते हुए सम्पूर्ण प्रमादों को छोड़ने के अभिप्राय से सात भय, आठ मद, चार संज्ञा, तीन गौरव, तैतींस आसादना तथा राग-द्वेष की गर्हा करता है। आत्म-संस्कार काल से सन्यास काल तक की आलोचना के लिए वह निन्दा करने योग्य की निन्दा करता है, गर्हा करने योग्य दोष की गर्हा करता है, तथा बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह सहित सम्पूर्ण उपधि की आलोचना करता है; और यह आलोचना बालक जैसी होती है, अर्थात् जैसे बालक पूर्वापर विवेक से रहित होकर बोलता है, अपने प्रयोजनभूत अर्थात् उचित कार्य को तथा अप्रयोजनभूत अर्थात् अनुचित कार्य को सरल भाव से कह देता है, उसी प्रकार से अपने कुछ दोषों को छिपाने रूप माया और असत्य वचन को छोड़कर आलोचना करता है। और यह आलोचना, ज्ञान दर्शन-तप और चारित्र इन चारों में भी अविचल है, धीर हैं, आगम में निपुण हैं। और गुप्त दोषों को प्रकट करने वाले नहीं हैं-ऐसे आचार्य के समक्ष करनी चाहिए। योग्य आचार्य के समक्ष अपनी आलोचना करके पुनः क्षमा याचना करते हुए कहता है कि "जो मैंने राग से अपने द्वेष से न करने योग्य कार्य किया है, प्रमाद से जिसके प्रति कुछ भी कहा है उन सब से मैं क्षमा याचना करता हूँ।" अथानन्तर वह सन्यास विधि में उद्यत होता है।

सन्यास विधि में उद्यत होने का निर्देश बतलाते हुए आचार्य शिवार्य कहते हैं कि "महाप्रयत्न से चिकित्सा करने योग्य ऐसा कोई दुस्तर होने पर, श्रामण्य की हानि करने वाली अतिशय वृद्धावस्था आने पर अथवा निःप्रतिकार देव, मनुष्य व तिर्यंच कृत उपसर्ग आ पड़ने पर, भयंकर दुष्काल आ पड़ने पर, हिंसक पशुओं से पूर्ण भयानक वन में दिशा भूल जाने पर, आँख,कान व जंघा बल अत्यन्त क्षीण हो जाने पर (इससे यह फलित होता है कि श्रमण चश्मा व डोली का उपयोग नहीं कर सकते हैं) भक्त प्रत्याख्यान के योग्य समझ जाते हैं।[269] परन्तु पूर्व में कहे गये सर्व कारण उपस्थित न होने पर भी मुनि मरण की इच्छा करेगा, तो वह मुनि चारित्र से विरक्त ही समझना चाहिए।[270]

इस सल्लेखना की भावना व अभ्यास जीवन पर्यन्त करना चाहिए क्योंकि अनभ्यास वश अन्त समय सल्लेखना धरना अत्यन्त कठिन होता है। मरण समय में रत्नत्रय की

विराधना करने से विराधक को दीर्घकाल तक संसार में भ्रमण करना पड़ता है। परन्तु दीक्षा, शिक्षा आदि में विराधना हो गयी हो, तो भी मरण काल में रत्नत्रय रूप परिणति करना चाहिए। तथापि इतने कालों में की गयी आराधना भी विफल नहीं होती, उससे कम का संवर व निर्जरा होती है।[271]

सल्लेखना मरण के दो भेद होते हैं-(1) सविचार भक्त प्रत्याख्यान (2) अविचार भक्त प्रत्याख्यान। जो श्रमण उत्साह व बलयुक्त हैं, जिनका कुछ काल के अनन्तर मरण होगा, उनके सविचार मरण होता है। इसके विपरीत अकस्मात् मरण के आ जाने पर पराक्रम रहित साधु का मरण अविचार भक्त प्रत्याख्यान है।

"उत्कृष्ट भक्त प्रत्याख्यान मरण की इच्छा रखने वाले मुनि ज्योतिष शास्त्र अथवा निमित्त शास्त्रों से या अन्य किसी भी उपायों से अपनी आयु का निर्णय कर लेते हैं, कि हमारी आयु बारह वर्ष प्रमाण रह गयी है; अथवा इससे कम रह गयी है, क्योंकि बारह वर्ष से अधिक आयु रहने पर सल्लेखना के नियम नहीं रह सकते हैं।[272]

ये श्रमण बारह वर्षों में से प्रारम्भ के चार वर्ष तो विविध रूप से अनशन, अवमौदर्य, सर्वतोभद्र आदि तपों का अनुष्ठान करते हुए सम्पूर्ण करते हैं। तथा आगे के चार वर्ष रस-परित्याग नामक तप से पूर्ण करते हैं। पुनः दो वर्ष तक कभी अल्प आहार कभी नीरस आहार करते हुए व्यतीत करते हैं। पश्चात् एक वर्ष तक अल्प आहार लेते हुए पूर्ण करते हैं। आगे के छह महीने तक उत्कृष्ट तप करते हुए बारह वर्ष पूर्ण करते हुए शरीर त्यागते हैं।

सल्लेखना करने वाले यदि आचार्य हों तो वे जब तक आयु का अन्त निकट न आवे, तब तक अपने गण के हित की चिन्ता करते हैं। अपनी आयु अभी कितनी रही है, इसका विचार कर तदनन्तर अपने शिष्य समुदाय को और अपने स्थान में जिसकी स्थापना की है, ऐसे बालाचार्य को बुलाकर सौम्य तिथि, करण, नक्षत्र और लग्न के समय, शुभ प्रदेश में, अपने गुण के समान जिसके गुण हैं, ऐसा वह बालाचार्य गच्छ का पालन करने के लिए योग्य है- ऐसा विचार कर उस पर अपने गण को विसर्जित करते हैं, और उस समय उसे थोड़ा-सा उपदेश भी देते हैं। तथा स्वयं अलग होकर बाल वृद्ध आदि मुनियों से पूर्ण ऐसे गण से मन-वचन-काय से वह आचार्य क्षमा मांगते हैं। हे मुनिगण! तुम्हारे साथ मेरा दीर्घकाल तक सम्पर्क रहा। मैंने ममत्व से, स्नेह से, द्वेष से, आपको कटु और कठोर वचन कहे होंगे। इसलिए आप सब मेरे ऊपर क्षमा करेंगे ऐसी आशा है। वह क्षपक अपने मस्तक पर दो हाथ रखकर सर्व संघ को नमस्कार करते हैं और साधर्मिकों में अनुराग उत्पन्न करते हुए क्षमा ग्रहण करते हैं। मन-वचन और काय के द्वारा जो-जो अपराध मैंने किये हैं, उनके लिये आप लोग मुझे क्षमा करो।

आचार्य सल्लेखना कभी अपने संघ में नहीं करते हैं। अपने संघ में सल्लेखना करने से होने वाले दोषों को बतलाते हुए आचार्य शिवार्य कहते हैं कि-"आचार्य, आराधना के निमित्त परगण की इच्छा मन में धारण करते हैं। स्व-संघ में रहने से आज्ञाकोप, कठोर वचन, कलह, दुख, विषाद, खेद वगैरह, निर्भयता, स्नेह, कारुण्य, ध्यानविघ्न और असमाधि ये दोष उत्पन्न होते हैं। जब आचार्य अन्य गण में जाते हैं, तब उस गणस्थ मुनियों को वे उपदेश-आज्ञा नहीं करते, जिससे उनके द्वारा आज्ञा भंग का प्रसंग नहीं आता है। और यदि कदाचित् आज्ञाभंग हो भी जाए तो भी "इन पर तो मैंने कोई उपकार किया नहीं है, जो कि ये मेरी आज्ञा मानें" ऐसा विचार कर उनको वहाँ असमाधि दोष उत्पन्न नहीं होता है। अथवा अपने संघ में क्षुल्लकादि मुनि, कलह, शोक, सन्तापादि परस्पर में करते हुए देखकर आचार्य की अपने संघ के प्रति ममता होने से चित्त की एकाग्रता नष्ट हो जाएगी। समाधि-मरण उद्यत आचार्य को भूख-प्यास, वगैरह का दुख सहन करना चाहिए। परन्तु वे अपने संघ में रहकर निर्भय होकर आहार जल वगैरह पदार्थों की याचना करेंगे, अथवा स्वयं आहारादि का सेवन करेंगे, और भय व लज्जा रहित होकर छोड़ी हुयी अयोग्य वस्तुओं का भी ग्रहण करेंगे। स्वगण में रहने वाले आचार्यों को ये दोष होंगे, तथा जो आचार्य के समान उपाध्याय तथा प्रवर्तक मुनि हैं उन्हें भी स्वगण में रहने से ये दोष होंगे। संसार भीरू, पाप भीरू और आगम के ज्ञाता आचार्य के चरणमूल में ही वह यति समाधि मरणोद्यमी होकर आराधना (सल्लेखना) की सिद्धि करता है।[273]

जब श्रमण दूसरे संघ में सल्लेखना के लिए जाते हैं तो वह रत्नत्रय की आराधना के लिए उत्साही है या नहीं, इसकी परीक्षा करके अथवा मिष्ठ आहारों में यह अभिलषित है या विरक्त, इसकी परीक्षा करके ही आचार्य उसे अनुज्ञा देने का निर्णय करते हैं। इसकी समाधि निर्विघ्न समाप्त होगी या नहीं, इस विषय का भी आचार्य शुभाशुभ निमित्तों से निर्णय कर लेते हैं। क्षपक के परिणामों की सरलता की पहिचान के लिए उसकी तीन बार सम्पूर्ण आलोचना सोपाय पूँछते हैं, यदि तीनों बार एक सी आलोचना कहता है तो सरल स्वभाव का मान लेते हैं।

योग्य निर्यापक:-

जिस प्रकार निर्यापक, योग्य श्रमण को समाधि मरण देते हैं। उसी प्रकार श्रमण भी योग्य निर्यापक से ही समाधि मरण लेते हैं। जो समाधि मरण लेता है वह 500, 600, अथवा 700 अथवा इससे भी अधिक योजन तक विहार करके शास्त्रोक्त निर्यापक की खोज करता है। वह एक, दो, तीन वर्ष से लेकर बारह वर्ष तक खेदयुक्त न होता हुआ जिनागम से निर्णीत निर्यापकाचार्य का अन्वेषण करता है। निर्यापकत्व की शोध करने के लिए विहार करने से क्षपक को आचारशास्त्र, जीत शास्त्र, और कल्पशास्त्र इनके गुणों का प्रकाशन होता है। आत्मा की शुद्धि होती है, संक्लेश परिणाम नष्ट होते हैं। आर्जव, मार्दव, आदि धर्म प्रकट होते हैं।[274] एक निर्यापक एक ही सल्लेखना लेने वाले श्रमण को एक

काल में ग्रहण करता है।

सल्लेखना प्राप्त हो रहे क्षपक को, 48 निर्यापक और कम से कम 4 निर्यापक सल्लेखना करा सकते हैं। कदाचित् चार मुनि भी न मिल सकें तो दो मुनि अवश्य ही होना चाहिए, क्योंकि एक निर्यापक का विधान आगम में नहीं है। बल्कि एक निर्यापक होता है तो निर्यापक के द्वारा आत्मा का भी त्याग होता है, क्षपक का भी त्याग होता है और प्रवचन का भी त्याग होता है, तथा दुःख उठाना होता है। क्षपक का असमाधिपूर्वक मरण होता है, धर्म में दूषण लगता है और दुर्गति होती है।[275] ये निर्यापक, योग्यायोग्य आहार को जानने में कुशल, क्षपक के चित्त में समाधान करने वाले, प्रायश्चित्त ग्रन्थ के रहस्य को जानने वाले, आगमज्ञ स्व-पर का उपकार करने में तत्पर होते हैं।

अड़तालीस मुनियों का कार्य भेद बतलाते हुए आचार्य शिवार्य बतलाते हैं। "चार मुनि क्षपक को उठाना, बिठाना, आदि सेवा का काम, संयम में बाधा न आये इस प्रकार से करते हैं।

चार यति, क्षपक को धर्म श्रवण कराते हैं।
चार मुनि, आचारांग के अनुकूल क्षपक को आहार देते हैं।
चार मुनि, क्षपक के लिए आहार में पेय पदार्थों की व्यवस्था करते हैं।
चार मुनि, निष्प्रमादी हुए आहार के वस्तुओं की देखभाल करते हैं।
चार मुनि, क्षपक के मल-मूत्रादि विसर्जन, वसतिका, उपकरण, संस्तर आदि को स्वच्छ रखते हैं।
चार मुनि, क्षपक की वसतिका के दरवाजे पर प्रयत्नपूर्वक रक्षा करते हैं। अर्थात् असंयत आदि अयोग्य जनों को अन्दर आने से रोकते हैं।
चार मुनि, उपदेश मंडप के द्वार के रक्षण का भार लेते हैं।
निद्रा विजयी चार मुनि क्षपक के पास रात्रि में जागरण करते हैं।
चार मुनि, जहाँ संघ ठहरा है उसके आस-पास के शुभाशुभ वातावरण का निरीक्षण करते हैं।
चार मुनि, आये हुए दर्शनार्थियों को सभा में उपदेश देते हैं।
चार मुनि, धर्म-कथा कहने वाले मुनि की सभा में रक्षा का भार लेते हैं।[276]

यदि कोई क्षपक समाधिमरण कर रहा है तो अन्य श्रमण भक्ति सहित उसकी सल्लेखना देखने आते हैं। एवं उससे प्रेरणा लेते हैं। जो यति तीव्र भक्तिराग से सल्लेखना के स्थान पर जाते हैं, वे देवगति का सुख भोगकर उत्तम स्थान मोक्ष को प्राप्त करते हैं। तथा समाधि का साधन कोई मुनि करता है, ऐसा सुनकर भी जो तीव्र भक्ति से युक्त होकर यदि नहीं जाता तो उसकी समाधि मरण में क्या भक्ति हो सकती है? और जिसकी

समाधि मरण में भक्ति नहीं है, उसका मरते समय समाधिपूर्वक मरण नहीं होता है।[277] इस क्षपक के पास अधिक बोलने वाले आगम विरुद्ध भाषी या विकथा आदि करने वाले श्रमण या श्रावक नहीं जा सकते हैं। परिचारक मुनि क्षपक को ऐसा उपदेश सुनाते हैं कि, जिससे वे अपने चरित्र में पूर्णतया दृढ़ बने रहते हैं, रोग, वेदना आदि की व्याकुलता से अधीर नहीं हो पाते हैं। क्योंकि "विषय सुख का विरेचन कराने वाले और अमृतमय ये जिनवचन ही औषधि हैं। ये जरा-मरण और व्याधि से होने वाली वेदना को तथा सर्व दुखों को नष्ट करने वाले हैं।"[278] यदि कदाचित् क्षपक को वेदना की उग्रता हो तो उपर्युक्त स्थिति में कटु वचन न बोलकर विभिन्न कथाएं सुनाकर स्थिति करण करते हैं। आचार्य, क्षपक को आहार की गृद्धि से संयम की हानि व असंयम की वृद्धि दर्शाते हैं। जिससे सुनकर वह सम्पूर्ण अभिलाषा का त्याग करके वैराग्य युक्त हो जाता है। तदनन्तर आचार्य आहार का क्रमशः त्याग कराते हुए, क्षपक को अत्यन्त क्षीण देखकर जल का भी त्याग करा देते हैं। परन्तु परिणामों में संक्लेश भाव न हो ऐसा कार्य ही किया जाता है। इस प्रकार शान्ति पूर्वक क्षपक की सविचार सल्लेखना हो जाती है।

सहसा मृत्यु की स्थिति में अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण कहलाता है। इसमें आचार्य या साधु देश-काल के उपसर्ग के समय यह प्रतिज्ञा करते हैं, कि यदि मेरा जीवन नहीं रहेगा, तो मेरे यह चतुर्विध आहार का त्याग है, और यदि उस देश काल में उपसर्ग का निवारण हो जाने पर जीवन का अस्तित्व रहता है तो मैं आहार ग्रहण करूँगा। जीवित रहने के सन्देह में ही इस प्रकार का प्रत्याख्यान ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार की सल्लेखना अकंपनाचार्य ने ग्रहण की थी। इस प्रकार छठे गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक के श्रमण पंडितमरण एवं क्षीणकषायी अयोग केवली भगवान पंडित-पंडित मरण करते हैं जिसको निर्वाण भी कहते हैं।

सदोष श्रमण :

दोष एक मानवीय वृत्ति है। अतः यह एक बहुत बड़ा विचारणीय अपराध नहीं है। मानव जाति के एक लम्बे जीवन में उतार/चढाव, गिरना/उठना यह तो होता ही रहता है। अतः यह उतना बड़ा अपराध नहीं है, जितना कि गिरकर भी उठने का प्रयत्न न करना तथा इससे भी बढकर जघन्य-तम अपराध यह है कि, गिरने के बाद उसमें संतुष्ट होकर और उसके औचित्य को सिद्ध करना और प्रसन्नचित्त होकर उस पतित परम्परा को प्रोत्साहित करते हुए प्रचार-प्रसार करना; यह मानवीय नैतिकता का त्रिकाल अक्षम्य जघन्य-तम अपराध मैं समझता हूँ क्योंकि इसमें एक सम्पूर्ण आदर्शों की ही त्रिकाल के लिए समाधि होती है, और यह उस समय और भी ज्यादा महत्वपूर्ण चिन्तनीय है, जबकि वह अपराधी सार्वजनिक क्षेत्र का रहा हो। प्रत्येक प्रबुद्धवर्ग का यह नैतिक दायित्व है कि वह उन अपराधियों को सचेत करे और सन्मार्ग पर लाए। यदि कोई "छिद्रान्वेषी" कहकर आलोचित करे, तो वह इस शाब्दिक विशेषण को अपने लिए गौरवपूर्ण माने।

द्वेषमूलक भावों से पूर्ण छिद्रान्वेषण निन्दनीय कहा जा सकता है। किसी प्रयोजन आदि की अपेक्षा किसी के दोषों को गौण किया जा सकता है, परन्तु श्रद्धा के केन्द्र पर ही विद्यमान दोष को गौण करना अविवेक एवं अन्धश्रद्धा की ही परिचायक है। बनती हुयी नाव मैं विद्यमान छिद्र को उसके सौन्दर्य आदि की अपेक्षा से तथा अभी बन रही है, परिपूर्ण नहीं है अतः उसके छिद्र को गौण करना, स्वीकृत हो सकता है; परन्तु तैरती हुयी नाव में सुई के बराबर छिद्र को गौण करना, अपनी साक्षात् मृत्यु को ही वरण करना है। तैरती हुयी नाव में किसी यात्री के द्वारा छिद्रान्वेषण एक प्रशंसनीय कार्य है, क्योंकि उसमें सभी यात्रियों की जीवन रक्षा का कार्य हुआ है। छिद्रान्वेषण, यह कतई आवश्यक नहीं कि एक इंजीनियर ही करे, परन्तु वह बालक भी जो उस नाव में यात्रा कर रहा है छिद्रान्वेषण प्राण- रक्षा हेतु कर सकता है। परन्तु इन सब कार्यों में यह एक बहुत बडी शर्त है कि वह द्वेषमूलक न हो, दूसरों को नीचे गिराने की प्रवृत्ति न हो तो, एक सदभिप्राय से किया गया छिद्रान्वेषण नैतिक अपराध नहीं है।

श्रमण तैरती हुयी नाव है, यदि सात तत्वों की भाषा में कहें तो संवर और निर्जरा करने वाले एक व्यक्तित्व हैं। नाव उसे ही कहते हैं कि जो तैरकर खुद पार होवे, तथा दूसरों को भी पार करे, इसी में उसके स्वरूप की सुरक्षा और उसका सौन्दर्य हे। पानी के बाहर रखी हुयी नाव तो एक लकडी का पिटारा ही है, फिर भले ही वह कितनी ही सुन्दर क्यों न हो। जो **नाव का कार्य करे वही नाव है।** तैरती हुयी नाव पर छिद्रान्वेषण का हमें पूर्ण अधिकार है। नाविक यदि इसके लिए मना करे तो हमें ऐसी नाव को तिलांजलि दे देनी चाहिए। ऐसे ही, श्रमण संसार समुद्र को पार करने वाली ऐसी नाव है, जो खुद तैरती है और दूसरों को भी इसके लिए प्रेरित करती है। अतः **उनमें आगत थोड़ा सा भी दोष, उनको तो डुबोयेगा ही साथ ही अनन्त जीवों का घात करेगा।** अतः मात्र उनके दोष को देखकर बतलाया जाना यह बात नहीं, अपितु अनन्त जीवों के होने वाले अहित को बचाने के सदभिप्राय रूप **लोकोपकार की भावना से दोष को बतलाना मानवता की एक बहुत बड़ी सेवा है। अतः इस लोकोपकार की महत्तम भावना को लेकर सदोष श्रमण स्वरूप की मीमांसा का यह प्रकरण अपने शोध निबन्ध में लिया है।** मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, अतः प्रत्येक का यह कर्तव्य है कि वह समाज का सही दिशा निर्देशन करे। श्रमण सामाजिक नहीं परन्तु समाज को प्रभावित करने वाले प्राणी हैं, अतः उसके स्वरूप की मीमांसा भी अतिआवश्यक है। **श्रमण यदि देश और समाज का बहुत उपकार करते रहे हैं,** तो श्रमण के शिथिल वर्ग ने देश और समाज का बहुत बडा अपकार भी किया है। दकियानूसी, अन्धविश्वासी, दैवत्व की भावना को ठेस पहुँचाने वाले भी रहे हैं। वर्तमान काल में इसका ज्वलन्त प्रमाण जैन समाज में सत् साहित्य का बहिष्कार, शिक्षा में रुकावट "लघुविद्यानुवाद" के रूप में योनाचार को बढ़ावा देने वाले ये श्रमणाभास ही रहे हैं।

श्रमण वर्ग में आगत वर्तमान में शिथिलता यह कोई अनहोनी बात नहीं है। जब हम प्राचीन साहित्य, एवं शिलालेखों का अध्ययन करते हैं; तो हम यह पाते हैं कि पहले भी श्रमण वर्ग में काफी शिथलताएं रहीं थीं, और उसी को वे अपना स्वरूप येन- केन प्रकारेण माने बैठे थे। परन्तु समय-समय पर सच्चे श्रमण हुए जिन्होंने आदर्श जीवन-यापन करते हुए इनका विरोध किया।

शिथिलता के सबसे ज्यादा अवसर भोगोपभोग के साधना स्थल शहर हैं। अतः प्राचीन काल में श्रमण शहर में मात्र आहार व धर्मोपदेश के निमित्त ही आते थे और शेष काल वन-उपवन में ही रहते थे। मूलाचार में कहा कि हे मुनि! भिक्षावृत्ति से भोजन करो, वन में रहो एवं लोक व्यवहार रहित एकाकी स्थान में परिग्रह रहित होओ[279] किन्तु धीरे-धीरे पाँचवी छठी शताब्दी के पश्चात् कुछ साधु चैत्यालयों में स्थायी रूप से निवास करने लगे। इससे श्वेताम्बर समाज में वनवासी और चैत्यवासी सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये। तो दिगम्बर सम्प्रदाय में उसी काल में कुछ साधु चैत्यों में रहने लगे।[280]

प्राणी जगत का यह मनोविज्ञान है कि यदि अनधिकृत स्थल पर वह कुछ समय रहने लगे, और कोई आपत्ति न करे अथवा न कर सके, तो फिर उस स्थल पर अपने अधिकार का दावा सा करने लगता है, क्योंकि फिर उसकी मनोवृत्ति उसी जगह पर रहने की हो जाती है। वर्तमान काल में मकान/दुकान के किरोदार भी यदि कुछ वर्ष किराये पर कहीं रह लें, तो उनको हटाना मुश्किल है तथा वह भी उस अनधिकृत जगह पर अपने अधिकार का ही दावा करने लगता है। जिससे समाज में विसंवाद पैदा होता है। यही स्थिति श्रमण वर्ग में चैत्यवास में रहने को प्रेरित की होगी। श्रामण्यार्थी को दीक्षा हेतु वन में जाने का विधान है, और जैन कथानकों में ऐसे ही सभी कथानक मिलते हैं। एक घर को छोड़कर दूसरे घर में रहकर अपने को साधु घोषित करना, गजस्नान है; जैसे हाथी पहले स्नान करे, परन्तु बाद में फिर अपने मस्तक पर मिट्टी डाले तो स्नान का औचित्य ही क्या रहा? जो पुरुष संसार के विषय कषायों को छोड़कर मुनि बनना चाहता है, तो क्या वह विषय कषाय के स्थलों को नहीं छोडेगा? और ये स्थल शहर हैं अतः शहर में श्रमण नहीं रह सकते हैं, यह तो "लौट कर बुद्धू घर को आये" जैसी स्थिति है। शहर में लोगों के मध्य में रहने से, श्रमण में दोषों की सम्भावना तो रहती है ही, साथ ही श्रावकों का श्रमण से अति परिचय होने से उनमें कदाचित् विद्यमान दोषों का परिचय होने से श्रमण वर्ग के प्रति अश्रद्धा भी होती है।

यह हम पहले ही कह आये हैं कि श्रमण भी एक मानव हैं, अतः उनमें भी सूक्ष्म दोष कदाचित् आते हैं, परन्तु वे आचार्य के समीप जाकर प्रायश्चित्त विधि से दोष मुक्त होकर शुद्ध हो जाते हैं अथवा आचार्य उनको उचित दंड आदि देकर शुद्ध कर लेते हैं। परन्तु यह सब श्रावकों को भी पता चल जाने पर, सम्पूर्ण संघ ही अश्रद्धेय होता है, लोगों में श्रमणों

के प्रति अविश्वास होता है। अतः मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी श्रमणों को वन आदि, एकान्तादि स्थान में रहना श्रेयस्कर है। जैनागम में भी इसी कारण वन में ही रहने का विधान भी है। परन्तु जब श्रमणों का कुछ वर्ग शहरों में रहने लगा, और भक्तों ने कोई आपत्ति नहीं की, तो कालान्तर में श्रमण वर्ग शहर में रहने का अपना अधिकार सिद्ध करने लगे। क्योंकि शिथिलता एक अमर बेल है, जो जल्दी फैलती और पनपती है उसे तो थोड़ा सा अवलम्बन चाहिए। कालान्तर में चैत्यवासी श्रमण अपना यह अधिकार मान बैठे और चैत्यवास से आगे शहर के मध्य धर्मशाला, मन्दिरों पर उनका जन्म- सिद्ध अधिकार- सा हो गया। कुछ श्रावक वर्ग ने श्रमणों की इस परिणति को ही मूलरूप मानकर लगभग स्वीकृति दे दी।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों की प्राचीन परम्पराएं चैत्यवास की कदापि समर्थक नहीं रहीं, दोनों ही वनवास के ही पोषक रहे, परन्तु पश्चातवर्ती शिथिलाचारी कुछ आचार्यों ने बढती हुयी चैत्यवास की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया। जबकि प्रारम्भ से सल्लेखना आदि के समय शहर के बाहर स्थित चैत्यवास का विधान था। चैत्यवास की प्रवृत्ति के कारणों पर स्पष्टतः प्रकाश डालते हुए डॉ. हीरालाल जी जैन लिखते हैं कि -"चैत्यवास की प्रवृत्ति आदितः सिद्धान्त के पठन-पाठन व साहित्य सृजन की सुविधा के लिए प्रारम्भ हुयी होगी, किन्तु धीरे-धीरे वह एक साधुवर्ग की स्थायी जीवन-प्रणाली बन गई, जिसके कारण नाना मंदिरों में भट्टारकों की गद्दियाँ व मठ स्थापित हो गये। इस प्रकार भट्टारकों के आचार में शैथिल्य व परिग्रह अनिवार्यतः आ गया।[281]

विक्रम की आठवीं शती के प्रसिद्ध दार्शनिक श्वेताम्बर आचार्य हरिभद्र ने "संबोध प्रकरण" के गुर्वाधिकार में मठवासी साधुओं के भ्रष्टाचार को प्रस्तुत करते हुए कहा कि-

"ये कुसाधु चैत्यों और मठों में रहते हैं, पूजा करने का प्रारम्भ करते हैं, देव द्रव्य का उपभोग करते हैं, जिनमंदिर और शालाएं चिनवाते हैं। रंगबिरंगे धूपवासित वस्त्र पहनते हैं, बिना नाथ के बैलों के सदृश स्त्रियों के आगे गाते हैं, आर्यिकाओं द्वारा लाए गये पदार्थ खाते हैं, और तरह-तरह के उपकरण रखते हैं। जल, फल, फूल आदि सचित्त द्रव्यों का उपभोग करते हैं। दो- तीन बार भोजन करते और ताम्बूल लवंगादि भी खाते हैं।

ये मुहुर्त निकालते हैं, निमित्त बतलाते हैं, भभूत भी देते हैं, ज्योनारों में मिष्ट आहार प्राप्त करते हैं, आहार के लिए खुशामद करते और पूछने पर भी सत्य धर्म नहीं बतलाते।

स्वयं भ्रष्ट होते हुए भी दूसरों से आलोचना-प्रतिक्रमण कराते हैं। स्नान करते, तेल लगाते, श्रृंगार करते, और इत्र-फुलेल का उपयोग करते हैं।

अपने हीनाचारी मृतक गुरूओं की दाह-भूमि पर स्तूप बनवाते हैं। स्त्रियों के समक्ष व्याख्यान देते हैं और स्त्रियाँ उनके गुणों के गीत गाती हैं।

सारी रात सोते, क्रय-विक्रय करते और प्रवचन के वहाने विकथाएं करते हैं। चेला बनाने के लिए छोटे-छोटे बच्चों को खरीदते, भोले लोगों को ठगते और जिन प्रतिमाओं को भी बेचते-खरीदते हैं। उच्चाटन करते और वैद्यक, यंत्र, मंत्र, गंडा, ताबीज आदि में कुशल होते हैं।

ये श्रावकों को सुविहित साधुओं के पास जाते हुए रोकते हैं, शाप देने का भय दिखाते हैं, परस्पर विरोध रखते हैं, और चेलों के लिए एक दूसरों से लड़ मरते हैं।[282] इसी प्रकार का विस्तृत वर्णन 12 वीं सदी में जिनबल्लभ सूरि ने संघ पट्टक में चैत्यवासियों की स्थिति का किया है।

श्वे. आचार्य हरिभद्र द्वारा वर्णित उपर्युक्त भ्रष्टाचार सम्पूर्ण रूप से आज भी दिगम्बर एवं श्वेताम्बर श्रमण संघ में पूर्णतः व्याप्त है। तथा अब तो ये शिथिल श्रमण किसी प्रकाशक विशेष के प्रकाशन के वहिष्कार की आड़ में सत्साहित्य के प्रकाशनों के वहिष्कार का श्रावकों को आदेश तक देते हैं, ऐसे पत्र छपवाकर मन्दिरों में लगवाते हैं। फिर भी अपने को चारित्र चक्रवर्ती मानते हैं। इन्हें यह भी पता नहीं है कि, ये भारतीय संविधान में नागरिकों को प्राप्त "मौलिक अधिकार" का हनन कर देशद्रोही हैं। फिर भी इन्हें श्रमण मानकर इनके भक्त इन्हें पूजते हैं।

नवीं शती के आचार्य गुणभद्र के समय दिगम्बर मुनियों की प्रवृत्ति नगरवास की ओर विशेष बढ़ रही थी, इसकी कटु आलोचना करते हुए "आत्मानुशासन" में वे कहते हैं कि "जिस प्रकार इधर-उधर से भयभीत मृग रात्रि में वन को छोड़कर गाँव के समीप आ जाते हैं, उसी प्रकार इस कलिकाल में मुनिजन भी वन को छोड़ गाँव के समीप रहने लगे हैं। यह खेद की बात है।[283]

बारहवीं सदी के पंडित प्रवर आशाधर ने "अनगार धर्मामृत" के दूसरे अध्याय में इन चैत्यवासी नग्न साधुओं को लक्ष्य करके कहा कि "तथा तीसरे प्रकार के साधु वे हैं, जो द्रव्यजिनलिंग को धारण करके मठों में निवास करते हैं, और मठों के अधिपति बने हुए हैं और म्लेच्छों के समान आचरण करते हैं।[284]

वि.सं. 1294 में श्वेताम्बर आचार्य महेन्द्रसूरि ने शतपदी नामक ग्रन्थ बनाया। उन्होंने उसके "दिगम्बर मत विचार" वाले प्रकरण में दिगम्बर श्रमणों की (भ्रष्ट) स्थिति का वर्णन किया है। जिसके अनुसार उस समय दिगम्बर साधु मठों में रहते थे, अपने लिए पकाया

हुआ (उद्दिष्ट) भोजन करते थे, एक ही स्थान पर महीनों रहते थे, शीतकाल में अंगीठी का सहारा लेते थे, पयाल के बिछोने पर सोते थे, तेल मालिश कराते थे। सर्दी के मारे जिनमन्दिरों के गूढ मण्डप (गर्भालय, तलघर) में रहते थे। मंत्र, तंत्र, ज्योतिष आदि विद्याओं का उपयोग करते थे।"

इस 10-12 सदी में श्रमणों में भ्रष्टाचार अपनी चरम सीमा में था। नग्न भट्टारक कुमुदचन्द्र पालकी पर बैठते थे, उन पर छत्र लगा हुआ था।[285] इन सब भ्रष्टाचारों से प्रभावित होते हुए उनको वैध करार देते हुए भट्टारक श्रुतसागर ने तत्वार्थसूत्र की संस्कृत टीका में "द्रव्यलिंगी मुनि शीतकाल में कम्बल आदि ले लेते हैं, और दूसरे समय में उन्हें त्याग देते हैं।[286] इस रूप में साहित्यिक रूप से भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन दिया। फिर तो श्रमण खेती कराने लगे, दान लेने लगे, राजनीति में भाग लेने लगे। जो कि आज तक प्रचलित है। आज के लगभग सभी साधु दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में ; मन्दिर, धर्मशालाओं, तलघरों में शहर के मध्य रहते हैं, उद्दिष्ट आहार लेते हैं। विमलसागर का संघ तो मोटरगाड़ी लेकर चलता है, मन्त्र- तन्त्र करते हैं, दिन में भी सोते हैं। सर्दियों में पयाल का उपयोग करते हैं। आचार्य धर्मसागर और उन का संघ तो समयसार-प्रवचनसार आदि सत्साहित्य को पढ़ने से रोकता है, एवं इनका मन्दिरों से निष्कासन का आदेश देते हैं। क्षेत्रपाल, पद्मावती आदि कुदेवों को पूजते हैं। आन्तरिक कलह होती है जिसके वजह से उनके अवसान के बाद उनके संघ के कई टुकड़े हो गये। इसी प्रकार कुछ संघों में रात्रि में मालिश होती है। इसके अलावा इन भ्रष्टाचारों का विरोध करने वालों को ये मारने पीटने की धमकियाँ देते हैं।[287] परन्तु इन घटनाओं को अधिकांश जैन पत्रकार सामाजिक भय एवं लोकापवाद के भय से प्रकाशित नहीं करते हैं। तथा इन घटनाओं को रोकने का प्रयास भी नहीं करते हैं, अपितु इनको जिनलिंग मानकर कुछ विद्वत् समाज पूजती है, अतः यह भ्रष्टाचार अब अपने पूर्ण यौवन के साथ जैन धर्म/समाज में कोढ के रूप में फैल रहा है।

संसार में सर्वोत्कृष्ट त्याग के उदाहरण रूप में प्रस्तुत की जाने वाली इस जैन साधु चर्या ने वर्तमान में किस तरह से भोग के साथ में गठबंधन कर रखा है, यह वर्तमान कालीन अधिकांश साधुओं में देखने के लिए अत्यधिक विवेक की भी आवश्यकता नहीं है। त्याग के गर्भ से प्रसूत हो रहे भोग की शैशव कालीन किलकारियाँ किसी से अनजान नहीं है। इसका अभी कोई उपचार नहीं हो रहा है। **इन भ्रष्टाचारों को उपगूहन अंग का बहाना देकर छिपाकर मानो सत्य श्रमण धर्म का ही उपगूहन किया जा रहा है।**

इसके अलावा एकल विहार इस युग की नयी परम्परा ही चल पड़ी है। **आगम में दो मुनि को एकल विहार स्वीकृत है वह भी दूसरे आचार्य के समीप तक जाने की स्थिति में है।** परन्तु आज मुनि विद्यानन्द अत्यन्त अकेले भ्रमण करते हैं। महानगरों के मध्य रहते हैं।

राजनीति की कथा करते हैं। और समाज उनको एलाचार्य, सिद्धान्त चक्रवर्ती, नाम देती है। कन्नड भाषा के प्रोफेसर श्री नन्द कुमार ने "आषाढ भूति विद्यानंद" नामक पुस्तक लिखी है, उसमें इनको छद्मतापस कहा है। यह पुस्तक 1982 में प्रकाशित हुयी थी। जिसकी प्रकाशक एक संस्था थी। चूंकि कुछ नेताओं ने इस पुस्तक को जलाकर नष्ट कर दिया था। तथापि इससे मुनि विद्यानन्द के ऊपर एक बहुत बड़ा प्रश्न चिन्ह अवश्य लग गया है। पंडित मोतीचन्द जी कोठारी लिखते हैं कि ये रात्रि में बोलते हैं, जो कि मैंने भी स्वयं कई बार देखा है। साथ ही कोठारी आगे लिखते हैं कि ये रात्रि में जलपान करते देखे गये, तथा लोंच न करके कैंची से बाल काटते हुए पाये गये हैं।[288] चूंकि यह एक राजनैतिक साधु भी हैं। अतः जैन समाज के नेता प्रतिष्ठा लोभ में कुछ नहीं कहते हैं। यहाँ तक कि इनको आचार्य तक बना दिया। डोली विहारी आचार्य देशभूषण के संघ से अलग होकर एकल विहारी हुए। देशभूषण के पट्ट शिष्य बालाचार्य वाहुवली सागर जो कि देशभूषण संघ के वरिष्ठ साधु हैं, वे ही नियमानुसार आचार्य पद के उत्तराधिकारी होते हैं। उन्हीं के साथ संघस्थ मुनि रहना चाहते हैं। परन्तु विद्यानन्द को आचार्य पद देकर विवेक हीनता का परिचय दिया गया। फलस्वरूप संघस्थ किसी मुनि ने इनको अपना आचार्य नहीं स्वीकारा और बालाचार्य के संघ में ही समस्त संघ हैं। इस प्रकरण को लेकर अदालत में मुकदमें भी चल रहे हैं। यह सब विवाद आचार्य देशभूषण के प्रश्नांकित चरित्र व विवेक हीनता का प्रतिबिम्ब है। यह भक्त समाज की अज्ञानता का एक ज्वलन्त नमूना भी है।

इस सम्बन्ध में पंडित आशाधर जी ने एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसमें कहा कि भ्रष्ट पंडितों और वठर मुनियों ने जिनदेव का निर्मल शासन मलिन कर दिया है।[289]

श्रमणाचार का 8 वीं सदी से लगभग 13 वीं सदी में और विशेष रूप से 10-13 वीं सदी का इतिहास काफी उथल- पुथल लिये था। एक ओर भ्रष्टाचार बढ़ रहा था तो दूसरी ओर उसकी आलोचना डट कर हो रही थी। उस समय मात्र जैन धर्म में ही नहीं अपितु प्रत्येक भारतीय धर्म में भ्रष्टाचार और उसका विरोध क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में हो रहा था। उस समय जैनेतर शक्तियाँ जैनधर्म को तोड़ने में लगी हुयी थीं। परन्तु आज की स्थिति अलग ही है, आज *जैनेतर धर्मों का कोई विशेष आक्रमण नहीं, परन्तु आन्तरिक रूप से श्रमणों के कृत्य जैन धर्म के विकास में बाधा हैं। आज भी 10-13 वीं सदी की तस्वीर उपस्थित हो रही है। आज इस 20 वीं सदी के उत्तरार्द्ध में विशेष रूप में सन् 70 से आज सन् 87 तक की स्थिति श्रमणाचार को लेकर पर्याप्त विवादास्पद रही है।* जिसको लेकर सन् 81 में "श्रवणवेलगोला" में श्रमण आचार संहिता को लेकर प्रस्ताव पारित हुये थे, परन्तु इस प्रकार की जागृति श्वेताम्बर श्रमणों में पूर्व से ही जून 1956 में ही आ गयी थी। परन्तु खेद, कि दोनों ही सम्प्रदाय अपने उद्देश्य में लगभग असफल रहे, क्योंकि इन दोनों कार्यक्रमों का आयोजन श्रमणों ने राजनैतिक उद्देश्य को लेकर किया था, दिगम्बर श्रमणों में मुनि विद्यानन्द आयोजक थे जो स्वयं "एकलविहारी" एवं महानगरीय

श्रमण हैं। वस्तुतः इन लोगों ने जो प्रस्ताव पास किये थे वे पूर्व में मूलाचार आदि ग्रन्थों में विद्यमान थे, अतः अलग से उनके प्रस्ताव पास कर मनमाने का औचित्य एक राजनीति के अलावा और क्या हो सकता है। क्योंकि **"जो लोग (स्वयं) आगम का बन्धन स्वीकार नहीं करते वे समाज का बन्धन कैसे स्वीकार कर सकते हैं।**[290]

श्रमणाचार के सम्बन्ध में श्रमण परिषद का श्रवणबेलगोला में आयोजित आयोजन का विवरण प्रस्तुत है।

मुनि विद्यानन्द के प्रयास से श्रमण परिषद की ऐतिहासिक बैठक हुयी। इसमें आचार्य देशभूषण, आचार्य विमलसागर, क्षुल्लक, क्षुल्लिका, सम्मिलित हुए और त्यागी जनों के लिए सर्व सहमति से एक त्यागी आचार संहिता प्रस्तावित की। इस प्रस्तावित त्यागी आचार संहिता को चामुण्डराय मण्डप में समस्त श्रमण-श्रावक-श्राविका चतुःविध संघ के समक्ष रखा गया और यह प्रस्ताव पारित हुआ। साथ हीं इस पारित प्रस्ताव को नीरज जैन (सतना) के साथ उत्तर भारत स्थित अन्य आचार्यों एवं आर्यिकाओं की सहमति प्राप्त करने के लिए भेजा गया।

इस अवसर पर आचार्य सुबाहुसागर, सुबल सागर, मुनि विद्यानन्द, आचार्य देशभूषण, विमलसागर, आर्यिका विजयमती, ने इस प्रस्ताव की अनुशंसा करते हुए अपने विचार व्यक्त किये और आर्शीवाद प्रदान किया। एलाचार्य विद्यानन्द ने कहा कि, गुरू के समीप रहने से उनकी सत्संगति से ही जीव का उद्धार हो सकता है। आर्यिका विजयमती ने कहा कि यह प्रस्ताव त्यागी वर्ग की स्वच्छन्दता को रोकने के लिए है। हमें अनुशासन में रहना चाहिए।

पारित प्रस्ताव :

भगवान गोम्मटेश्वर-मूर्ति के प्रतिष्ठापना सहस्राब्दि एवं महामस्तकाभिषेक महोत्सव के पुण्यावसर पर समायोजित दि. जैन परिषद् द्वारा निम्न प्रस्ताव पारित किये जाते हैं।

1. यह दि. मुनि परिषद प्रस्ताव करती है कि कम से कम दो मुनि, दो आर्यिकाएँ दो क्षुल्लिकाएँ अथवा दो क्षुल्लक या दो समलिंगी पिच्छिधारी अपने दीक्षागुरू आचार्य से आज्ञा लेकर ही विहार कर सकते हैं। अकेले मुनि, आर्यिका, ऐलक-क्षुल्लक आर्यिका विहार नहीं कर सकते।
2. दि. मुनि परिषद् प्रस्ताव करती है कि दीक्षा लेने से पूर्व दीक्षार्थी को निम्नलिखित प्रतिज्ञा पत्र पढ़ना और उसका पालन आवश्यक है। दीक्षा गुरू आचार्य भी दीक्षा देते समय इस प्रतिज्ञा पत्र को नव दीक्षित से पढ़वा कर उसे प्रतिज्ञाबद्ध करें।

दीक्षा से पूर्व प्रतिज्ञा पत्र का प्रारूप :

मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि-

1. मैं प्रातः स्मरणीय महान आचार्य कुन्दकुन्द एवं चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर की परम्परा के गौरव को सदा मन-वचन काय से सुरक्षित रखूँगा। मैं ऐसा कार्य नहीं करूँगा जिससे इस महान परम्परा का गौरव कम होता हो।
2. मैं आचार्य महाराज के अनुशासन का हृदय से पालन करूँगा।
3. मैं अपने दीक्षा गुरू के आदेश के बिना संघ का त्याग नहीं करूँगा।
4. एवं अन्य आचार्य संघ में सम्मिलित नहीं होऊँगा।
5. धर्म प्रचार के महान प्रयोजन के लिए गुरू महाराज की अनुमति से संघ से पृथक विहार करने की स्थिति में भी एकल विहार नहीं करूँगा, बल्कि मैं कम से कम दो क्षुल्लकों या इससे ऊपर के पदधारी त्यागियों के साथ ही विहार करूँगा।
6. मैं सतत् स्वाध्याय द्वारा अपने शास्त्र ज्ञान को बढ़ाने का प्रयत्न करता रहूँगा।

अन्त में, मैं श्रमण श्रमणी, श्रावक श्राविका चतुःविध संघ से निवेदन करूँगा कि वह मुझे दीक्षा ग्रहण करने की अनुमति प्रदान करें। इसमें विनीत रूप में सर सेठ भागचन्द सोनी, एवं बाबूलाल पाटोदी हैं, एवं उत्तर देने का पता जैनमठ, श्रवणवेलगोला (कर्नाटक) है।[291]

उपर्युक्त प्रस्ताव इतने तथ्यहीन एवं अविचारणीय हैं, जो सम्पूर्ण दिगम्बर श्रमणों के चारित्रिक एवं बौद्धिक क्षमता पर प्रश्न चिन्ह लगाते हैं। संघ की व्यवस्था का गुरूतर- भार आचार्य का होता है और वही अन्य सघ के आचार्यों से निवेदन कर सकता है। उपर्युक्त प्रस्तावों में मुनि विद्यानन्द के प्रयास से तो इस कार्य के सम्पादन की बात कही गयी, तथा विनीत के रूप में बाबूलाल पाटौदी, नीरज जैन आदि जैन धर्म से अनभिज्ञ श्रावक थे यहां तक कि उक्त प्रस्ताव में कुछ जैन गृहस्थ विद्वानों का तो कोई समर्थन ही नहीं था; क्योंकि वे जानते थे कि ऐसे प्रस्ताव तथ्यहीन एवं निरर्थक ही सिद्ध होने वाले हैं, और वही हुआ। द्वितीय, चारित्रिक प्रतिबन्धनों में एकलविहार पर चर्चा की गयी, क्या श्रमणों के परिग्रह पर विचार एवं आदेश अपेक्षित नहीं था? क्या श्रमणों की आवास चर्या, आहार चर्या, गमनागमन आदि अनेक चारित्रिक पक्षों पर विचार अपेक्षित नहीं था? एकलविहार पर प्रतिबन्ध के बावजूद मुनि विद्यानन्द स्वयं एकलविहारी यह एक कैसी हास्यापद स्थिति थी। इसी कारण यह सब असफल रहा। जैन आचार्य पद की प्रतिष्ठापन विधि आचार्य करते हैं न कि श्रावकगण। आज सर्वत्र श्रावकगण ही मुनि को आचार्य पद देते हैं, एवं आचार्य पद पर ही श्रमण देहावसान करता है जो कि अच्छी परम्परा नहीं मानी जाती है, क्या इस पर आचार संहिता में विचार अपेक्षित नहीं था। आचार्य धर्मसागर को समाज ने आचार्य पद दिया था, और अभी मुनि अजितसागर को समाज ने ही दो- दो बार सीकर एवं उदयपुर में आचार्य पद दिया। तथा आचार्य अजितसागर के अवसान के बाद उनके संघ में आचार्य

पद को लेकर शर्मनाक विवाद हुआ। जो उनके संघ के वरिष्ठतम साधु श्रेयांस सागर व वर्धमान सागर के मध्य था। आचार्य पद प्राप्ति के लिए आज का नामांकित जैन साधु समाज के समक्ष किस हद तक सिंह से श्वानवृत्ति तक की यात्रा तय कर सकता है - यह दु:खद क्षण भी देखने को मिला। समाज में अपनी जोड-तोड बैठाकर 13 जून, 90 को श्रेयांस सागर ने आचार्य पद की जंग जीत ली, तो वर्धमान सागर ने भी 24 जून सन्, 90 को यह पद हासिल कर लिया। परन्तु ऐसी घटनाएं अपने गुरुओं की अकर्मण्यता, अनाचार्यत्व, सुसुप्त- विवेक व पद से चिपके रहने की प्रवृत्ति को सूचित कर ही देती हैं। मुनि विद्यानन्द को भी अभी समाज ने ही आचार्य पद दिया है-यह सब जैनागम सम्मत नहीं है। एक विरुद्ध परम्परा है।

श्वेताम्बरीय श्रमणों ने भी भ्रष्टाचार को रोकने के लिए एवं छोटे-छोटे फिरकों को फिर से एक श्रृंखला में व्यवस्थित करने के लिए श्री श्वे. स्था. "जैन कान्फरेंस ने वृहदसाधु सम्मेलन कराने के लिए अथक प्रयास किये, और परिणामस्वरूप विक्रम सं. 1980 में अजमेर में स्थानकवासी समाज का पहला सम्मेलन हुआ। और उसमें बड़े आचार्यों एवं मुख्य मुनिवरों ने भाग लिया। एक आचार्य परम्परा, एक साधु समाचारी आदि श्रमण जीवन से सम्बन्धित विषयों पर खुलकर चर्चा की गयी, और स्व. आचार्य श्री जवाहरलालजी ने संगठन के लिए एक योजना रखी, जिसका सभी ने एक स्वर से स्वागत किया, और उसे युगानुरूप बताई, परन्तु कुछ कारणों से वह कार्यरूप में परिणत नहीं हो सकी और साम्प्रदायिक झगड़े ज्यों के त्यों बने रहे। इसके पश्चात् सादड़ी में दूसरा, सोजत में तीसरा एवं मानासर (बीकानेर) में चौथा सम्मेलन हुआ।[292]

श्वे. सम्प्रदाय के इस श्रमण सम्मेलन में प्रसिद्ध जौहरी एवं विद्वान श्री दुर्लभजी जिन्होंने "सन्तोकबा दुर्लभ हास्पीटल" जयपुर का निर्माण कराया है, की मुख्य भूमिका थी उन्होंने "साधु सम्मेलन का इतिहास" पुस्तक में सम्मेलन के आवश्यकता की विस्तृत ऐतिहासिक समीक्षा प्रस्तुत करते हुए कहा कि "सुदूर भविष्य में एक और रोग भी उपजता जान पड़ता है। इस रोग से बचने के लिए भी अभी से काफी प्रयत्न करने की आवश्यकता है। यह रोग और कुछ नहीं, जड़ पूजा ही है। कच्छ प्रदेश के अनेक भागों में, मृत साधुओं के फोटो वन्दन किये जाते हैं और उनको धूप-दीप आदि किये जाते हैं। तपस्वी मुनि के चरण- चिन्हों की पूजा किसी से छिपी नहीं है। देह- मुक्त साधुओं के नाम पर, ध्वजादिक का चित्रण भी देखा गया है। झालावाड़ में पाट की पूजा होती है, कहीं-कहीं साधु के अग्नि संस्कार के बाद उसी जगह समाधि मन्दिर बनाये या चरण पादुका की ही स्थापना करने की बात भी सुनी जाती है। क्या यह सब, लोकाशाह तथा पूर्वाचार्यों का प्रत्यक्ष अपमान नहीं है, ऐसा कोई कह सकता है ? अत्यन्त लज्जा की बात है कि हम लोगों की ही आँखों पर पट्टी बाँधकर हमें उल्टी दिशा में घुमाया जाता है। इसलिए, साधुओं को यथा सम्भव शीघ्र और यथोचित प्रबन्ध करना चाहिए।

एक तथ्य और है कि जिनका सुधार श्रावकों को करना है।" -----जब श्रमण की मृत्यु होती है तो उस शरीर को चार-चार छह घण्टे किं वा चौबीस घण्टे तक रखा जाता है जिन्हें तार दिये गये हैं, या आने वाले श्रावक किं वा संघ जब तक दौड़ न आवे, तब तक शरीर का अग्नि संस्कार नहीं होता----पालकी आदि ठाट वाट न हो जाए तब तक उसको सुरक्षित रखा जाता है-----

यह किस सूत्र के किस अधिकार में आदेश है ? जिसके पालनार्थ ऐसा करना पडता है। जीवात्मा के देह से छूट जाने पर अन्तर्मुहुर्त में सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न होते हैं। अतः मृत्यु के तत्काल बाद अग्नि संस्कार देना चाहिए।[293]

उपर्युक्त सम्मेलन का सारांश देखते हुए लगता है कि श्वे. श्रमणों का उक्त सम्मेलन जिसमें आचार्य सोहनलाल जी महाराज की विशेष सक्रियता थी। इसमें काफी खुलकर सभी विषयों पर चर्चा हुयी थी, जबकि दिगम्बरों का श्रवणबेलगोला में आयोजित सम्मेलन काफी संकीर्ण विचारधारा लिये था। उक्त दोनों सम्मेलनों को देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि कुछ वर्ष पूर्व श्वे. स्था. श्रमण कुछ प्रबुद्ध थे, उसका अपनी समाज में काफी प्रभाव भी पड़ा था। तथा सम्मेलन से समाज में काफी जागृति आयी। दुर्लभ जी इस बात पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं कि "यदि साधु सम्मेलन (श्वे.स्थान.) नहीं हुआ होता, तो साधु समाज में इतनी जागृति नहीं मिलती। साधु समाज की स्थिति आज से कहीं ज्यादा बदतर मिलती। यह साधु सम्मेलन की ही कृपा का फल है।

हमारे साधु समाज को व्यवस्थित रूप में पाते हैं "समाज एकलविहारियों स्वच्छन्दाचारियों से नफरत करता है। सम्मेलन से पहिले समाज में यह चीज नहीं थी। आज अच्छे से अच्छा एकलविहारी अच्छे शहर या नगर में जाते घबराता है। और यदि नया आदमी पूँछ ले कि, महाराज कितने ठाड़ों से पधारे तो फिर देखो उनका चेहरा।"[294] परन्तु आज दुर्लभजी जैसा व्यक्तित्व श्वे. सम्प्रदाय में दुर्लभ हो गया है, उनकी क्रान्ति अब कान्तिहीन हो गयी है और उनका अपने सम्प्रदाय के साधु में भ्रष्टाचार के विरुद्ध किया प्रयास प्रभावहीन हो चुका है। इस समय यदि कुछ श्वेताम्बरी साधु में आगत भ्रष्टाचार पर थोडा भी गम्भीरता से विचारा जावे तो शायद मानव जाति की व्यवस्थापित नैतिकताएं ही काँप जावेगी। श्वे. श्रमण संघ के एक साधु विनय मुनि "भीम" जिन्हें "युवा हृदय सम्राट" भी कहा जाता है। इनको मनु टाइम्स के सम्पादक श्री मदन मोदी ने बीडी पीते देखा है,[295] ये स्व. मधुकर मुनि के शिष्य हैं। इसी तरह की प्रवृत्ति श्रमणसंघ के सरलहृदय आचार्य श्री आनन्द ऋषि के अधिकांश शिष्यों में देखने को मिलती है। उपाध्याय पद से अलंकृत श्वे. केवल मुनि तो व्यसनों के अनुभवी पारगामी हैं। इनके द्वारा किया संवत् 2012 में कोटा कांड जग प्रसिद्ध है। विनयमुनि का उज्जैन के चातुर्मास में किया गया कांड जग जाहिर है। महाराष्ट्र के अनकाई कस्बे में श्वे. हंसमुख मुनि

मंत्र-तंत्र और ज्योतिष के टोने-टोटके कर लेते हैं। वे तीन युवतियों के साथ वहाँ विगत पाँच वर्षों से जमे हुए हैं। इसी प्रकार पुष्कर मुनि का बैंगलोर कांड, दिनेश मुनि का पूना कांड, राजेन्द्र मुनि का नीमच के एक कॉलेज में परीक्षा भवन में नकल करते पकड़े जाना, जोधपुर में श्वे. मुनि वेशधारी लालचन्द के कृत्य श्री हस्तीमल महाराज सा. के श्रमण संघ छोडने का निमित्त बनी।

ये सब प्रकरण श्वे. श्रमण संस्कृति के गौरव पूर्ण अध्यायों के कलंकित पृष्ठ हैं। निरन्तर लिखे जा रहे कलंकित पृष्ठों को बचाना है, तो शुद्ध साध्वाचार पालन करने वाले जीवन्त चेतनाशील लोगों को इस पर गम्भीरता से विचारना चाहिए। इससे पूर्व कि शिथिलाचारी वेशधारी का समूह, पूरी संस्कृति को निगल जावे, हमें इसका मुकाबला करना होगा। इनको चिन्तन के चौराहे पर खड़ा करके सही साध्वाचार समझाना होगा।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में एकलविहार नफरत की दृष्टि से देखा जाता रहा, परन्तु वर्तमानकालीन दिगम्बर सम्प्रदाय में एकलविहार अधिक प्रतिष्ठित एवं पूज्यनीक हो रहा है। जिस बात को सब लोग बुरा मानते हैं उसे सज्जन लोग तो बुरा स्वीकारते ही है, परन्तु आज की स्थिति ठीक इसके विपरीत ही है। **आज दिगम्बर जैन समाज की मानसिकता यह है कि यदि कोई भ्रष्टाचार के विरुद्ध आवाज उठाता है, तो उसे मुनि द्रोह करार दिया जाता है। मुनि भक्त ही मुनि-धर्म को भ्रष्ट कर रहे हैं।** प्रदर्शन के इस युग में मुनियों व उनके भक्तों ने एक अजीब सामंजस्य स्थापित कर लिया। मुनिवर्ग यह देखता है कि हमें कौन-कौन नमस्कार कर रहा है। सेठों/नेताओं द्वारा नमस्कार करने पर तो इनका हृदय वल्लियों उछलता है। प्रतिष्ठित लोगों के द्वारा नमस्कार करते समय के फोटो खिचाने को तत्पर रहते हैं (देखें फोटो); दूसरी तरफ सेठों/नेताओं को भी, साधु को नमस्कारादि करते समय के फोटो खिचवाना आवश्यक समझते हैं ताकि मुनि भक्ति का प्रमाण पत्र लेकर समाज में प्रतिष्ठित हो सकें। आज मुनिभक्ति की उतनी आवश्यकता नहीं, जितनी कि उसके प्रमाणपत्र की, *वस्तुतः आज प्रमाणपत्र धारी मुनि भक्त ही इस श्रेष्ठ स्वरूप को बिगाड़ने के जिम्मेवार हैं।*

निर्भीक व्यक्तित्व के धनी पण्डित श्री कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्त-शास्त्री, बनारस लिखते हैं कि -

"जैन धर्म में अन्धा श्रद्धा को स्थान नहीं है। विवेक मूलक श्रद्धा ही सच्ची श्रद्धा है। अन्धश्रद्धा ही दिगम्बर मुनि-मार्ग को बिगाड़ रही है। साधुओं की पीछी से आर्शीवाद प्राप्त करके धनी बनने की भावना रखने वाले ही गुण-दोष का विचार किये बिना मात्र शरीर से नग्नता को ही पूज्य मानते हैं। और अन्ध मुनि भक्त हैं कि मुनि मार्ग बढ़ रहा है यह सोचते हैं। आगे व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि-"आज तो मुनियों के परिग्रह परिमाण की भी

आवश्यकता आ गयी है कि मुनियों के परिग्रह परिमाण की मर्यादा बांधी जाए कि उनके साथ में "कितनी मोटरें, कितनी रसद, आदि सामग्री कितना धन-धान्य," आदि होना चाहिए। आज के युग में शास्त्रोक्त आचार का पालन करने वाला निरारम्भी अपरिग्रही सच्चा साधु नहीं है, जिसके पास जितना अधिक परिग्रह है वह उतना ही बड़ा साधु है। अब साधुओं का काम आत्म-साधना नहीं है, किन्तु धन संग्रह करके मन्दिर-मूर्तियाँ बनवाना है। धनिक लोग ऐसे ही साधुओं को पसन्द करते हैं। काला धन तो काले ही में जाएगा। उसी काले धन का प्रभाव है कि दिगम्बर मुनि मार्ग भ्रष्ट होता जाता है और उसकी ओर से आँख मूंदने वाले सच्चे मुनि भक्त हैं और उसका विरोध करने वाले मुनि विरोधी कहे जाते हैं। यही पंचम काल का प्रभाव है, अतः इस समय आवश्यकता है समीचीन दिगम्बर मुनि मार्ग की सुरक्षा करने वालों की अन्यथा धन के लोभी इसे बेच खायेंगे।[296]

प्रसिद्ध विद्वान स्व.पं. श्री चैनसुख दासजी शिथिलाचार के विरोध में कहते हैं कि शिथिलाचारियों के अन्ध भक्त यह अच्छी तरह समझ लें कि शिथिलाचारियों की आलोचनाएँ तब तक बन्द न होंगी, जब तक वे अपने शिथिलाचार में सुधार न कर लें ; भले ही हमें इसके लिए डट कर गालियाँ दी जाएँ। ----- उपगूहन अंग के नाम पर किसी भी शिथिलाचारी की पीठ ठोकने का समर्थन नहीं किया जा सकता है। मुनि भक्ति की डींग मारने वाले और बाह्यमुनि वेष को ही पूजा की चीज समझने वाले सभी मुनियों के साथ एक-सा व्यवहार क्यों नहीं करते। मान्य और अमान्य मुनियों का सकारण उल्लेख क्यों नहीं करते हैं।[297] सन् 59 के बाद आज 28 वर्ष पश्चात् भी वही स्थिति है, आज तो भ्रष्टाचार चरम सीमा पर है। आज की स्थिति पर अपनी टिप्पणी करते हुए जैन धर्म के तलस्पर्शी अन्तर्राष्ट्रीय विद्वान डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कहते हैं कि "शरीर पर तन्तु भी न रखने वाले नग्न दिगम्बरों को जब अनेक संस्थाओं मन्दिरों, मठों, बसों आदि का रुचिपूर्वक सक्रिय संचालन करते हुए देखते हैं तो शर्म से माथा झुक जाता है। जब साक्षात् देखते हैं कि उनकी मर्जी के बिना बस एक कदम भी नहीं चल सकती, तब कैसे समझ में आवे कि इससे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है।[298]

इस भ्रष्टता से व्यग्र होकर समाज के नाम एक विज्ञप्ति जारी करते हुए ऐलक सुध्यानसागर जी कहते हैं कि-

जितनी हमारी जैन संस्थाएँ हैं, उनके पदाधिकारीगण मिलकर आजकल साधु-मार्ग में जो शिथिलाचार की वृद्धि हो रही है, उसको दूर करने का प्रयत्न करें----। उनसे शान्ति से स्पष्ट कहें कि जो-जो आगम विरुद्ध क्रिया उनसे हो रही हैं, जैसे एकाकी रहना, एक स्त्री साध्वी को रखना, चंदा-चिठ्ठा करना, गंडा-तार्बीज बेचना, बस (मोटर) वाहन रखना, संस्था बनाके वहीं पर जम जाना, कूलर, फ्रिज, पंखा, वी.सी.आर., टी.वी., टेलीफोन आदि जिनागम से विरुद्ध वस्तुओं का रखना तथा उपयोग करना एवं जवान

कन्याओं को साथ में रखना, उनका संसर्ग करना, एकाकी साध्वी को बगल के कमरे में सोने देना, इत्यादि धर्म-ह्रास क्रियाओं को अवश्य रोकना चाहिए। साम, दाम, दण्ड, भेद से द्रव्य-क्षेत्र-काल, भाव की मर्यादा रखते हुए अवश्य धर्म की संरक्षा करनी चाहिए।[299] इस सन्दर्भ में यह तर्क किया जाता है कि श्रमण की परीक्षा करने का अधिकार नहीं। परन्तु जब समन्तभद्र ने देवागमस्त्रोत में भगवान की परीक्षा कर नमस्कार किया तो श्रावक, श्रमण की परीक्षा क्यों नहीं कर सकता है। जब श्रावक किसी को अपनी श्रद्धा देगा तो श्रद्धेय की पूर्ण परीक्षा का अधिकार उसे प्राप्त है।

पद्मपुराण में कथा आती है कि, एक आकाशगामीश्रृद्धिधारी ऋषि वर्षाऋतु में आहारार्थ नगर आए तो एक सेठ ने भ्रष्ट जानकर आहार नहीं दिया, परन्तु बाद में सही स्थिति का पता लगने पर उन्हें बहुत पश्चात्ताप हुआ। यहाँ यह तो फलित होता ही है कि सही स्थिति का ज्ञान न होने पर आहार नहीं देना चाहिए, क्योंकि आहारदान में नवधा भक्ति मुख्य है, और नवधा भक्ति, बिना श्रद्धा कैसे हो सकती है ? और श्रृद्धा गुणवानों को ही दी जाती है। जैसे सर्द रात के अंधेरे में अकेली विरहिणी पतिव्रता स्त्री दरवाजे पर स्थित पुरुष के विषय में जब तक शंका बनी रहती है तब तक दरवाजा नहीं खोलती है, भले ही वह पुरुष उसका पति ही क्यों न हो, शंका होने पर भी दरवाजा खोलने का अर्थ है कि, वह अपने सतित्व के प्रति पूर्ण सजग एवं निष्ठावती नहीं, और यह कार्य किसी भी पति के लिए अति असम्माननीय है, परन्तु यदि शंकास्पद स्थिति में दरवाजा न खोलना, यह उसका प्रमाद तो कहा जा सकता है; जिसका कालान्तर में क्षमा आदि के रूप में प्रायश्चित्त विधान है, परन्तु यहाँ पति के प्रति पूर्णनिष्ठा एवं सम्मान है। शंकास्पद स्थिति में भी दरवाजा खोलना का कोई प्रायश्चित्त नहीं, क्योंकि यह अपराध है। इस सम्बन्ध में पं. डालूराम जी ने सम्यक् प्रकाश में लिखा है कि-

"पति भरता वनिता तनो, है भरतार विदेश।
तौऊ ता सुमिरत रहे, पर-नर गहै न लेश।।
त्यौं सांचे जैनी सुगुरू दूरि देशि में पेखि।
ता सुमरै मानै सदा, गुरूनि गहे अनिमेष।। 132-33।।

भ्रष्ट चारित्रों को भी मुनि वेप मानकर पूजने वालों के प्रति खेद व्यक्त करते हुए श्वे. आचार्य हरिभद्र भी लिखते हैं कि-

"कुछ ना समझ लोग कहते हैं कि यह तीर्थंकरों का वेप है, इसे नमस्कार करना चाहिए। अहो! धिक्कार हो इन्हें! मैं अपने सिर के शूल की पुकार किसके आगे जाकर करूँ।[300]

आ. कुन्दकुन्द कहते हैं कि "जो धर्म मैं निरुद्यमी है, दोषों का घर है, इक्षुफल समान निष्फल है गुण के आचरण से हीन है, वह नग्न रूप से नट श्रमण है, भांडवत् वेशधारी है। अब, नग्न होने पर भांड का दृष्टान्त सम्भव है, परिग्रह रखे तो यह दृष्टान्त भी नहीं बनता। पाप से मोहित हुयी है बुद्धि जिनकी ऐसे जो जीव जिनवरों का लिंग धारण करके पाप करते हैं, वे पाप मूर्ति मोक्षमार्ग में भ्रष्ट जानना।[301]

पं. टोडरमल जी ने शिथिलाचारियों द्वारा दी जाने वाली युक्तियाँ देकर और उनका निराकरण करते हुए मोक्षमार्ग प्रकाशक में कहा कि-

प्रश्न- गुरू बिना तो निगुरा कहलायेंगे और वैसे गुरू इस समय दिखते नहीं है, इसलिए इन्हीं को गुरू मानना ?

उत्तर- निगुरा तो उसका नाम है जो गुरू मानता ही नहीं। तथा जो गुरू को तो मानें, परन्तु इस क्षेत्र में गुरू का लक्षण न देखकर किसी को गुरू न माने तो इस श्रद्धान से निगुरा होता नहीं है। जिस प्रकार नास्तिक तो उसका नाम है जो परमेश्वर को मानता ही नहीं, और जो परमेश्वर को तो माने परन्तु इस क्षेत्र में परमेश्वर का लक्षण न देखकर किसी को परमेश्वर न माने तो नास्तिक तो होता नहीं है। उसी प्रकार यह जानना।

प्रश्न - जैन शास्त्रों में वर्तमान में केवली का तो अभाव कहा है, मुनि का तो अभाव नहीं कहा है।

उत्तर- ऐसा तो कहा नहीं है कि इन देशों में सद्भाव रहेगा; परन्तु भरत क्षेत्र में कहते हैं, सो भरत क्षेत्र तो बहुत बड़ा है, कहीं सद्भाव होगा, इसलिए अभाव नहीं कहा है। यदि जहाँ तुम रहते हो उसी क्षेत्र में सद्भाव मानोगे, तो जहाँ ऐसे भी गुरू नहीं मिलेंगे वहाँ जाओगे तब किसको गुरू मानोगे? जिस प्रकार हंसों का सद्भाव वर्तमान में कहा है, परन्तु हंस दिखायी नहीं देते तो पक्षियों को तो हंस माना नहीं जाता, उसी प्रकार वर्तमान में मुनियों का सद्भाव कहा है; परन्तु मुनि दिखायी नहीं देते तो औरों को तो मुनि माना नहीं जाएगा।-----गुरू नाम बड़े का है, अतः धर्म गुरू तो चारित्र की अपेक्षा से माना जाएगा।

प्रश्न- ऐसे गुरू तो वर्तमान में यहाँ नहीं हैं, इसलिए जिस प्रकार अरहन्त की स्थापना प्रतिमा में की है, उसी प्रकार गुरूओं की स्थापना इन वेषधारी में है ?

उत्तर- जिस प्रकार राजा की स्थापना चित्रादि द्वारा करे तो वह राजा का प्रतिपक्षी नहीं है, और कोई सामान्य मनुष्य अपने को राजा मनाये तो राजा का प्रतिपक्षी होता है, उसी प्रकार अरहन्तादिक की पाषाणादि में स्थापना बनाये तो उनका प्रतिपक्षी नहीं है, और कोई सामान्य मनुष्य अपने को मुनि मनाये तो वह मुनियों का प्रतिपक्षी हुआ। इस प्रकार भी स्थापना हो, तो अपने को अरहन्त भी मनाओ, परन्तु वे निर्ग्रन्थ, यह बहुत परिग्रह के धारी - यह कैसे बनता है?

प्रश्न - अब श्रावक भी तो जैसे सम्भव है वैसे नहीं है, इसलिए जैसे श्रावक वैसे मुनि ?

उत्तर- श्रावक संज्ञा तो शास्त्र में सर्वगृहस्थ जैनियों को है। श्रेणिक तो असंयमी था, उसे उत्तर पुराण में श्रावकोत्तम कहा। बारह सभाओं में श्रावक कहे हैं, वहाँ सर्व व्रतधारी नहीं थे-----मुनि संज्ञा तो निर्ग्रन्थ के सिवाय कहीं नहीं है।

आदिनाथ जी के साथ चार हजार राजा दीक्षा लेकर पुनः भ्रष्ट हुए, तब देव उनसे कहने लगे -**जिनलिंगी होकर अन्यथा प्रवर्तोगे तो हम दंड देंगे।** जिनलिंग छोड़कर जो तुम्हारी इच्छा हो तो तुम जानो।" इसलिए जिनलिंगी कहलाकर अन्यथा प्रवर्ते, वे तो दंड योग्य हैं, वंदनादि योग्य कैसे होंगे ?[302] इस प्रकार पंडित टोडरमल जी ने कुन्दकुन्द को साक्षी देकर इस प्रकरण में **लज्जादि से भी नमस्कार आदि करने का निषेध किया है, और इनको नमस्कार का अर्थ शिथिलाचार को प्रोत्साहन बतलाकर पाप का भागी बतलाया है।**

गृहस्थपने में बहुत परिग्रह रखकर कुछ प्रमाण करे तो भी स्वर्ग- मोक्ष का अधिकारी होता है, और मुनिपने में किंचित परिग्रह अंगीकार करने पर भी निगोदगामी होता है। इसलिए ऊँचा नाम रखाकर नीची प्रवृत्ति युक्त नहीं है। लोगों की अज्ञानता तो देखो, कोई एक छोटी सी प्रतिज्ञा भंग करे तो उसे पापी कहते हैं और ऐसी बड़ी प्रतिज्ञा भंग करते देखकर भी उन्हें गुरू मानते हैं, उनका मुनिवत् सन्मानादि करते हैं, सो शास्त्र में कृत कारित, अनुमोदना का फल कहा है, इसलिए उनको भी वैसा ही फल लगता है।[303] इस प्रकार अनेक तर्क एवं प्रमाण देकर कुगुरु के वंदन का निषेध पं. टोडरमल जी ने किया है।

भगवती आराधना में अयथार्थ श्रमण की पहिचान बतलाते हुए कहा कि "जो लोगों का अनुसरण करते हैं और सुख की इच्छा करते हैं, यथेष्ट आहारादि सुखों में तल्लीन होकर जो मूर्ख मुनि रत्नत्रय में अपनी प्रवृत्ति शिथिल करता है; उद्गमादि दोषों से युक्त आहार, उपकरण, वसतिका, इनका जो साधु ग्रहण करता है। शरीर भोग व सांसारिक कार्यों में अनुरक्त रहता है, संघ से विरोध करता है, कुशील सेवन करता है, स्वच्छन्द रहता है, गुरुकुल में नहीं रहता, राजा आदि की सेवा करता है- वह अज्ञानी है, जिनधर्म का आराधक नहीं है।[304] ऐसा मलिनचित्र श्रमण श्रावक के समान भी नहीं है।[305] अपितु मोही मुनि से निर्मोही सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रेष्ठ है।[306] इस प्रकार के अवंदनीक भ्रष्ट मुनियों को आ. वट्टकेर ने पाँच प्रकार पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त, अवसंज्ञक और मृग चारित्र, के भेद से विभाजित किया है।[307] ये ज्ञान और चारित्र में नियुक्त नहीं हैं और मन्द संवेग वाले होते हैं।

पार्श्वस्थ -

जो संयमों के गुणों से "पार्श्वे तिष्ठति" इति पार्श्वस्थ, अर्थात् जो संयत के गुणों की अपेक्षा पास में - निकट में रहता है वह पार्श्वस्थ है। ये मुनि वसतिका आदि से प्रतिबद्ध

रहते हैं अर्थात् वसतिका आदि में अपनेपन की भावना रख कर उनमें आसक्त रहते हैं, इनमें मोह की बहुलता रहती है, ये रात-दिन उपकरणों के बनाने में लगे रहते हैं, असंयतजनों की सेवा करते हैं, और संयमीजनों से दूर रहते हैं। अतः पार्श्वस्थ नाम से कहे जाते हैं।

कुशील -

आचरण या स्वभाव जिनका खोटा है वे कुशील कहलाते हैं। ये क्रोधादि कषायों से कलुषित रहते हैं, व्रत, गुण और शीलों से हीन हैं, संघ के साधुओं की निन्दा करने में कुशल रहते हैं, ये मूलगुण व उत्तरगुण से भी भ्रष्ट होकर संसार में भ्रमण करते हैं। ये इन्द्रिय-विषय एवं कषाय के तीव्र-परिणामों से युक्त होते हैं तथा व्रत, गुण, शील तथा चारित्र को तृणवत् समझते हुए स्वयं का एवं संघ का अपयश फैलाने में कुशल होते हैं। अतः ये कुशील कहे जाते हैं।

संसक्त -

जो असंयत के गुणों में अतिशय आसक्त रहता है, वह संसक्त है। यह आहार आदि की लम्पटता से वैद्यक, मन्त्र, ज्योतिष आदि के द्वारा अपनी कुशलता दिखाने में लगा रहता है, राजादिकों की सेवा करने में तत्पर रहता है।

अवसंज्ञक -

जिनके सम्यग्दर्शन आदि गुण अपगत अर्थात् नष्ट हो चुके हैं वह अवसंज्ञक श्रमण हैं। ये चारित्रिक गुणों में शून्य हैं। जिनवचनों का भाव न समझने से यह चारित्रादि गुणों से भ्रष्ट हैं। तेरह प्रकार की क्रियाओं में आलसी हैं, इनके मन में सांसारिक सुख की महत्ता है।

मृग चरित्र -

मृग के समान अर्थात् पशु के समान जिनका चरित्र है वे मृगचरित्र कहलाते हैं। ये आचार्यों का उपदेश नहीं मानते हैं, स्वच्छन्दचारी है, एकाकी विचरण करते हैं, जिनसूत्र अर्थात् जिनागम में दूषण लगाते हैं, तप और श्रुत की विनय नहीं करते हैं, धैर्य रहित हैं। उद्दिष्ट भोजन करते हैं। अतः ये भ्रष्टाचारी मृग चरित्र श्रमण हैं।[308]

ये पाँचों जिनधर्म बाह्य है[309]। अतः इनकी संगति का निषेध किया गया है। तथा इनकी वंदनादि करना नरक का कारण कहा है। पंचम काल में भ्रष्ट साधुओं की संख्या बतलाते हुए चर्चा संग्रह में[310] कहा है कि "साढ़े सात करोड़ जिनमुद्राधारी नग्न द्रव्यलिंगी मुनि परिणाम भ्रष्ट नरक जासी-बहुरि याका सेवक श्रद्धानी पुरुष 55 करोड़ 65 लाख 25

हजार 5 सौ बीस भ्रष्ट गुरू का श्रद्धानी पंचमकाल में नरक जासी, और परिग्रही तो नर्क जाऐंगे तिनकी संख्या नाही।

श्रमणाचार के स्वरूप पर एवं उसके भ्रष्टाचार पर जब हम गहराई से अध्ययन करते हैं तो यह पाते हैं कि भ्रष्टाचार की विभिन्न गतिविधियाँ अनादि से मिलती हैं, आज के समय यह कोई नई बात नहीं है, परन्तु इसका समय समय पर विरोध हुआ जिससे सत्यस्वरूप बना रहा यह भी सत्य है। वैसे **भ्रष्टाचार के बहुत हद तक उत्तरदायी श्रावक गण ही हैं, यदि वे ऐसे श्रमणों को संरक्षण देना बन्द कर दें तो वह अंकुश में आ सकता है।** समय-समय पर जो श्रमणों की सेवा के लिए समितियाँ बनी, वे ही इस स्वरूप के लिए सबसे ज्यादा घातक रहीं, क्योंकि इससे आम आदमी की जिम्मेवारी समाप्त हो जाती है, तथा विशिष्ट नेता भ्रष्टाचार को पोषित करते रहते हैं। श्रमण संघ की सेवा के लिए प्राचीनकाल में समितियाँ बनती थी, जिसका परिणाम देखें-

"यह वीर संवत् 840 वें वर्ष की दशा का वर्णन (विशेष रूप से श्वेताम्बरीय सम्प्रदाय के परिप्रेक्ष्य में) है। -"जैन विहारों को खूब दान दिया, प्रायः (इनकी) आधी आमदनी सार्वजनिक कर्मकाण्डों से संबद्ध व्ययों पर खर्च की जाती थी, और शेष भाग आधा भिक्षुओं और भिक्षुणिओं के पालन-पोषण में व्यय होता था।

राज्य और समाज द्वारा इस धर्म को प्रदान किया गया प्रचुर संरक्षण जैन मुनियों के एक वर्ग में (श्वे. सम्प्र.) शिथिलता उत्पन्न कर रहा था। इन्होंने यह तर्क करना शुरू कर दिया कि उनके लिए यह आवश्यक नहीं कि वे वर्ष भर परिभ्रमण करते रहे। वे स्थायी रूप से विहारों में बस सकते हैं। कुछ भिक्षुओं ने रंगीन और सुवासित वस्त्र धारण करने शुरू किये, अन्य साधुओं ने सवारियों तथा आरामदेह बिस्तरों का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया। कुछ ने भविष्य कथन का तथा जिनमूर्तियों को बेचने का पेशा शुरू कर दिया। जैन धर्म के कुछ नेता यथासमय इन प्रवृत्तियों की निन्दा करने के लिए आगे बढ़े, किन्तु उनके प्रयत्न केवल आंशिक रूप से ही सफल हुए।"[311]

वस्तुतः भ्रष्टाचार तो तीर्थंकर आदिनाथ के समय से ही था उस समय उनके प्रतिपक्ष में 4000 भ्रष्ट साधुओं की विशाल श्रृंखला थी। अर्थात् एक सच्चा साधु व 4000 भ्रष्ट साधुओं का अनुपात था। यह चतुर्थकाल के तीर्थंकर के काल का अनुपात था। आज पंचम काल की इस अवसर्पिणी में कितना अनुपात होगा यह तो कल्पना का विषय है। वैसे आज जो अधिकांश मुनियों को "चतुर्थकालवत्" की उपाधि दी जाती है, यह वस्तुतः उन 4000 साधुओं की श्रृंखला की ओर संकेत ही है। अतः भ्रष्ट साधुओं का विरोध कर समाप्त करना एक असम्भव अनुष्ठान है, परन्तु विवेकशील पुरुषों को दोष बतलाकर गुणों की ओर आकर्षित करना यह भी एक पद्धति है। अतः सदोष का स्वरूप बतलाकर निर्दोष

श्रमण स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए अपने शोध के इस प्रकरण को मजबूरन् प्रस्तुत करना पड़ा है। जैसे स्वर्ण का स्वरूप बतलाने के पश्चात् यह भी अतिआवश्यक है कि उस जैसे रंग वाले पीतल का भी स्वरूप बतलाया जाए ताकि स्वर्ण के प्रति पूर्ण निष्ठा, एवं श्रद्धा व सच्चा ज्ञान हो सके। इस प्रकार श्रमण पर प्रथम तो सत्य स्वरूप पर विचार किया। तत्पश्चात् उस पर दृढ़ता लाने के लिए सदोष श्रमण स्वरूप पर वर्तमान की स्थिति को देखते हुए शोधात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. मूलाचार गा. 4/123
2. मूलाचार गा. 123 की आचारवृत्ति के आधार पर।
3. मूलाचार गा. 124; उत्तराध्ययन-पढमा आवस्सिया नाम विइया य निसीहिया एवं दुपंच संजुत्ता सामायारी पवेइया 26, 27
4. मूलाचार गा. 4/132
5. वही गा. 4/133
6. मूलाचार गा. 140
7. वही गा. 141
8. जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास, पृ. 314, ले. श्री भागचन्द्र जी भारकर।
9. ज्ञानार्णव श्लोक 923-24, (सोलापुर प्रकाशन)
10. मू. आ. 516; राजवार्तिक 6/22/21/530/11; भ. आ./वि. 116/274/16; ध. 8/3, 41/83/10; पु.सि.उ. 201; चा.सा. 53/3; अन.ध. 8/17, भा.पा.टी. 77.
11. समयसार गा. 2 का हिन्दी टीकानुवाद
12. मूलाचार गा. 534-35
13. मूलाचार गा. 537
14. यो यत्र निवसन्नास्ते स तत्र कुरुते रतिम्।
    यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति।। इष्टोपदेश श्लोक 43
    ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासो नात्मदर्शिनाम्।
    दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चलः।। समाधितन्त्र श्लोक 73
15. "तथेषां मध्ये आगमभाव सामायिकेन नो आगम भाव सामायिकेन च प्रयोजनमिति" मूलाचार गा. 518 की आचार वृत्ति।
16. मूलाचार गा. 519-21
17. मूलाचार गा. 522
18. रत्नकरण्डक श्रावकाचार - सामयिके सारम्भाः परिग्रहा नैव संति सर्वेऽपि। चेलोप सृष्ट मुनिरिव गृही तदा याति यति भावम्।। 102।।
19. मूलाचार गा. 533

20. कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 352, 354
21. कसाय पाहुड जय धवला 1/1/1/81, पृष्ठ 98
22. मूलाचार गा. 7/39
23. मूलाचार गा. 24; उत्तराध्ययन 29.9
24. भगवती आराधना गा. 118 की टीका, पृ. 154
25. धर्मामृत (अनगार) 8/37, पृ. 579, प्रकाशक ज्ञानपीठ, संस्करण 1977
26. मूलाचार गा. 564, ज्ञानपीठ प्रकाशन संस्करण 1984
27. मूलाचार गा. 543, ज्ञानपीठ प्रकाशन संस्करण 1984
28. धर्मामृत (अनगार) 8/37, पृ. ज्ञानपीठ प्रकाशन संस्करण 1977
29. वही 8/38
30. महापुराण 25/69-70
31. धर्मामृ. (अनगार) 8/44
32. समयसार गा. 28
33. वही गा. 29-33 का आधार
34. समयसार कलश - 26
35. अन. धर्मामृत 8/46, धवल 8/३.41/84/3
36. जयधवला 1/1-1/86 पृष्ठ 111
37. उत्तराध्ययन 29.11 (श्वेता.)
38. मूलाचार गा. 578 - ज्ञानपीठ प्रकाशन
39. अमितगति, श्रावकाचार - 8/33
40. सिद्धाचार्यादि प्रतिबिंबानां च स्तवनं स्थापना वंदना निर्युक्तिः, मूलाचार गा. 577 की वृत्ति
41. ध. 9/4, 1.68/326/1
42. तमादाहीणं पदाहिणं तिक्खुतं तियोणदं चदुशिरं बारसावत्तं तं सव्व किरियाकम्मं णाम ष.ख. 13/5, 4/सू. 28/88
43. कषायपाहुड, 1/1, 1/1/118/2 - जिणासिद्धाइरियं---तं किदियम्मं णाम।
44. सामायिक स्तवपूर्वक कायोत्सर्गश्चतुर्विंशतिस्तव पर्यन्तः कृतिकर्मेत्युच्यते, मूलाचार गा. 602 की टीका। ज्ञानपीठ प्रकाशन
45. भगवती आराधना टीका 421/614/10
46. कृतिकर्म पापविनाशनोपाय - मूलाचार वृत्ति 7/79
47. कदि आणदं कदि सिरं कदि आवत्त गेहिं परिसुद्धं।
कदिदोस विप्पमुक्कं किदियम्मं होदि कादव्वं।। मूलाचार 7/80
48. मूलाचार गा. 592, भ. आ. विजयोदया टीका गा. 118, पृष्ठ 154, (शोलापुर प्रकाशन 78)
49. मूलाचार 7/94

50. वही 7/105
51. राजवार्तिक 9/44/1
52. मूलाचार 7/101
53. मूलाचार 7/ 102
54. धवल 13/5, 4, 28/89/1
55. चत्तारि पडिक्कमणे किदियम्मा तिण्णि होंति सज्झाए।
पुव्वण्हे अवरण्हे किदियम्मा चोद्दसा होंति।। मूलाचार 7/103।।
56. मूलाचार वृत्ति 7/104
57. वही 7/104
58. वही
59. वही; अनगार धर्मामृत 8/88-89
60. मूलाचार सवृत्ति 7/106-110।
61. यो.सा.अ. 5/50 कृतानां कर्मणां ------- प्रतिक्रमणमीर्यते।
62. नि.सा.गा. 82.
63. प्र.सा.ता.वृ. 207/281
64. स.सि. 9/22; रा.वा. 9/22/3; त.सा. 7/239
65. ध. 8/3, 41/84/6
66. मू.आ. 26
67. ध. 13/5, 4, 26/60/8
68. मूलाचार 7/116
69. भ.आ.वि. 116/275/14.
70. भ.आ.वि. 116/275/14
71. वही 509/728/14
72. स.सा.ता.वृ.गा. 307
73. वही गा. 283
74. स.सा.गा. 284-285 भावार्थ जयचन्द्र कृत
75. रा.वा. 9/22/4
76. सर्व प्रतिक्रमणमालोचनापूर्वकमेव । तत्वार्थवार्तिक 9/22/4
77. मूलाचार गा. 7/121
78. चारित्रसार 141/4
79. मूलाचार 7/103
80. अन.ध. 9/38
81. स.सा.मू. 384
82. नि.सा.मू.गा. 95, 97, 104
83. योगसार (अमितगति कृत) 5/51

84. नि.सा.ता.वृ. 95
85. रा.वा. 6/24/11
86. ध. 6/1, 9-1, 24/44/4
87. ध. 8/3, 41/85/1
88. मू.आ. 27
89. वही गा. 639-40
90. भगवती आराधना टीका सहित 509
91. वही 1/27
92. स्थानांग सूत्र 3/27, 5/221
93. समयसार गाथा 34
94. जै.सि.को.पृ. 627
95. मू.आ.गा. 28
96. रा.वा. 6/24/11; 530/14, भ.आ.वि. 6/32/21
97. नि.सा.गा. 121
98. कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. 467-68
99. मूलाचार 662, 668; अन. ध. 8/76
100. वही 667, 671-672
101. वही गा. 656
102. मूलाचार गा. 659-60
103. जोगेसु मूलजोगं भिक्खाचरियं च वण्णियं सुत्ते।
अण्णे य पुणो जोगा विण्णाणविहीण एहिं कया।। मूला. 10/46।।
104. मूलाचार 10/40
105. वही, आचारवृत्ति 10/26
106. वही 10/25
107. पिण्ड निर्युक्ति गा. 6
108. पिण्ड शुद्धिमाहार शुद्धिमिति-मूलाचार, पिण्ड शुद्धि अधिकार गा. 1
109. त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्य पुद्गल ग्रहणामाहारः - सर्वार्थसि. 2/30/320 पृ. 133
110. अनगार धर्मामृत स्वोपज्ञ ज्ञानदीपिका 3/9, पृ. 495
111. आहारदंसणेण य तस्सुवजोगेण ओमकोठाए।
सादिदरुदीरणाए हवदि हु आहारसण्णा हु।। गो.सा.जी.गा. 135
112. मूलाचार 7/147; अनगार धर्मा. 7/13
113. वही 7/148
114. वृहत्कल्पभाष्य 1363
115. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भाग 1, पृष्ठ 285, द्वितीय संस्करण, इस सूची के प्रमाण-

घ. 1/1,1, 176/409/10; नि.सा./ता.वृ. 63 में उद्धृत; प्र.सा. ता.वृ. 20 में उद्धृत प्रक्षेपक गा.सं. 2, स.सा./ता.वृ. 405 मू.आ. 676; रा.वा. 7/21/8/548/8; अन.ध. 7/13/667, ला.सं. 2/16-17

116. निर्ग्रन्थ गुरू की महिमा - समन्वयवाणी सितम्बर प्रथम सन्, 86 (चर्चावर्णन से उद्धृत)
117. विहितविधिना देह स्थित्यै तपांहयुपबृंहय,
न्नशनमपरैर्भक्त्या दत्तं स्वचिकियदिच्छति।
तदपि नितरां लज्जाहेतुः किलास्य महात्मनः,
कथमयमहो गृण्हात्यनयान् परिग्रहदुर्ग्रहान्।। 158।। आत्मानुशासन
118. मूलाचार 6/62
119. जतासाधणमेतं - वही 6/64, भुंजति मुणी पाणधारणणिमितं-वही 9/49
120. वही 9/48
121. तत्वार्थ वार्तिक 9/5/6
122. उत्तराध्ययन 8/11
123. भगवती सूत्र 1/9 सूत्र 438, अंगसुत्राणि भाग2,पृ. 73
124. ज्ञाताधर्म कथा अ. 2 तथा 8
125. रयणसार 107
126. मूलाचार 6/60; उत्तरा 26.33, 6.14, 8.10-12 ,12-35
127. वही 6/61, उत्तरा. 19.76-77, 15.8
128. मूलाचार 6/59
129. मूलाचार वृत्ति 6/61
130. वेयण वेयावच्चे इरियट्ठाए य संजमट्ठाए
तह पाणवतियाए छट्ठं तुण धर्माचिन्ताए।। स्थाना. 6/41, उत्तरा. 26/33
आयं के उपसग्गे तितिक्खया बम्भचेरगुतीसु।
पाणिदया तवहेउं सरीर - वोच्छेयण्ट्ठाए।। स्थाना. 6/42, उत्तरा. 26/35
रयणसार गा. 108; चारिजसार 78 तत्वार्थवार्तिक 9/6/16
132. अन.ध. 6/49
133. निर्ग्रन्थ गुरू की महिमा - समन्वय वाणी नवम्बर प्रथम-86
134. मूलाचार 9/49
135. जह सगडक्खो वंगो कोरई भरवहण कारणा णवरं।
तह गुणभार वहणत्थं, आहारो बंभयारीणं। उत्तराध्ययन वृहद्वृति 8/11,पत्र 294,
136. तत्वार्थवार्तिक 9/6/16
137. दशवैकालिक 5/1/1 की जिनदास कृतचूर्णि पृ. 167-168
138. दशवैकालिक हरिभद्रीय टीका पत्र 18
139. दशवैकालिक की अगस्त्यसिंह चूर्णि पृ. 99

140. तत्वार्थवार्तिक 9/6/16
141. चर्चा संग्रह पृ. 119/ सम्पादक डॉ. योगेश चन्द्र जैन
142. मूलांचार वृतांते सहित 6/73

143. मूलाचार वृत्ति - गा. 492 (ज्ञानपीठ प्रकाशन)
144. मूलाचार वृत्ति 5/121
145. भगवती आराधना 1200 की विजयोदया टीका पृ. 607-8, प्रकाशक जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर, संस्करण 1978
146. उत्तराध्ययन 26/11-12
147. दशाश्रुत स्कन्ध 2/3
148. दशवैकालिक 8/28
149. मूलाचार 5/99
150. दशवैकालिक 5/1/8
151. मूलाचार गा. 494, ज्ञानपीठ प्रकाशन, संस्करण 1984
152. वही गा. 493
153. भ.आ.गा. 1200 की विजयोदया टीका पृ. 608-609, (संस्करण 1978) सोलापुर प्रकाशन
154. मूलाचार वृत्ति 5/121
155. मूलाचार गा. 355 की वृत्ति; अनगार धर्मामृत स्वोपज्ञवृतिमें
"कांस्यभाजनेन रूप्यभाजनेन सुवर्णभाजनेन मृन्मयभाजनेन वा ददाति तदा गृहीष्यामीति----- । 7/26
156. गत्तापच्चागंद उज्जुवीहि गोमुंत्तियं च पेलवियं।
सम्बूका वट्टंपि य पदंगवीधी य गोयरिया।।
भगवती आ.वि. टीका - 220 (सोलापुर प्रकाशन)
157. विद्युदिव स्वां तनुं च दर्शयेत् - भगवती आराधना, विजयोदया - 1206।
158. पिच्छं कमण्डलु वामहस्ते स्कन्धे तु दक्षिणम्।
हस्तं निधाय संदृष्टया स व्रजेत श्रावकालयम्।। धर्म रसिक 12/70 पृ. 354

159. आदिपुराण पृ. 459 अलीगंज के मन्दिर में स्थित हस्तलिखित प्रति से।
160. मूलाचार 6/20
161. वही 9/46
162. अण्णद मणुण्णादं भिक्खणिंच्चुच्चमज्झिम कुलेसु।
घर पंतिहि हिडांति य मोणेण मुणी समादिंति।। मूलाचार 9/47
163. नीचोच्चमध्यमकुलेसु दरिद्रेश्वर समान गृहिषु गृहपंक्त्या हिंडति पर्यटंति - मूलाचार वृत्ति 9/47

164. मूलाचार 9/47, भ.आ. विजयोदया टीका 1200
165. कुलं संवंधि समवातो, तदालयो वा - दशवै. अगस्त्यसिंह चूर्णि पृ. 103
166. दशवै. हरिभद्रीय टीका पत्र 166
167. मूलाचार 6/79
168. दरिद्र कुलानि उत्क्रमाद्य कुलानि न प्रविशेत्।
भ.आ.गा. 1200 की विजयोदया
169. भ.आ. विजयोदया टीका गा. 1200
170. दशवैकालिक 5/1/17
171. निशीथ 16/17
172. दशवैकालिक 5/1/16
173. वदसीलगुणा जम्हा भिक्खा चरिया विसुद्धिएं ढंति।
तम्हा भिक्खाचरियं सोहिय साहू सदा विहारिज्ज।। मूलाचार 10/112
174. वही 10/113
175. णवकोडी परिसुद्धं दसदोस विवज्जियं मलविसुद्धं।
मुंजुंति पाणिपत्ते परेण दत्तं परघरम्मि।। वही 9/45
176. मूलाचार वृत्ति 6/63, 9/45
177. स्थानांग 9/30
178. णहरोमजंतु अट्ठो कण कुंडयपूयिम्मसहिरभ्रंसाणि। मूलाचार 6/65
179. मूलाचार गा. 484 की पृ. 363
180. वही गा. 482-83 (ज्ञानपीठ प्रकाशन)
181. प्रवचनसारोद्धार गा. 742, पृ. 299
182. उत्तराध्ययन - 32.11
183. कल्पसूत्र 9 वां अध्याय पृ. 112, प्रकाशक - भीमसिंह माणेक बम्बई, गुजराती टीका, संस्करण वि.सं. 1962
184. वही।
185. "जैन आचार" पृ. 157 (ले. मोहनलाल मेहता)
186. कल्पसूत्र - गुजराती टीका 9 वा व्याख्यान 111 पृष्ठ; संस्करण - विक्रम संवत् 1962, प्रकाशक भीमसिंह माणेक, बम्बई।
187. आचारांगसूत्र - 10 वां अध्याय, चतुर्थ उद्देश्य के 565 वां सूत्र पृ. 175 प्रो. रावजीभाई देवराज द्वारा प्रकाशित - संस्करण वि.सं. 1962, मोरबी काठियावाड
188. आचारांग सूत्र, 10 वां अध्याय, 9 वां उद्देश्य 619 सूत्र पृ. 201, प्रो. रावजीभाई द्वारा प्रकाशित
189. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास भाग 1 - पृष्ठ 111 से 112/प्रकाशक पा.वि.श्र./सम्पादक दलसुखमलवणिया। मोहनलाल मेहता
190. भगवती आराधना गा. सं. 1200 की विजयोदया टी.

191. सीओदगं न सेवेज्जा सिलावुट्ठं हिमाणि य।
उसिणोदगं तत्र फासुयं पडिगाहेज्ज संजए।। दशवैकालिक 8/6
192. मूलाचार 5/13
193. उत्तराध्ययन 2/4-5
194. मूलाचार गा. 421 (ज्ञानपीठ प्रकाशन); उत्तरा. 24/11-12
195. पगदा असओ जह्मा तह्मादो दव्वदोति तं दव्वं।
फासुगमिदि सिद्धेवि य अप्पट्ठकदं असुद्धं तु।। 485।।
जह्मच्छयाण पयदे मदणुदये मच्छया हि मज्जंति।
णहि मंडूगा एवं परमट्ठकदे जदि विसुद्धो।। 486।। मूलाचार
196. मूलाचार 10/43, 6/68
197. वही 10/31-32
198. वही- 10/29
199. दिगम्बर मुनि - पृ. 26 (आर्यिका ज्ञानमती)
200. कार्तिकेयानुप्रेक्षा - द्वितीय तृतीया वा भूमि : सा मालारोहमित्युच्यते - गा. 449 पृ. 338 (राजचन्द आश्रम प्रकाशन)
201. मूलाचार गा. 425 से 444 तक के आधार पर
202. मूलाचार गा. 445 से 461 के आधार पर
203. मूलाचार 6/3; दशवैकालिक 10/4
204. भिक्षुविचार दर्शन पृ. 12 (भिक्षु यश रसायण ढाल 5, गा. 15-16)
205. भ. मू. 4/95-500 व अन. ध. के आधार पर
206. अन. ध. 9/94, 96
207. लिंग पाहुड़ गा. 13
208. रा. वा. 9/6/597/29
209. मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ. 184 (6 वां अध्याय) देखें
210. रयणसार 23
211. मू. आ. 491
212. मूलाचार 5/153
213. प्र. सा./मू. 229----- अपरिपूर्णोदरे यथालब्धः।
214. औपपातिक सूत्र 19
215. मू. आ. 492; अन. ध. - 9/92
216. मू. आ. 482 ---------- 1 ---------- विहिसु दिण्णं
217. म. पु. 20/86-87; पु. सि. उ. 169; चा. सा. 26/3 परउद्धृत वसु. श्रा. 225; का. अ. पं. जयचन्द्र-360; दानशासन अ. 5
218. रा. वा 7/39/4/559/29; गुण. श्रा. 15, पु. सि. उ. श्लोक 169; सा. ध. 5/47
219. भ. आ. वि. 1206/1204

220. मूलाचार 1/34; भग.आ. 1208 विजयोदया; अन.ध. 9/94
221. प्रव. सार मू. 229
222. प.पु. 4/97
223. सा.ध. 4/35
224. वही 4/34
225. आवश्यकचूर्णि पूर्वभाग पृ. 271; आचारांग चूर्णि पृ. 309
226. श्रमण महावीर पृ. 109
227. भ.आ.वि. उत्थानिका 142
228. भ.आ.गा. 142-150
229. वही गा. 152 की विजयोदया टीका।
230. मू.आ. 304-306
231. भ.आ.गा. 154 की विजयोदया
232. मूलाचार गा. 146-47 आचारवृत्ति सहित
233. वही गा. 148
234. मू.आ.गा. क्रमशः 150-155, 989, 960
235. सज्जनचित्तवल्लभ श्लोक 18, "एकाकीविहरत्यनास्थित त्रलीवर्दो यथास्वेच्छया
236. त्यक्तगुरुकुल एकाकित्वेन स्वच्छन्दविहारी जिनवचनदूषको मृगचारित्रः स्वच्छन्दः इति (चारित्र धर्मप्रकाश पं. 202)
237. सू.पा.गा. 9
238. आदिपुराण पृ. 545 (हस्तलिखितप्रति, अलीगंज जैन मन्दिर)
239. सूत्र कृतांग, पृ. 142 (सम्पादक मधुकर मुनि, ब्यावर प्रकाशन)
240. दशा श्रु. स्क.सू. 1-2; दशवै.अ. 9 सू. 3-4
241. भ.आ.गा. 626-638, 229
242. वही गा. 228, 625
243. वही गा. 228, 635
244. मूलाचार गा. 949, ज्ञानार्णव, 27/31, अन. ध. 3/30
245. किरातार्जुनीय सर्ग 2, श्लोक 6
246. मू.आ.गा. 950, भ.आ.गा. 231, बो.पा.गा. 42, त.सू. 7/6, स.सि. 9/19, रा.वा. 9/6/16, ध. 13/5, 4, 26/58/8, रत्न.श्रा. 111 की टीका, पद्मपुराण पर्व 30,36
247. मू.आ. 785, बो.पा.टी. 42, भ.आ.गा. 234, 236, 237
248. कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 449, पृ. 336-69
249. वर्षाकालस्य चतुर्षु मासेषु एकत्रैवावस्थानं भ्रमणत्यागः,-मूलाचार सवृत्ति 10/18, भ.आ.वि.टी. 421
250. भ.आ.वि.टी. 421; वृहत्कल्पभाष्य भाग 3 (श्वे.) गा. 2736-37
251. आचारांग सूत्र 3/3/1/111
252. वृहत् कल्प भाष्य 1/36

253. अनगार धर्मामृत 9/66-67
254. अनगार धर्मामृत 9/68-69
255. आसाढ़ पुण्णिमाए वासावासं वसित्तए-कल्पसूत्र सूत्र 17 की टीका
256. कल्पसूत्र निर्युक्ति गा. 16, कल्पसूत्र चूर्णिपृष्ठ 89
257. कोई सव्वसमत्थो ---------- वासो तदो णीदो।। मूलाचार 4/145-47
258. आएसं एज्जंत्तं सहसा दट्ठूण संजदासव्वे।
वच्छल्लाणासंगहपणमणहेदुं समुट्ठंति।। मूलाचार 4/160
259. पच्चुग्गमणं ---------- कुज्जा।। वही 4/161
260. विस्समिदो तद्दिवसं ---------- वही 4/165
261. आएसस्स तिरत्तं - परिक्खणाहेऊं ।। वही 4/162
262. वही 4/166-67
263. स.सि. 7/22
264. रा.वा. 7/22/6-7; पु.सि. 30,177-178
265. स.सि. 7/22
266. स.सि. 7/22 -"सम्यक्कायकषायलेखना सल्लेखना"
267. पं.का.ता.वृ.गा. 173
268. मू.आ.गा. 39-45
269. भ.आ.गा. 71-74; रा.वा. 7/22/11, र.क.श्रा. 122, सा.ध. 8/9-10
270. भ.आ.गा. 76
271. वही विजयो.गा. 18
272. भ.आ.गा. 384-400
273. भ.आ.गा. 401, 402, 409
274. भ.आ.गा. 649-672
275. णिज्जवया य दोण्णि वि होंति जहण्णेण कालसंसयणा।
एक्को णिज्जावयओ ण होइ कइयावि जिणसुत्ते।। 672।।
एगो जइ णिज्जवओ अप्पा चत्तो परो पवयणं च
वसणमसमाधिमरणं उड्डाहो दुग्गदी चावि।। 673।। भगवती आराधना।
276. भ.आ.गा. 649-672
277. वही गा. 679-683
278. मूलाचार गा. 95
279. मूलाचार गा. 997-98 (ज्ञानपीठ प्रकाशन)
280. भा.सं.जै.यो. 45.
281. भा.सं.जै.यो. 45.
282. जै.सा.इति. 480-81.
283. इतस्ततश्च त्रस्यंतो विभावर्या यथा मृगाः।
वनाद्विशन्त्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः।। 197।।

284. अपरे पुनर्द्रव्यजिनलिंग धारिणो मठपतयो म्लेच्छन्ति म्लेच्छा इवाचरन्ति।
लोकशास्त्र विरुद्धमाचारं चरन्तीत्यर्थः ---------- जै. सा. इति. पृ. 488.
285. जैन निबंध रत्नावली, पृ. 405
286. त. सू. अ. 9 सू. 47.
287. "क्या चाहते है ये भेषधारी मुनि" - ले. पं. सत्यन्धर कुमार सेठी, (इसमें सुधर्मसागर ने ले. को मारने के लिए अनशन पर बैठे और कहा कि जाओ मारो, पीटो ---- लाश मेरे सामने लाओ करो तैयारी जुलूस की") समन्वय वाणी, मई (प्रथम) 1987.
288. परिपत्रक क्रमांक 21, ता. 1-10-88.
289. पंडितै भ्रष्टचारित्रैर्वठरैश्च तपोधनः।
शासनं जिनचन्द्रयस्य निर्मलं मलिनीकृतम्।। अन. ध. पृ. 182 परउद्धृत।
290. जैन सन्देश, 2 दिसम्बर सन् 1982, सम्पादकीय (पं. कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री)
291. जैन सन्देश 5 मार्च, 1981, प्रकाशित समाचार के आधार पर।
292. "श्रमणजैन" 1956 पृ. 34
293. जैन साधु सम्मेलन का इतिहास ले. दुर्लभजी जौहरी, पृ. 38-39.
294. वही, प्रारम्भिक प्रस्तावना।
295. मनु टाइम्स, मार्च द्वितीय आदि अंकों से 1987.
296. जैन सन्देश 14 जौ. 1983 - सम्पादकीय - पं. कैलाशचन्द्र जी।
297. वीरवाणी अगस्त, 1959, सम्पादकीय।
298. धर्म के दशलक्षण पृ. 244-45, ले. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल।
299. जैन सन्देश अंक 21-28 दिसम्बर 89, पृष्ठ 1.
300. बाला वयंति एवं वैसो तित्थकराण एसोवि।
णमणिज्जयो धिद्धि अहो सिरशूलं करस्स पुक्करिगो।। 76।। संबोध प्रकरण।।
301. मोक्ष पाहुड गा. 78-79.
302. मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ. 184-187 का सारांश
303. मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ. 179.
304. भ. आ. 290-293, र. सा. 106-114.
305. भा. पा. 155.
306. र. क. श्रा. 33.
307. मूलाचार गा. 595.
308. मूलाचार गा. 494-96, भ. आ. 1289 से 1306, चा. ध. प्र. पृ. 200-1.
309. चा. ध. प्र. पृ. 201.
310. चर्चा संग्रह (ह. लि.) पृ. 154
311. भारतीय जन का इतिहास पृ. 413 - सम्पादक डॉ. रमेश चन्द्र मजूमदार एवं डॉ. अनन्त प्रकाश सदाशित अल्तेकर।

चतुर्थ अध्याय

जैन श्रमण के भेद-प्रभेद

जैन श्रमण के अनेक भेद जो आचार्य, उपाध्याय, तथा तीर्थंकर आदि की अपेक्षा से जैनागम में मिलते हैं, वे वस्तुतः चारित्रगत नहीं है; अपितु वे भेद प्रशासनिक, अथवा अध्यापन व्यवस्था अथवा विशिष्ट पुण्योदय की अपेक्षा से हैं। सामान्यतः सभी श्रमण बराबर ही हैं। उनमें पूज्यता आदि की अपेक्षा से कोई विशेष भेद नहीं किया जा सकता है। जो आचार्य उपाध्याय व साधु के भेद हैं वे सब श्रमण शब्द के वाच्य हैं।[1] प्रवचनसार **तत्वप्रदीपिका** में तो सभी को समान रूप से नमस्कार करते हुए कहा कि "ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचारयुक्त होने से जिन्होंने शुद्धोपयोग रूप भूमिका को प्राप्त किया है, ऐसे श्रमणों को - जो कि **आचार्यत्व** उपाध्यायत्व और साधुत्व रूप विशेषों से विशिष्ट है, उन्हें-नमस्कार करता हूँ। चत्तारि दण्डक (मंगल, शरण, उत्तम) में भी साधु को नमस्कार करके आचार्य एवं उपाध्याय को भी संगृहीत कर लिया है।[2] इन आचार्यादिक तीनों का एक ही प्रयोजन रहता है, क्रिया भी एक है, बाह्य वेष, बारह प्रकार का तप और पंच महाव्रत भी एक हैं। तेरह प्रकार का चारित्र समता, मूल तथा उत्तर-गुण, संयम, परीषह और उपसर्गों का सहन, आहारादिक की विधि, चर्या, शय्या, और आसन, मोक्षमार्ग रूप आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान व चारित्र - इस प्रकार ये अंतरंग और बहिरंग रत्नत्रय, ध्याता, ध्यान व ध्येय, ज्ञाता, ज्ञेयाधीन ज्ञान, चार प्रकार की आराधना, तथा क्रोध आदि को जीतना ये सब समान व एक हैं। अधिक कहाँ तक कहा जाए, उन तीनों की सब ही विषयों में समानता है।[3] तथा ये तीनों ही आत्मा की पर्यायें बतलाते हुए कहा कि "अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँच एक आत्मा में ही चेष्टा रूप हैं। परन्तु इनमें आचार्य और उपाध्याय पद उपधि रूप हैं, और मुक्ति तो साधु अवस्था से होती है। इसी कारण सल्लेखना के समय, आचार्य, उपाध्याय पद को उपधि रूप होने से उसे त्याग कर साधु दशा स्वीकार की जाती है।

इस सम्बन्ध में पंचाध्यायीकार कहते हैं कि, "परमागम में यह अन्वर्थ रूढ़ि प्रसिद्ध है कि वास्तव में साधु पद के ग्रहण कि [illegible] किसी को भी केवलज्ञान की उत्पत्ति [illegible] होती

है। तथा वहाँ प्रत्यक्ष ज्ञाता सर्वज्ञदेव ने यह अच्छी तरह कहा है कि, श्रेणी पर अधिरूढ़ आचार्य आदि को क्षण भर में वह साधु पद स्वयं प्राप्त हो जाता है। क्योंकि वह आचार्य और उपाध्याय श्रेणी चढ़ने के काल में सम्पूर्ण चिन्ताओं के निरोध रूप ध्यान को अवश्य ही धारण करते हैं। अतः सिद्ध होता है कि श्रेणीकाल में उनको अनायास ही वह साधु पद प्राप्त हो जाता है, क्योंकि वहाँ पर निश्चय से बाह्य उपयोग के लिए बिलकुल अवकाश नहीं मिलता। किन्तु ऐसा नहीं है कि आचार्य, श्रेणी के आरोहण काल में पहिले छेदापस्थापनारूप चारित्र करके पीछे साधु पद को ग्रहण करते हों।[4]

यद्यपि, आचार्य-उपाध्याय एवं साधु में स्वरूप की अपेक्षा से कोई विशेष भेद नहीं है। तथापि कार्य भेद की अपेक्षा से उनमें भेद करते हुए कहा है कि, आचार्य, उपाध्याय और साधु इस प्रकार गुरू की तीन अवस्थाएँ होती हैं, क्योंकि ये तीनों मुनि-कुंजर आचार्य आदि विशेष-विशेष पद में आरूढ़ माने जाते हैं।[5] सामान्यतः ये तीन भेद हैं, परन्तु और विशेष आन्तरिक व्यवस्था के दृष्टिकोण से प्रवर्तक, स्थविर और गणधर सहित श्रमणों के पाँच भेद हो जाते हैं। इन प्रमुख भेदों का स्वरूप यहाँ क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है।

1. आचार्य-

णमोकार महामंत्र के तीसरे नम्बर पर आचार्य परमेष्ठी को स्मरण करके, उनकी श्रेष्ठता व महनीयता प्रदर्शित की गयी है, जो कि आचार्य पद के अप्रतिम गरिमा व गौरव की प्रतीक है। श्रमण संघ की संस्कृति में नायक के रूप में "आचार्य" पद का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है।

जो श्रमण पंच प्रकार के आचार को निरतिचार रूप से स्वयं पालता है, और इन आचारों में दूसरों को भी प्रवृत्त कराता है, तथा आचार का शिष्यों को भी उपदेश देता है उसे आचार्य कहते हैं।[6] धवला में आचार्य की विस्तृत विवेचना करते हुए कहा कि "प्रवचनरूपी समुद्र के जल के मध्य में स्नान करने से अर्थात् परमात्मा के परिपूर्ण अभ्यास से और अनुभव से जिनकी बुद्धि निर्मल हो गयी है, जो निर्दोष रीति से छह आवश्यकों का पालन करते हैं, जो मेरू के समान निष्कम्प हैं, शूरवीर हैं, सिंह के समान निर्भीक हैं, जो श्रेष्ठ हैं, देश-कुल और जाति से शुद्ध हैं, सौम्यमूर्ति हैं, अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित हैं, आकाश के समान निर्लेप हैं-ऐसे आचार्य परमेष्ठी हैं। जो संघ के संग्रह अर्थात् दीक्षा और निग्रह अर्थात् शिक्षा या प्रायश्चित्त देने में कुशल हैं, जो सूत्र अर्थात् परमागम के अर्थ में विशारद हैं, जिनकी कीर्ति सब जगह फैल रही है, जो आचरण, निषेध, और व्रतों की रक्षा करने वाली क्रियाओं में निरन्तर उद्यत हैं, उन्हें आचार्य परमेष्ठी समझना चाहिए। जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पाँच आचारों का स्वयं पालन करते हैं और दूसरे साधुओं से पालन कराते हैं उन्हें आचार्य कहते हैं। जो चौदह विद्या स्थानों में पारंगत हो, ग्यारह अंगों के धारी हो, अथवा आचारांग मात्र के धारी हो, अथवा तत्कालीन

स्व-समय और परसमय में पारंगत हो, मेरू के समान निश्चल हो, पृथ्वी के समान सहनशील हो, जिन्होंने समुद्र के समान मल अर्थात् दोषों को बाहर फेंक दिया हो, जो सात प्रकार के भय से रहित हो, उन्हें आचार्य कहते हैं।[7] आचार्य पूज्यपाद एवं अकलंकदेव ने संक्षिप्त में बतलाते हुए कहा कि "जिसके निमित्त से व्रतों का आचरण करते हैं वह आचार्य कहलाता है।[8]

आचार्य पद के गुण -

आचार्य शिवार्य ने आचार्य के गुणों को बतलाते हुए कहा कि आचार्य आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, कर्त्ता, आयातपायदर्शनोद्योत और उत्पीलक होता है। तथा वह अपरिसहस्रावी, निर्वापक, निर्यापक, प्रसिद्ध कीर्तिमान और निर्यापन के गुणों से परिपूर्ण होता है।[9] बोधपाहुड की टीका में 36 गुण उदधृत किये हैं-आचारवान्, श्रुताधार, प्रायश्चित्त, आसानादित, आयापायकथी, दोषभाषक, अश्रावक, सन्तोषकारी, निर्यापक, ये आठ गुण तथा अनुद्दिष्ट भोजी, शय्यासन और आरोगभुक्, क्रियायुक्त, व्रतमान, ज्येष्ठसद्गुण, प्रतिक्रमी, षण्मासयोगी दो निषद्यक, 12 तप और छह आवश्यक ये 36 गुण आचार्यों हैं।[10]

आचार्य शिवार्य ने 36 गुणों की चर्चा अलग से करते हुए कहा कि "आचारवत्व आदि 8 गुण, दस प्रकार की स्थिति कल्प, बारह तप, छह आवश्यक, ये छत्तीस गुण होते हैं। 4. आशाधर ने अपनी टीका में छत्तीस गुण संस्कृत टीका में विजयोदया के अनुसार बतलाकर प्राकृत टीका के अनुसार अट्ठाइस मूलगुण और आचारवत्व आदि आठ इस तरह छत्तीस बतलाए हैं।

आचारवत्व आदि आठ गुण - आचारवत्व, आधारवत्व, व्यवहारपटुता, प्रकारकत्व, आयापाय दर्शिता, उत्पीलक, अपरिस्रवण और सुखावहन

1. आचारवत्व -

आचार के पाँच भेद हैं-ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार, और वीर्याचार।

(क) **ज्ञानाचार** - जिससे आत्मा का यथार्थ स्वरूप जाना जाता है, तथा जिससे आत्मा कर्म बन्धनों से मुक्त होता है वही ज्ञानाचार है।

(ख) **दर्शनाचार** - जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना, अथवा 25 मल-दोष रहित सम्यक्त्व का धारण करना दर्शनाचार है।

(ग) **चारित्राचार** - पाप-क्रिया से निवृत्ति चारित्र है। वह प्राणिवध, असत्य, चोरी, अब्रह्म, और अपरिग्रह इनसे निवृत्ति रूप में होती है।

(घ) **तपाचार** - जो शरीर और इन्द्रियों को तपाता है-दहन करता है, वह तप है। यह बाह्य और अभ्यंतर रूप दो भेदों में है। इन दोनों के भी छह-छह के भेद से बारह भेद हो जाते हैं।

(ङ) **वीर्याचार** - अपने बल और वीर्य को न छिपाकर जो साधु यथोक्त आचरण में अपने को लगाता है, तप के प्रति उत्साहित रहता है, वह वीर्याचार है। इन पाँचों का पालन करना-कराना ही आचारवत्व है।

2. आधारवत्व -

जिस श्रुतज्ञान रूपी सम्पत्ति की तुलना कोई भी नहीं कर सकता, उसको, अथवा नौ पूर्व, दशपूर्व, या चौदह पूर्व तक के श्रुतज्ञान को अथवा कल्प व्यवहार के धारण करने को आधारवत्व कहते हैं।

3. व्यवहार पटुता -

व्यवहार का अर्थ यहाँ प्रायश्चित्त से है, वह पाँच प्रकार का है। इसकी कुशलता ही व्यवहार पटुता है। जिन्होंने अनेक बार प्रायश्चित्त देते हुए देखा है, स्वयं ग्रहण किया है, दूसरों को दिलवाया है, वही व्यवहार पटु है।

4. प्रकारकत्व -

जो समाधिमरण कराने में या उसकी वैयावृत्य में कुशल है, उन्हें परिचारी अथवा प्रकारी कहते हैं, यह गुण प्रकारकत्व कहलाता है।

5. आयापायदर्शिता -

आलोचना करने के लिए उद्यत हुए क्षपक (समाधि-मरण करने वाला साधु) के गुण दोषों को प्रकाशित करने को आयापायदर्शिता अथवा गुणदोषप्रवक्तृता कहते हैं।

6. उत्पीलक -

कोई साधु या क्षपक यदि दोषों को पूर्णतया नहीं निकालता है, तो उसके दोषों को युक्ति और बल से **बाहर** निकाल देना उत्पीलन गुण है।

7. अपरिस्रवण -

शिष्य के गौप्य दोष को सुनकर जो प्रकट नहीं करते हैं उनके अपरिस्रवण गुण होता है।

8. सुखावह -

क्षुधादि से पीड़ित साधु को उत्तम कथा आदि के द्वारा शांत करके सुखी करते हैं, वे सुखावह गुण के धारी हैं।

स्थिति कल्प के दश भेद -

आचेलक्य, औद्देशिक, पिंड त्याग, शय्याधर पिंड त्याग, कृति कर्म, व्रतारोपण योग्यता, ज्येष्ठता, प्रतिक्रमण, मासैकवासिता और योग, इस प्रकार दस स्थितिकल्प के धारी होते हैं। छह आवश्यकों का वर्णन 28 मूलगुणों में ही हो चुका है। तप 12 प्रकार का बतलाया है - अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश-ये छह बहिरंग तप हैं।

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग एवं ध्यान, ये अन्तरंग तप हैं।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लो-5 की पं. सदासुख दास कृत षोडशकारण भावना में आचार्य भक्ति में-12 तप, 6 आवश्यक, 5 आचार, 10 धर्म, 3 गुप्ति के भेद से 36 गुण कहे हैं। इसी प्रकार के गुण बुधजन कवि कृत इष्टछत्तीसी में मिलते हैं।[11]

उत्तराधिकारी आचार्य व नियुक्ति विधि-

श्रमणों के संघ का संरक्षक आचार्य होता है। इसी कारण श्रमण संस्कृति में "आचार्य पद" का अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है। इसलिए आचार्यपद की पात्रता पर जैन धर्म में पर्याप्त सूक्ष्मता व गम्भीरता से विचार किया गया है। जब संघ का आचार्य यह देखता है कि मेरा अब समाधिमरण का काल है। तब वह अपने पद का योग्यतम उत्तराधिकारी चयन करता है। उत्तराधिकारी के चयन में आचार्य अत्यधिक विवेक का परिचय देते हैं, मनचाहे जिस-किसी को आचार्य नहीं बना देते हैं, अपितु जो रूप से, वय से, योग्यता से अति विशिष्ट हो, अखण्ड आचारी, प्रायश्चित्त विधि का अनुभवी, सबल दोषों से रहित, निःकषाय चारित्र वाला, तथा संघ के सभी श्रमण जिसके आचार्य होने की कल्पना कर रहे हों - ऐसे सर्वमान्य श्रमण विशेष को ही आचार्य पद से प्रतिष्ठापित करते हैं।

उपर्युक्त योग्यताधारी श्रमण को आचार्य पद पर प्रतिष्ठापन विधि का स्वरूप बतलाते हुए आचार्य शिवार्य कहते हैं कि, आचार्य अपनी आयु की स्थिति का विचार कर सम्पूर्ण संघ को और बालाचार्य को बुलाकर शुभ-दिन, शुभकरण, शुभ नक्षत्र और लग्न में तथा शुभ देश में गच्छ का पालन करने योग्य गुणों से विभूषित अपने समान भिक्षु का विचार करने के पश्चात् वह धीर-वीर आचार्य उपदेश देकर उस बालाचार्य को अपना गण सौंप देते हैं।

तदनन्तर वे समस्त चतुर्विध संघ से कहते हैं कि ज्ञान-दर्शन और चारित्रात्मक धर्मतीर्थ की व्युच्छित्ति न हो, अतः सब गुणों से युक्त जानकर इन्हें मैंने अपना उत्तराधिकारी बनाया है। अब यह तुम्हारा आचार्य है। आप इस गण का पालन करें। इतना कहकर वे अपने द्वारा स्वीकृत उस आचार्य को संघ के मध्य में विराजमान करके स्वयं अलग होकर बाल और वृद्ध मुनियों से युक्त उस गण से मन-वचन-काय पूर्वक क्षमा-याचना करते हैं। वे कहते हैं कि, दीर्घकाल तक साथ रहने से उत्पन्न हुए ममता-स्नेह द्वेषवश जो कटु और कठिन वचन कहे गये हों, उस सब के प्रति मैं क्षमा भाव रखता हूँ। समस्त संघ भी इसी क्षमा भावों से युक्त उनसे क्षमा भाव प्रगट करता है।

उत्तराधिकारी आचार्य को शिक्षा देने के बाद नये आचार्य को आर्शीवाद देते हैं, और कर्तव्य बोध कराते हुए कहते हैं कि-"उत्पत्ति स्थान में छोटी सी भी उत्तम नदी जैसे विस्तार के साथ बढती हुयी समुद्र तक जाती है, उसी प्रकार तुम शील और गुणों में सदा वृद्धि को प्राप्त रहो। तुम विलाव के शब्द की तरह आचरण मत करना। कारण कि, विलाव का शब्द पहले जोर का होता है, फिर क्रम से मन्द हो जाता है। उसी प्रकार रत्नत्रय की भावना के पहले, बडे उत्साह से करके पश्चात् शनैः शनैः मन्द मत करना। और इस तरह अपना व संघ का विनाश मत करना। क्योंकि जो जलते हुए अपने घर को भी आलस्यवश बचाना नहीं चाहता, उस पर विश्वास कैसे किया जा सकता है ? कि वह दूसरे के जलते हुए घर को बचा पएगा? अतः ज्ञान दर्शन चारित्र के अतिचारों को दूर करना। मेरे अधीन बहुत मुनि हैं, अतः अपने आप में गणी होने का घमण्ड मत करना। तथा शिष्यों द्वारा आलोचित दोषों को अन्य के सामने उद्घाटित नहीं करना, सभी यतियों से भरे गण की अपनी आँख की तरह रक्षा करना। इस तरह अच्छे-बुरे, गुण-दोषों का विवेचन करके उसका पथ प्रशस्त करते हुए आशीर्वाद देते हैं।

उपाध्याय -

जो चौदह पूर्व रूपी समुद्र में प्रवेश करके अर्थात् परमागम का अभ्यास करके मोक्षमार्ग में स्थित हैं, तथा मोक्ष के इच्छुक शीलधरों अर्थात् मुनियों को उपदेश देते हैं, उन मुनीश्वरों को उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं।[12] अथवा तत्कालीन परमागम के व्याख्यान करने वाले उपाध्याय होते हैं। वे संग्रह अनुग्रह आदि गणों को छोड़कर पहिले कहे गये आचार्य के समस्त गुणों के धारी होते हैं।[13] मूलाचार में उपाध्याय का स्वरूप इस तरह मिलता है "ग्यारह अंग चौदह पूर्व जो जिनदेव ने कहे हैं उनको पण्डित-जन स्वाध्याय कहते हैं। उस स्वाध्याय का उपदेश करते हैं, इसलिए वे उपाध्याय कहलाते हैं।[14] आचार्य अकलंकदेव कहते हैं कि, जिन व्रतशील भावनाशील महानुभाव के पास जाकर भव्यजन विनय-पूर्वक श्रुत का अध्ययन करते हैं वे उपाध्याय कहलाते हैं।[15]

पंचाध्यायीकार ने उपाध्याय के स्वरूप को अति विस्तार से बतलाते हुए कहा कि - शका-समाधान करने वाला, सुवक्ता वाग्ब्रह्म, सर्वज्ञ, अर्थात् सिद्धान्त-शास्त्र और यावत् आगमों का पारगामी, वार्तिक तथा सूत्रों को शब्द और अर्थ के द्वारा सिद्ध करने वाला होने से कवि, अर्थ में मधुरता का द्योतक, तथा वक्तृत्व के मार्ग का अग्रणी होता है। उपाध्यायपने में शास्त्र का विशेष अभ्यास ही कारण होता है, क्योंकि जो स्वयं अध्ययन करता है, और शिष्यों को भी अध्ययन कराता हैं, वही गुरू उपाध्याय है। उपाध्याय में व्रतादिक के पालन करने की शेष विधि सर्व मुनियों के समान ही है।

उपाध्याय के 25 विशेष गुण बतलाये हैं, जो कि ग्यारह अंग और 14 पूर्व का ज्ञान होना कहा है। आज इन अंगपूर्वों का ज्ञान न रहते हुए भी उनके कुछ अंश षट्खण्डागम, कषाय-पाहुड, तथा परम्परा से आगत समयसार, प्रवचन-सार, मूलाचार आदि तथा चारों अनुयोग का ज्ञान उपाध्याय के लिए आवश्यक है।

3. प्रवर्तक -

जो संघ का प्रवर्तन करते हैं, अर्थात् चर्या आदि के द्वारा प्रवर्तन करने वाले प्रवर्तक होते हैं। परन्तु वे ज्ञान से अल्प होते हैं।[16]

4. स्थविर -

मर्यादा का उपदेश देने वाले अर्थात् व्यवस्था बनाने वाले स्थविर, स्थविर कहलाते हैं।

5. गणधर -

गण के पालन करने वाले को गणधर कहते हैं।

संघ के आचार्य के कार्यभार को हल्का करने के लिए ही सम्भवतः प्रवर्तक, स्थविर, एवं गणधर जैसे पदों की संरचना हुयी होगी; क्योंकि प्रवर्तक आदि के कार्य आचार्य श्री के भी हैं। तथा प्रवर्तक की भी आचार्य संज्ञा है। एक संघ में दो आचार्य भी नहीं रहते हैं। ऐसी स्थिति में इन तीनों का कार्य आचार्य के कार्यों में हाथ बंटाना ही है, और ये पद संघ के ज्येष्ठतम एवं श्रेष्ठतम श्रमणों को ही दिया जाता है। मूलाचार की आचार-वृत्ति में तो इस सम्बन्ध में कहा कि जिस संघ में ये पाँच आधार रहते हैं, उसी संघ में निवास करना चाहिए।[17]

तीर्थंकर मुनि -

तीर्थंकर मुनि में सामान्य मुनि की अपेक्षा पुण्य प्रकृति की दृष्टि से एवं विशिष्ट पौरुष की अपेक्षा से भेद होता है। तीर्थंकर श्रमण उसी भव से मोक्ष जाते हैं। ये किसी से दीक्षा न लेकर स्वयं "ॐ नमः सिद्धेभ्यः" पद के उच्चारण पूर्वक सिद्धों को नमस्कार करके

केशलोंच करके दीक्षा ले लेते हैं। दीक्षा लेकर केवल ज्ञान होने तक मौन ही रहते हैं, परन्तु सामान्य दिगम्बर साधुओं के लिए कोई नियम नहीं है। इस अपेक्षा मुनियों में अन्तर है।

गणधर मुनि -

गणधर मुनि अष्ट श्रृद्धियों सहित होते हैं।[18] ये पाँच महाव्रतों के धारक, तीन गुप्तियों से रक्षित, पाँच समितियों से युक्त, आठ मदों से रहित, सात भयों से मुक्त, बीज, कोष्ठ, पदानुसारी व संभिन्नश्रोतृत्व बुद्धिओं से उपलक्षित प्रत्यक्षभूत उत्कृष्ट अवधिज्ञान से युक्त-----तप्तातप लब्धि के प्रभाव से मल-मूत्र रहित दीप्त तपलब्धि के बल से सर्वकाल उपवास युक्त होकर भी शरीर के तेज से दशों दिशाओं को प्रकाशित करने वाले, सर्वोषधि लब्धि के निमित्त से समस्त औषधियों स्वरूप, अनन्त बलयुक्त होने से हाथ की कनिष्ठ अंगुली द्वारा तीनों लोकों को चलायमान करने में समर्थ, अमृत-आस्रवादि श्रृद्धियों के बल से हस्त-पुट में गिरे हुए सर्वआहारों को अमृत स्वरूप से परिणमाने में समर्थ, महातप गुण से कल्पवृक्ष के समान, अक्षीणमहानस लब्धि के बल से अपने हाथ में गिरे आहार की अक्षयता के उत्पादक, अघोर तप श्रृद्धि के माहात्म्य से जीवों के मन, वचन एवं कायगत समस्त कष्टों को दूर करने वाले, वचन और मन से समस्त पदार्थों के सम्पादन करने में समर्थ, अणिमादिक आठ गुणों के द्वारा सब देव समूह को जीतने वाले, तीनों लोकों में श्रेष्ठ, "हमारी-हमारी भाषा से हमें हमको ही कहते हैं" इस प्रकार सबको विश्वास कराने वाले, एवं इसी प्रकार अनेक गुणों से पूर्ण विशिष्ट मुनि गणधर कहलाते हैं।[19]

गणधर के अतिरिक्त अन्य मुनियों में चारण श्रृद्धि आदि की अपेक्षा से अनेक भेद किये जा सकते हैं, पर उनके पूज्यत्व में कोई हीनाधिकता नहीं है।

तत्वार्थ सूत्र की टीका में आचार्य पूज्यपाद ने, सर्वार्थसिद्धि में आचार्य-उपाध्याय के अलावा और भी भेदों का स्वरूप बतलाया है जो निम्न है।

(1) तपस्वी -

महान् उपवास करने वाले साधु को तपस्वी कहते हैं।

(2) शैक्ष्य -

शास्त्र के अध्ययन में तत्पर मुनि को शैक्ष्य कहते हैं।

(3) ग्लान -

रोग से पीड़ित मुनि को ग्लान कहते हैं।

(4) **गण** -

वृद्ध मुनियों के अनुसार चलने वाले मुनियों के समुदाय को गण कहते हैं।

(5) **कुल** -

दीक्षा देने वाले आचार्य के शिष्य कुल कहलाते हैं।

(6) **संघ** -

ऋषि, यति, मुनि और अनगार-इन चार प्रकार के मुनियों का समूह संघ कहलाता है।

(7) **साधु** -

जिसने बहुत समय से दीक्षा ली हो वे साधु कहलाते हैं, अथवा जो रत्नत्रय भावना से अपने को साधते हैं उन्हें साधु कहते हैं।

(8) **मनोज्ञ** -

मोक्षमार्ग प्रभावक, वक्त्वादि गुणों से शोभायमान, जिसकी लोक में अधिक ख्याति हो रही हो ऐसे विद्वान मुनि को मनोज्ञ कहते हैं,

चारित्र एवं गुणस्थान की अपेक्षा भेद -

जैनधर्म में एक वीतराग भाव को चारित्र कहा है, और वह एक ही तरह का होता है, अतः मुनियों के चारित्र की अपेक्षा भेद नहीं किये जा सकते हैं; तथापि वह चारित्र एक साथ पूर्ण प्रकट नहीं होता, किन्तु क्रम-क्रम से प्रगट होता है, अतः इस अपेक्षा से उसमें स्थित मुनियों के भी भेद किये जा सकते हैं। जितने अंश में वीतराग भाव प्रकट होता है, उतने अंश में चारित्र प्रगट होता है। अतः चारित्र में भेद होते हैं। यह चारित्र आचार्य उमास्वामी ने 5 प्रकार का कहा है।[20] जिनका स्वरूप निम्न है।

1. सामायिक चारित्र -

निश्चलसम्यग्दर्शन की एकाग्रता द्वारा समस्त सावद्य-योग का त्याग करके शुद्धात्म स्वरूप में अभेद होने पर शुभाशुभभावों का त्याग होना सो सामायिक चारित्र है। यह चारित्र छठवें गुणस्थान से लेकर नवमें गुणस्थान तक होता है।

2. छेदोपस्थापना चारित्र -

त्रस और स्थावर जीवों की उत्पत्ति और हिंसा के स्थान छद्मस्थ के अप्रत्यक्ष है। अतः निरवद्य क्रियाओं में प्रमादवश दोष लगने पर उसका सम्यकरीति से प्रतीकार करना

छेदोपस्थापना है, अथवा सावद्यकर्म रूप हिंसादि के भेद से पाँच प्रकार का होना छेदोपस्थापना है।[21] जैसे सर्व सावद्य त्याग लक्षण वाले सामायिक की अपेक्षा से व्रत एक है, और वही छेदोपस्थापना की अपेक्षा से पाँच प्रकार का होता है।[22] अथवा "व्रत, समिति और गुप्ति रूप तेरह प्रकार के चारित्र में भेद वा दोष लगने पर उन दोषों को छेद करना नाश करना और फिर अपनी आत्मा में स्थापन करना, अपने आत्मस्वरूपचारित्र को अपने आत्मा में ही स्थिर रखना वह छेदोपस्थापना चारित्र है।[23] यह चरित्र भी छठवें गुणस्थान से नवमें गुणस्थान तक पाया जाता है, और आठवें से श्रेणी में ध्यानमग्न अवस्था होने से वहाँ पर छेद/दोषों के प्रायश्चित्त रूप नहीं है।

3. परिहार विशुद्धि चारित्र -

जो जीव जन्म से 30 वर्ष तक सुखी रहकर फिर दीक्षा ग्रहण करके और तीर्थंकर के पादमूल में आठ वर्ष तक प्रत्याख्यान नामक नवमें पूर्व का अध्ययन करे, उसके यह संयम होता है। जो जीवों की उत्पत्ति-मरण के स्थान, काल की मर्यादा, जन्म-योनि के भेद, द्रव्य-क्षेत्र का स्वभाव, विधान तथा विधि इन सभी को जानने वाला हो, और प्रमाद रहित महावीर्यवान हो, उसके शुद्धता के बल से कर्म की बहुत निर्जरा होती है। अत्यन्त कठिन आचरण करने वाले मुनियों के यह संयम होता है। जिनके यह संयम होता है उनके शरीर से जीवों की विराधना नहीं होती। यह चारित्र छठवें गुणस्थान से सातवें गुणस्थान में होता है। इस संयम वाला जीव तीन संध्यावालों को छोड़कर प्रतिदिन दो कोश पर्यन्त गमन करता है; रात्रि को गमन नहीं करता। और इसके वर्षाकाल में गमन करने का या न करने का कोई नियम नहीं है।[24]

4. सूक्ष्म सांपराय चारित्र -

जब अति सूक्ष्म लोभकषाय का उदय हो तब जो चारित्र होता है वह सूक्ष्म सांपराय है। यह चारित्र दसवें गुणस्थान में होता है।

5. यथाख्यात चारित्र -

सम्पूर्ण चारित्रमोहनीय के सर्वथा क्षय अथवा उपशम हो जाने से आत्मा के शुद्ध स्वरूप में स्थिर रहना वह यथाख्यात चारित्र है। यह चारित्र ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थान तक होता है।

शुद्धभाव ही चारित्र है और उसी से संवर-निर्जरा होती है, अतः इस अपेक्षा से संवर-निर्जरा के भेद से भी मुनियों में भेद स्वतः सिद्ध हो गया।

जिनकल्पी और स्थविरकल्पी-

जिनकल्पी -

जिनके उत्तम संहनन है, जितेन्द्रिय होकर सम्यक्त्व रत्न से विभूषित हैं। उत्कृष्ट संयमी हैं, पाँव में लगे हुए कांटे और नेत्रों में गिरी हुयी धूल को न स्वयं निकालते हैं, न दूसरों को निकालने के लिए कहते हैं। निरन्तर मौन रहते हैं,उपसर्ग परीषह रूपी शत्रु के वेग को जो सहते हैं, और जो जितेन्द्रिय भगवान् के समान विहार करते हैं, ऐसे मुनियों को जिनकल्पी कहते हैं।[25] गोम्मटसार कर्मकाण्ड की जीवतत्वप्रदीपिका में कहा कि उत्तम संहनन के धारी जिनकल्प आचरणरूप परिणते मुनि उनके एक सामायिक रूप चारित्र होता है।[26] ये वर्षाकाल में मार्ग को जीवों से पूर्ण समझकर षट्मास पर्यन्त आहार रहित होकर कार्यात्सर्ग धारण करते हैं, धर्म एवं शुक्ल-ध्यान में निरत रहते हैं। जिनकल्पी अकेले रहते हैं, शिष्य नहीं करते। किसी को उपदेश-आदेश नहीं देते। तीर्थंकर देव जिनकल्पी होते हैं।

स्थविर कल्पी -

जो जिनकल्प को धारण करने में असमर्थ होते हैं, वे स्थविरकल्प को स्वीकार करते हैं "पंचमकाल में स्थविर-कल्पी हीन संहनन के धारी साधु को तेरह प्रकार का चारित्र कहा है।[27] ये स्थविरकल्पी साधु समुदाय/संघ सहित विहार करते हैं। अपनी शक्ति के अनुसार धर्म की प्रभावना करते हुए भव्यों को धर्मोपदेश सुनाते हैं, और शिष्यों का संग्रह तथा उनका पालन भी करते हैं। अट्ठाइस मूलगुणों को निरतिचार पालन करते हैं, शत्रु-मित्र में समभाव हैं वे स्थविरकल्पी हैं। वर्तमान काल में स्थविरकल्पी ही होते हैं।

पुलाक आदि मुनि

प्रत्येक मानव में उसकी भूमिकानुसार गुणों की हीनाधिकता रहती है, क्योंकि विविध प्रकार के संसार में जीव हैं और उनकी विभिन्न योग्यताएँ हैं। तथापि एक निश्चित मर्यादा से बाहर दोष आने लगते हैं तो उसे भ्रष्टाचार कहते हैं, परन्तु यदि कदाचित् कथंचित् दोष आ जावे, तो उसके विशाल आदर्शमयी व्यक्तित्व के आगे वे नगण्य दोष गौण कर दिये जाते हैं, यही स्थिति "श्रमणों" की है। पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ, एवं स्नातक, श्रमणों के ये भेद उत्तरोत्तर गुणवृद्धि लिये हुये हैं। सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्यपाद कहते हैं कि "ये पाँचों ही निर्ग्रन्थ होते हैं। इनमें चारित्र रूप परिणामों की न्यूनाधिकता के कारण भेद होने पर भी नैगम और संग्रह आदि नयों की अपेक्षा वे सब निर्ग्रन्थ कहलाते हैं।[28] आचार्य पूज्यपाद की यह पंक्ति विचारणीय है कि, पुलाकादि में परिणामों की न्यूनाधिकता है, न कि हीनाचार आदि, इनमें भेद गुणों की अपेक्षा से हैं। अकंलक देव ने पुलाकादि की निर्ग्रन्थता होने की शंका के समाधान पूर्वक कहा कि"-

शंका -

जैसे गृहस्थ चारित्रभेद होने के कारण निर्ग्रन्थ नहीं कहा जाता, वैसे ही पुलाक आदि को भी उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य आदि चारित्र भेद होने पर भी निर्ग्रन्थ नहीं कहना चाहिए ?

समाधान -

(1) जैसे चारित्र व अध्ययन आदि का भेद होने पर भी सभी ब्राह्मणों में जाति की दृष्टि से ब्राह्मण शब्द का प्रयोग समान रूप से होता है, उसी प्रकार पुलाक आदि में भी निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग हो जाता है।

(2) यद्यपि निश्चय नय से गुणहीनों में निर्ग्रन्थ शब्द नहीं प्रवर्तता परन्तु संग्रह और व्यवहार नय की अपेक्षा वहाँ भी उस शब्द का प्रयोग सर्व संग्रहार्थ कर लिया जाता है।

(3) सम्यग्दर्शन और नग्न रूप की अपेक्षा भी वे सब समान हैं।

प्रश्न - यदि व्रतों का भंग हो जाने पर भी आप इनमें निर्ग्रन्थ शब्द की वृत्ति मानते हैं, तब तो गृहस्थों में भी इसकी वृत्ति होने का प्रसंग प्राप्त होता है?

उत्तर- नहीं होता, क्योंकि वे नग्न रूपधारी नहीं है।

प्रश्न- तब जिस किसी में भी नग्न रूप धारी मिथ्यादृष्टि में उसकी वृत्ति का प्रसंग प्राप्त हो जाएगा?

उत्तर - नहीं, क्योंकि उनमें सम्यग्दर्शन नहीं पाया जाता (सम्यग्दर्शन युक्त ही नग्न रूप को निर्ग्रन्थ संज्ञा प्राप्त है।)

प्रश्न - फिर उसमें पुलाक आदि भेदों का व्यपदेश ही क्यों किया?

उत्तर - चारित्र गुण का क्रमिक विकास और क्रमप्रकर्ष दिखलाने के लिए ही इनकी चर्चा की गयी है।[29]

यदि वकुश और प्रतिसेवना कुशील को भी निर्ग्रन्थ संज्ञा प्राप्त है तो फिर इनको कृष्ण, नील, और कापोत ये तीन लेश्याएँ कैसे हो सकती हैं ?[30]

उत्तर - उनमें उपकरणों के प्रति आसक्ति भाव की संभावना होने से कदाचित् आर्तध्यान सम्भव है, और आर्तध्यान में कृष्णादि तीनों लेश्याओं का होना सम्भव है।[31]

पुलाक मुनि

जिनका चित्त उत्तर गुणों की भावना से रहित है, और व्रतों में भी क्वचित्-कदाचित् परिपूर्णता को प्राप्त नहीं कर पाते हैं, अर्थात् पाँच महाव्रतों में भी दोष लग जाते हैं। बिना शुद्ध हुए धान्य सदृश्य होने से वे पुलाक कहलाते हैं।[32] तथा दूसरों के दबाव-वश जबर्दस्ती से पाँच मूलगुण और रात्रिभोजन वर्जन में से किसी एक ही की प्रतिसेवना

करने वाला पुलाक होता है।[33]

श्वेताम्बरीय आगम स्थानांग में पुलाक के 5 भेद किये हैं जैसे-

(1) **ज्ञानपुलाक** - ज्ञान के स्खलित, मिलित आदि अतिचारों का सेवन करने वाला।
(2) **दर्शन पुलाक** - शंका, कांक्षा, आदि सम्यक्त्व के अतिचारों का सेवन करने वाला।
(3) **चारित्र पुलाक** - मूलगुणों और उत्तरगुणों में दोष लगाने वाला।
(4) **लिंग पुलाक** - शास्त्रोक्त उपकरणों से अधिक उपकरण रखने वाला, जिनलिंग से भिन्न लिंग या वेष को कभी-कभी धारण करने वाला।
(5) **यथासूक्ष्म पुलाक** - प्रमादवश अकल्पनीय वस्तु को ग्रहण करने का मन में विचार करने वाला।

2. वकुश -

जो निर्ग्रन्थ अवस्था को प्राप्त हैं, मूलगुणों को निरतिचार पालते हैं, शरीर और उपकरण की शोभा के अनुवर्ती हैं, श्रृद्धि, और यश की कामना करते हैं, परिवार शिष्यों से घिरे हुए हैं, और छेद से जिनका चित्त शबल/ चित्रित है, वे मुनि वकुश कहलाते हैं। पूज्यपाद स्वामी ने "इन्हें विविध प्रकार के मोह से युक्त कहा है।[34] इनके सामायिक और छेदोपस्थापना ये दो संयम होते हैं। उत्कृष्ट रूप से इनका ज्ञान अभिन्न दश पूर्व तक हो सकता है और जघन्य से अष्ट प्रवचन मातृका मात्र ज्ञान रह सकता है।

वकुश मुनि के दिगम्बर परम्परा में दो भेद किये हैं-उपकरण वकुश और शरीर वकुश। उपकरणों में जिनका चित्त आसक्त है, जो नाना प्रकार के विचित्र परिग्रहों से युक्त हैं, बहुत विशेषता से युक्त उपकरणों के आकांक्षी हैं, उनका संस्कार और प्रतिकार को करने वाले हैं। ऐसे साधु उपकरण वकुश कहलाते हैं। तथा शरीर के संस्कार को करने वाले शरीर वकुश कहे जाते हैं। श्वेताम्बरीय आगम स्थानांगसूत्र में वकुश के पाँच भेद किये हैं, जो दो भेदों के ही प्रकारान्तर हैं। **वे निम्न भेद हैं-**

1. **आभोग वकुश** - जानबूझ कर शरीर को विभूषित करने वाला।
2. **अनाभोग वकुश** - अनजान में शरीर को विभूषित करने वाला।
3. **संवृत वकुश** - लुक-छिपकर शरीर को विभूषित करने वाला।
4. **असंवृत वकुश** - प्रगट रूप से शरीर को विभूषित करने वाला।
5. **यथासूक्ष्मवकुश** - प्रगट या अप्रगट रूप से शरीर आदि की सूक्ष्म विभूषा करने वाला (186 सूत्र)

3. कुशील -

कुशील मुनि के दो भेद किये गये हैं। (1) प्रतिसेवना कुशील (2) कषाय कुशील। जिसके शरीरादि तथा उपकरणादि से पूर्ण विरक्तता न हो और मूलगुण तथा उत्तरगुणों की परिपूर्णता हो परन्तु उत्तरगुण में क्वचित्-कदाचित् विराधना होती हो उसे प्रतिसेवना कुशील कहते हैं, और जिसने संज्वलन कषाय के सिवाय अन्य कषायों को जीत लिया हो उसे कषाय कुशील कहते हैं। श्वे. स्थानांग सूत्र 187 में ज्ञान, दर्शन, चारित्र लिंग और यथासूक्ष्म के भेद से कुशील के 5 प्रकार कहे हैं।

4. निर्ग्रन्थ -

जिनके मोह-कर्म क्षीण हो गया है तथा जिनके मोह-कर्म के उदय का अभाव है ऐसे ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि को निर्ग्रन्थ कहते हैं।

5. स्नातक -

समस्त घातिया कर्मों के नाश करने वाले केवली भगवान को स्नातक कहते हैं। इसमें तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थानवर्ती श्रमण आते हैं।

ये पाँचों प्रकार के श्रमण प्रत्येक तीर्थंकरों के समय होते हैं।

आचार्य उमास्वामी ने इन पुलाकादि मुनियों में भी "संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिंग, लेश्या, उपपाद और स्थान इन आठ अनुयोगों द्वारा मुनियों में और विशेष भेद किये हैं।

1. **संयम** - पुलाक, वकुश, और प्रतिसेवना कुशील साधु के सामायिक और छेदोस्थापना, परिहार-विशुद्धि और सूक्ष्मसांपराय, ये चार संयम होते हैं। निर्ग्रन्थ और स्नातक के यथाख्यात-चारित्र होता है।
2. **श्रुत** - पुलाक, वकुश और प्रतिसेवना कुशील साधु दस-पूर्वधारी, पुलाक के जघन्य आचारांग में आचार वस्तु का ज्ञान होता है, वकुश तथा प्रतिसेवना कुशील के जघन्य अष्टप्रवचन माता, कषाय कुशील और निर्ग्रन्थ के उत्कृष्ट ज्ञान चौदह पूर्व का, जघन्य ज्ञान आठ प्रवचन माता का होता है। स्नातक तो केवलज्ञानी होते हैं। अतः वे श्रुतज्ञान से दूर होते हैं।
3. **प्रतिसेवना (विराधना)** - पुलाक मुनि के परवश से पंचमहाव्रतों में किसी की विराधना, उपकरण-वकुश मुनि के कमण्डलु, पिच्छि, आदि उपकरण की शोभा की अभिलाषा के संस्कार का सेवन होता है - अतः विराधना है। वकुश मुनि के शरीर के संस्कार रूप विराधना होती है, प्रतिसेवना कुशील मुनि पाँच महाव्रत की विराधना नहीं करता, किन्तु उत्तर-गुण में किसी एक की विराधना करता है। कषाय कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक के विराधना नहीं होती है।

4. तीर्थ - ये पुलाकादि पाँचों प्रकार के निर्ग्रन्थ सभी तीर्थंकरों के धर्मशासनों में होते हैं।
5. लिंग - इसके दो भेद हैं - (1) द्रव्यलिंग और (2) भाव लिंग। पाँचों प्रकार के निर्ग्रन्थ भावलिंगी होते हैं। वे सम्यग्दर्शन सहित संयम पालने में सावधान हैं। भावलिंग का द्रव्यलिंग के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। यथाजातरूप लिंग में किसी के भेद नहीं है, किन्तु प्रवृत्ति रूप लिंग में अन्तर होता है; जैसे कोई आहार करता है, कोई अनशनादि तप करता है, कोई उपदेश करता है, कोई अध्ययन करता है, कोई तीर्थ में विहार करता है, कोई अनेक आसन रूप ध्यान करता है, कोई दूषण लगा हो तो उसका प्रायश्चित्त लेता है, कोई दूषण नहीं लगाता, कोई आचार्य है, कोई उपाध्याय है, कोई प्रवर्तक है, कोई निर्यापक है, कोई वैयावृत्य करता है, कोई ध्यान में श्रेणी का प्रारम्भ करता है, इत्यादि विकल्पों रूप द्रव्यलिंग में मुनि गणों में भेद होता है,
6. लेश्या - पुलाक मुनि के तीन शुभ लेश्यायें होती हैं। वकुश तथा प्रतिसेवना कुशील मुनि के छहों लेश्या भी होती हैं। कषाय से अनुरंजित परिणाम को लेश्या कहते हैं। कषाय कुशील मुनि के कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ये चार लेश्यायें होती हैं। सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती के शुक्ल लेश्या होती है। तथा निर्ग्रन्थ और स्नातक के उपचार से शुक्ल लेश्या है, अयोगकेवली के लेश्या नहीं होती है।
7. उपपाद - पुलाक मुनि का उत्कृष्ट अठारह सागर की आयु के साथ बारहवें सहस्रार स्वर्ग में जन्म होता है। वकुश और प्रतिसेवना कुशील का उत्कृष्ट जन्म बाईस सागर की आयु के साथ पन्द्रहवें आरण और सोलहवें अच्युत स्वर्ग में होता है। कषाय कुशील और निर्ग्रन्थ का उत्कृष्ट जन्म तैतीस सागर की आयु के साथ सर्वार्थ-सिद्धि में होता है। इन सबका **सौधर्म स्वर्ग में जघन्य दो** सागर की आयु के साथ जन्म होता है। स्नातक केवली भगवान हैं, उनका उपपाद निर्वाण/मोक्षरूप से होता है।
8. स्थान - कषाय निमित्त असंख्यात संयमस्थान होते हैं। पुलाक और कषायकुशील के सबसे जघन्य लब्धि स्थान होते हैं। वे दोनों असंख्यात स्थानों तक एक साथ जाते हैं। इसके बाद पुलाक की व्युच्छित्ति हो जाती है। आगे कषायकुशील असंख्यात स्थानों तक अकेला जाता है। इससे आगे कषाय-कुशील, प्रतिसेवना-कुशील और बकुश असंख्यात स्थानों तक एक साथ जाते हैं। यहाँ बकुश की व्युच्छित्ति हो जाती है। इससे भी असंख्यात स्थान आगे जाकर प्रतिसेवना कुशील की व्युच्छित्ति हो जाती है। पुनः इससे भी असंख्यात स्थान आगे जाकर कषाय-कुशील की व्युच्छित्ति हो जाती है। इससे आगे अकषाय स्थान है जिन्हें निर्ग्रन्थता प्राप्त होती है, उसकी भी, असंख्यात स्थान जाकर व्युच्छित्ति हो जाती है। इससे आगे एक स्थान जाकर स्नातक निर्वाण को प्राप्त होता है। इनकी संयमलब्धि अनन्त गुणी होती है।

इस प्रकार संयमलब्धि के स्थान हैं। उनमें अविभाग प्रतिच्छेदों की अपेक्षा से संयम की प्राप्ति अनन्तगुणी होती है।[35]

उपर्युक्त पुलाक बकुश आदि से श्रमणों में भेद हो जाते हैं और संयम, श्रुत, संघ आदि से उनमें और प्रभेद हो जाते हैं।

द्रव्यलिंग-भावलिंग -

चिन्ह विशेष को लिंग कहते हैं। न्याय-विनिश्चय टीका में कहा है कि "साध्य के अविनाभावीपनेरूप नियम का निर्णय करना ही जिसका लक्षण है वह लिंग है।[36] धवलाकार ने लिंग का लक्षण "अन्यथानुपपत्ति" कहा है।[37] श्रमण वीतरागी व्यक्तित्व होते हैं, और यही उनका लिंग है, चिन्ह है, तथा वीतरागता रूप अन्यथानुपपत्ति लक्षण से ही जैन श्रमण जाने जाते हैं, यह वीतरागता जैन श्रमण के आन्तरिक भावों के साथ लाक्षणिक पहिचान है, उनके आन्तरिक भावों के साथ हुयी वहिरंग शारीरिक प्रवृत्ति की पहिचान हेतु शरीर का वेष एवं उसकी प्रवृत्ति द्रव्यलिंग है। इस प्रकार साधु का लिंग, द्रव्यलिंग और भावलिंग के भेद से दो प्रकार का सिद्ध होता है। भावलिंग सापेक्ष ही द्रव्यलिंग सार्थक है अन्यथा तो बाह्य वेष एक स्वांगमात्र है।

आचार्य वट्टकेर ने द्रव्यलिंग का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि "अचेलकत्व केशलोंच, शरीर- संस्कार का त्याग और पिच्छि ये चार लिंग के भेद जानने चाहिए।[38] आचार्य कुन्दकुन्द द्रव्य एवं भावलिंग दोनों को बतलाते हुए कहते हैं कि "जन्म समय के रूप जैसा रूपवाला, सिर और दाढ़ी मूछ के बालों का लोंच किया हुआ, शुद्ध (अकिंचन) हिंसादि से रहित और प्रतिकर्म (शारीरिक श्रृंगार) से रहित लिंग, श्रामण्य का वहिरंग चिन्ह है तथा मूर्च्छा (ममत्व) और आरम्भरहित, उपयोग और योग की शुद्धि से युक्त तथा पर की अपेक्षा से रहित ऐसा जिनेन्द्र देव कथित लिंग वह अन्तरंग अर्थात् भावलिंग है, जो मोक्ष का कारण है।[39] तथा भावपाहुड में कहते हैं कि, जो देहादि के परिग्रह रहित, मान कषाय से रहित, अपनी आत्मा में लीन है वह साधु भावलिंगी है।[40]

जैन-दर्शन में सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्मश्रद्धान पर विशेष बल दिया गया है, सम्यग्दर्शन के बिना किये गये कार्य की कोई महत्ता नहीं है, जैसे अंक के बिना बिन्दु का कोई स्थान नहीं है। रयणसार में कहा है कि जो जीव परब्रह्म को नहीं जानता है और सम्यग्दर्शन से रहित है। वह न तो गृहस्थ अवस्था में है और न साधु अवस्था में है। केवल लिंग को धारण कर क्या कर सकते हैं? कर्मों का नाश तो सम्यक्त्व पूर्वक जिनलिंग धारण करने से होता है।[41] जहाँ सम्यग्दर्शन सहित निर्ग्रन्थ रूप है वही निर्ग्रन्थ है।[42] अतः सम्यग्दर्शन रहित लिंग अर्थात् मुनि दीक्षा धारण करना व्यर्थ है। इससे मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती है।[43] क्योंकि जिस जीव के सच्चे आप्त, आगम, पदार्थों में सच्ची श्रद्धा ही उत्पन्न नहीं हुयी है, तथा जिसका चित्त मूढ़ताओं से व्याप्त है, उसके संयम की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। अच्छी तरह जानकर और श्रद्धानकर जो नियमों सहित है, उसके संयम है।

भावलिंग -

मोक्षमार्ग का साक्षात् कारण आ. कुन्दकुन्द ने भावलिंग को कहा है। "ज्ञान-दर्शन-चारित्र वास्तविक मार्ग है, मात्र द्रव्यलिंग वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं है।[44] आ. वट्टकेर कहते हैं कि भाव श्रमण हैं वे ही श्रमण हैं, क्योंकि शेष नामादि श्रमणों को सुगति नहीं होती। धर्म सहित लिंग होता है, लिंग मात्र से धर्म की प्राप्ति नहीं होती। अतः भावरूप धर्म (भावलिंग) को जानो। केवल लिंग से क्या होगा, अर्थात् कुछ भी नहीं होगा।[45] भाव ही प्रथम लिंग है, अतः द्रव्यलिंग को परमार्थ नहीं जानना चाहिए, क्योंकि गुण-दोष का कारणभूत भाव ही है। भाव ही स्वर्ग-मोक्ष का कारण है। भाव से रहित श्रमण पाप स्वरूप है, तिर्यन्चगति का स्थानक है और कर्ममल से मलिन है। जो भाव श्रमण हैं, वे परम्परा कल्याण रूप सुख को पाते हैं, जो द्रव्यश्रमण हैं वे मनुष्य कुदेव आदि योनियों में दुःख पाते हैं।[46] बाह्य लिंग के साथ अन्तरिंग लिंग की नियामकता नहीं है, परन्तु अन्तरंग निर्विकारता होने पर बाह्य में भी निर्विकारता की सिद्धिरूप वीतरागी नग्नता होगी। समयसार की टीका तात्पर्य वृत्ति में कहा है कि "वहिरंग द्रव्यलिंग के होने पर भावलिंग होता भी है, नहीं भी होता, कोई नियम नहीं है। परन्तु अभ्यन्तर भावलिंग के होने पर सर्व संग के त्याग रूप वहिरंग द्रव्यलिंग अवश्य होता ही है। पं. टोडरमल जी कहते हैं कि "मुनि लिंग बिना तो मोक्ष न होय, परन्तु मुनि लिंग धारै मोक्ष होय अर नाही भी होय।[47] भावलिंग के इन स्वरूपों के देखने पर यह स्पष्ट है कि जैन दर्शन में बाह्य वेष को मुक्ति का कारण नहीं माना है, परन्तु बाह्य वेष मनुष्य की मानसिकता का परिचय अवश्य देते हैं। अतः मोक्षमार्ग में वेष का स्थान नहीं, परन्तु मोक्षमार्गियों के बाह्य वेष भी निर्विकारता को लिए हुए होता है। परन्तु प्रधानता अन्तरंग के परिणामों को ही दी गयी है। बाह्य नग्नता तो पशुओं के भी होती है, परन्तु वे मोक्षमार्गी नहीं हो जाते हैं। अतः बाह्य नग्नता को मुख्य स्थान नहीं माना गया है।

द्रव्यलिंग -

जैनधर्म में किसी जाति/लिंग को मोक्षमार्ग नहीं माना गया है। "बहुत प्रकार के मुनिलिंगों को अथवा गृही लिंगों को ग्रहण करके अज्ञानी यह कहते हैं कि "यह लिंग मोक्षमार्ग है।" परन्तु लिंग मोक्षमार्ग नहीं है, क्योंकि अर्हन्तदेव देह के प्रति निर्ममत्व रहते हुए लिंग को छोड़कर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करते हैं।[48] तथा जो पुरुष संयम रहित जिनलिंग धारण करता है, वह सब निष्फल है।[49] जो मुनि राग अर्थात् अन्तरंग परिग्रह से युक्त हैं जिनस्वरूप की भावना से रहित हैं वे द्रव्य निर्ग्रन्थ हैं। उसे जिनशासन में कही गयी समाधि और बोधि की प्राप्ति नहीं होती है।[50] शरीर आत्मा से भिन्न है और लिंग शरीर-स्वरूप है, तथा श्रामण्य लिंग देहाश्रित नहीं है, अतः बाह्यलिंग आत्मा से भिन्न होने के कारण निश्चय नय से बाह्य लिंग मोक्ष का कारण नहीं है। शरीर ही आत्मा का संसार है अतः जिनको लिंग का ही आग्रह है वे पुरुष संसार से नहीं छूटते हैं।[51]

भावलिंग रहित मात्र द्रव्यलिंग व्यर्थ एवं निष्फल ही है। मोक्षपाहुड़ में कहा है कि जहाँ ज्ञान चारित्रहीन है, जहाँ तप से तो संयुक्त है पर सम्यक्त्व से रहित है और अन्य आवश्यकादि क्रियाओं में शुद्ध भाव नहीं है ऐसे लिंग के ग्रहण में कहाँ सुख है।[52] मोक्ष का मार्ग भाव से ही है,----मात्र द्रव्य से क्या साध्य है। जो नग्न है, सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र को नहीं पाता है, वह नग्न जिन भावना से रहित है---अतः भाव रहित केवल बाह्यलिंग अकार्यकारी है।[53] ऐसे साधु को आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वरूपाचरण चारित्र से भ्रष्ट एवं मोक्षमार्ग का विनाशक कहा है।[54] भावपाहुड़ में अति तिरस्कार करते हुए कहते हैं कि-"बाहु नामक मुनि बाह्य **जिनलिंग** युक्त था। तो भी अभ्यन्तर दोष से दण्डक नामक नगर को भस्म करके सप्तम पृथिवी नामक बिल में उत्पन्न हुआ। हे मुनि! तेरे नग्नपने से क्या साध्य है? जिसमें पैशून्य, हास्य, मत्सर, माया आदि परिणाम पाये जाते हैं। अतः ऐसा ये नग्नत्व पाप से मलिन और अपकीर्ति का स्थान है। जो धर्म से रहित है, दोषों का स्थान है, और इक्षु पुष्प के सदृश जिसमें कुछ भी गुण नहीं है, ऐसा मुनिपना तो नग्नरूप से नटश्रमण अर्थात् नाचने वाला भाँड सरीखा स्वांग है। अतः हे मुनि! तू बाह्यव्रत का वेष लोक का रंजन करने वाला मत धारण कर।[55] इस प्रकार अनेक स्थलों पर भाव रहित द्रव्यलिंग का तिरस्कार किया गया है। यद्यपि इस प्रकार का द्रव्यलिंग तिरस्कृत किया गया है तथापि भावलिंग अध्यात्म का विषय है, इन्द्रियगम्य भी नहीं है, तथा वन्द्य भाव भी द्रव्यलिंग के माध्यम से ही आता है, अतः इस अपेक्षा से द्रव्यलिंग को निरतिचार धारण करने की भी आवश्यकता है। यह कोई आवश्यक नहीं कि दीक्षा के पश्चात् शुद्धात्मानुभूति हो, तथा सभी आत्मानुभवी हो, परन्तु 28 मूलगुणों का निरतिचार पालन आवश्यक है। शुभोपयोग रूप भाव द्रव्यलिंग है, शुद्धोपयोग भाव, भावलिंग है।

इसी दृष्टि से द्रव्यलिंगी के तीन भेद किये जाते हैं-(1) पाँचवे **गुणस्थानवर्ती** द्रव्यलिंगी (2) चतुर्थ गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी तथा (3) प्रथम **गुणस्थानवर्ती** द्रव्यलिंगी। इनको द्रव्यलिंगी इसलिए कहा जाएगा, क्योंकि यह लिंग जिस गुणस्थान में होता है उसके योग्य शुद्ध परिणति नहीं है। इसी अपेक्षा से इसको द्रव्यलिंगी कहा है। परन्तु बाह्य प्रवृत्ति में तीनों प्रकार के द्रव्यलिंग तथा छठवें **गुणस्थानवर्ती** के भावलिंगी साधु में समानता देखी जा रही है। यदि बाह्य में आगम कथित योग्याचरण नहीं, तो उसे द्रव्यलिंगी भी नहीं कहा जाएगा। जैसे बिजली का 100 वाट के बल्ब तभी तक उपयोगी व प्रशंसनीय कहा जाएगा कि जब तक वह 100 वाट के योग्य रोशनी दे। यदि वोल्टेज कम आते हैं, जिससे उसकी रोशनी कम होती है, तो वह उपयोगी तो है परन्तु बहुत प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि समुचित रोशनी नहीं है। यदि बिजली का कनेक्शन न होने पर रोशनी नहीं देता है, तो भी वह उपयोगी तो है, परन्तु निंदनीय नहीं है; क्योंकि वह फ्यूज नहीं है अतः उसे अनुपयोगी मानकर फैंका नहीं जा सकता है। इसी तरह अनन्तानुबन्धी, प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान के अभाव में शुद्ध परिणति रूप वोल्टेज न होने पर भी, अट्ठाइस मूलगुणात्मक शुभोपयोग रूप तार टूटा नहीं है, अतः वह साधू अपूज्य नहीं कहा जा सकता है। निरतिचारी द्रव्यलिंगी के

परभव पर विचारते हुए श्री कार्तिकेय स्वामी कहते हैं कि "द्रव्यलिंगी, किन्तु भाव से असंयत सम्यग्दृष्टि, अथवा देशव्रती अथवा मिथ्यादृष्टि मनुष्य ग्रैवेयक तक जन्म लेते हैं।[56]

द्रव्यलिंग का कट्टरता से जो जगह- जगह निषेध मिलता है उसका प्रयोजन बतलाते हुए जयसेनाचार्य ने कहा कि "द्रव्यलिंग निषिद्ध ही है ऐसा तू मत जान ! किन्तु भावलिंग से रहित यतियों को यहाँ सम्बोधन किया गया है। वह ऐसे कि - हे तपोधन ! द्रव्यलिंग मात्र से सन्तोष मत करो किन्तु द्रव्यलिंग के आधार से निर्विकल्प स्वानुभूति रूप दशा को प्राप्त करो। भावलिंग रहित द्रव्यलिंग निषिद्ध है न कि भावलिंग सहित, क्योंकि द्रव्यलिंग का आधारभूत जो यह देह है उसका ममत्व निषिद्ध है।[57] वस्तुतः यहाँ वेषमात्र को मोक्ष का कारण मानने वालों का खण्डन किया है। एक तरफ तो वेष को मुक्ति की मान्यता का खण्डन किया तो दूसरी तरफ एक वेष विशेष की नियामकता भी मोक्षमार्ग में प्रस्तुत की है। वेष का मोक्षमार्ग में खण्डन का अर्थ यह नहीं कि वस्त्र पहिने ही मुक्ति हो जाएगी, क्योंकि वेष मुक्ति का कारण नहीं है, परन्तु वस्त्रादि शारीरिक आवरण के सूचक हैं, जो कर्म से आवृत होने की सिद्धि करते हैं। तथा उनके मलिन हो जाने पर उसके धोने के लिए जल एवं साबुन आदि का आरम्भ करना पड़ता है। जो बाह्यारम्भ की मानसिकता की सिद्धि है, और इस अवस्था में अन्तर्बाह्य संयम का घात अवश्यम्भावी है। वस्त्र के नष्ट हो जाने पर महान् पुरूषों का भी मन आकुलित हो उठता है, जो ममत्व का परिचायक है, दूसरों से मांगने के लिए प्रार्थना करनी पड़ती है। मुनिजन सदा पवित्र एवं रागभाव को दूर करने के लिए दिग्वस्त्र रूप अविनाशी अम्बर को ग्रहण करते हैं। अतः कृत्रिम वस्त्र को छोड़कर दिशाओं रूपी वस्त्र को पहिनने के कारण वह दिगम्बर रूप द्रव्यलिंग अनेकान्तात्मक वेष होने के कारण ग्राह्य है। अतः वेष के निषेध में तज्जन्य विकल्पों का निषेध है। इस अपेक्षा से मुक्तिमार्ग में निर्विकल्प रूप दिगम्बर लिंग का निर्धारण किया है। बाह्य रागद्वेष परिग्रह, आदि होने पर भला वह साधु कैसे हो सकता है ? और साधुता बिना मुक्ति कैसे ? अतः बाह्य परिग्रह जन्य वेष का निषेध किया है। यदि कोई श्रमण तपस्या करता हो, और उस समय उसके ऊपर यदि वस्त्र डाल दिया जाए या आभूषणादि पहना दिया जाए तो भी वह निर्ग्रन्थ है, क्योंकि वहाँ बुद्धिपूर्वक ममत्व का अभाव है,[58] तथा उस श्रमण के वह दशा उपसर्ग रूप है। अतः फलित है कि वस्त्र की सत्ता या असत्ता या बाह्य संयोग बन्ध के कारण नहीं, अपितु उनके प्रति ममत्व या निर्ममत्व परिणाम बन्ध-मोक्ष के कारण हैं।

भावलिंग एवं द्रव्यलिंग ये दोनों परमगुरू अर्थात् तीर्थंकर भगवान द्वारा प्रदत्त हैं तो किसी एक का निषेध या अपूज्यपना किसी भी प्रकार नहीं कहा जा सकता है क्योंकि "दीक्षा के समय दोनों लिंगों को आदरपूर्वक ग्रहण किया जाता है।[59] अतः दोनों ही आदरणीय हैं। भावपाहुड़ टीका में आचार्य श्रुतसागर कहते हैं कि, भावलिंग से द्रव्यलिंग और द्रव्यलिंग से भावलिंग होता है अतः दोनों ही प्रमाण हैं, एकान्तमत से तो सर्वनष्ट हो जाता है ऐसा समझना चाहिए।[60] तथापि भाव सहित द्रव्यलिंग की सफलता बताते हुए

कहा कि "पहले मिथ्यात्वादि दोषों को छोड़कर भाव से अन्तरंग नग्न होकर एक शुद्धात्मा का श्रद्धान-ज्ञान व आचरण करे, पश्चात् द्रव्य से बाह्य लिंग जिन आज्ञा से प्रकट करे यह मार्ग है। क्योंकि जो मात्र द्रव्यरूप से विषयों से निवृत्त हैं उनके पापों की निवृत्ति नहीं, किन्तु भाव रूप से निवृत्त हैं उन्हीं के कर्मों का संवर है। द्रव्य और भावरूप निवृत्ति का भले प्रकार स्वरूप जानकर मन-वचन-काय से विषयों से निवृत्त होकर समस्त पापों के नाशार्थ भावरूप से विषयों से निवृत्त होना चाहिए। तथा जो विषयों से भी निवृत्त नहीं हैं, स्वच्छन्द एवं भ्रष्टाचारी हैं उनके द्रव्यलिंग भी नहीं है, वे नग्न मात्र हैं, और मात्र नग्नत्व पूज्य एवं आदर्श नहीं माना गया है।

श्रमणों का अवदान-

जैन श्रमण यद्यपि अन्तरोन्मुखी वृत्ति लिये होते हैं, बाह्य प्रपंचों से परे होते हैं, तथापि बाह्य वृत्ति की सर्वथा तिलांजलि नहीं हो पाती है। अतः वे अपने जीवन में सीमित बाह्य वृत्ति धारण करते हैं। "ज्ञानध्यान तपोरक्तः" होने के कारण बाह्य विकथाओं से दूर हुआ करते हैं। अतः ज्ञान और उसके साधनों का प्रचार तथा उनके बाह्य निष्पृह एवं शान्त व्यक्तित्व से नैतिकता के मूल्यों की प्राण प्रतिष्ठा होती रहती है, जिससे देश एवं समाज का सहज उद्धार, तथा उनके ध्यान एवं तपोमय व्यक्तित्व से सम्पूर्ण मानव के जीवन में एक कर्मठता एवं आत्मानुशासन की भावना जाग्रत होती है। क्योंकि **पर-अनुशासन नहीं अपितु आत्म-अनुशासन जीवन एवं राष्ट्र को सम्मुनत बनाता** है। अतः मानव जीवन के आदर्श के रूप में जैन श्रमणों का एक महत्वपूर्ण अवदान सदैव उपस्थित रहता है। **एक शहरीय सामाजिक प्राणी न होते हुए भी यह वनवासी श्रमण किस तरह जगवासियों को अपने कार्यों से दिशा निर्देशन देता है, यह अच्छी तरह से जैन श्रमणों से ही सीखा जा सकता है।** जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जैन श्रमणों ने अपना अवदान दिया, चाहे वह दार्शनिक, साहित्यिक, अथवा कोई और अन्य विद्या ही क्यों न हो, **आत्म कल्याण के सजग प्रहरी लोक कल्याण में भी किसी से रंचमात्र भी पीछे न रहे,** ऐसा जैन श्रमणों का अवदान के इस प्रस्तुत प्रकरण से समझा जा सकता है।

धार्मिक/दार्शनिक अवदान-

चौबीसवें तीर्थंकर भगवान की परम्परा गौतम गणधर से प्रारम्भ होती है। श्वेताम्बर परम्परा अविच्छिन्न रूप से ही अंग साहित्य और पूर्व साहित्य का सृजन, संवर्द्धन, एवं पोषण मानती चली आ रही है। परन्तु दिगम्बर परम्परा अंग एवं पूर्व साहित्य को लुप्त मानकर महावीर की अहिंसा एवं स्याद्वादमयी वाणी को चारों अनुयोगों में रक्षित मानती है। अतः विभिन्न प्रकार के जैन साहित्य को इन चारों अनुयोगों में ही समाविष्ट करने का प्रयत्न किया है।

लगभग सम्पूर्ण जैन साहित्य लोकोपकार की भावना से अहिंसा एवं अपरिग्रह की भावना और उसकी पुष्ट के मूल उद्देश्य को लेकर रचा गया है। इस प्रकार के साहित्य को धार्मिक, दार्शनिक, कर्म साहित्य, अध्यात्म, व्याकरण, पुराण, काव्य, कोष, वैद्यक, ज्योतिष आदि विभिन्न रूपों में देखा जा सकता है। जिनका क्रमशः विवेचन प्रस्तुत है।

धर्म आचार प्रधान है और आचार प्राधान्य साहित्य को धार्मिक साहित्य कहा गया है। श्रमण और श्रावक वर्ग के सन्मार्ग हेतु इस प्रकार के धार्मिक साहित्य को जैन श्रमणों के द्वारा काफी मात्रा में लिखा गया है जिसमें मूलाचार, समयसार, भगवती आराधना, पुरुषार्थसिद्धयुपाय रत्नकरण्डश्रावकाचार आदि मुख्य हैं।

दार्शनिक युग के सर्वप्रथम आचार्य समन्तभद्र ने सैद्धान्तिक एवं आगमिक परिभाषाओं और शब्दों को दार्शनिक रूप प्रदान किया है। वस्तु के स्वरूप को देखकर उसके विवेचनपरक साहित्य को दार्शनिक साहित्य कहा जा सकता है। न्याय की कसौटी पर कसा गया दर्शन, दार्शनिक साहित्य की कोटि में रखते हैं तो प्रमाण, नय, आदि विवेचन परक साहित्य में कुन्दकुन्द का प्रवचनसार और इनके टीकाकार अमृतचन्द्र एवं जयसेन, तथा कुन्दकुन्द से विरासत प्राप्त आचार्य समन्तभद्र सिद्धसेन, पात्रकेसरी, अकलंक, विद्यानन्द, माणिक्यनन्दी, अनन्तवीर्य, आदि अनेकों श्रमणों ने जैन साहित्य के दार्शनिक एवं न्याय पक्ष को पल्लवित और पुष्पित किया है और प्रमाण, प्रमेय, नय, द्रव्यगुणपर्याय, आदि की महत्वपूर्ण व्याख्याएँ दी।

कर्म सिद्धान्त का गुणधर और धरसेन ने सूत्ररूप में विवेचन किया है। पुष्पदन्त और भूतबलि ने "षट्खण्डागम" के रूप में सूत्रों का अवतारकर-जीव स्थान, खुद्दाबन्ध, वेदना, वर्गणा, बन्ध समितिविचय, और महाबन्ध इन छह खण्डों में सूत्रों का प्रणयन कर कर्म सिद्धान्त का विस्तारपूर्वक निरूपण किया। अनन्तर वीरसेनाचार्य और जिनसेनाचार्य ने "धवला" और "जयधवला" टीकाओं द्वारा उसकी विस्तृत व्याख्याएँ दी हैं।

पौद्गलिक कर्म के कारण जीव में उत्पन्न होने वाले रागद्वेषादि भाव एवं कषाय आदि विकारों का विवेचन भी कर्म साहित्य में समाविष्ट है। श्रुतधराचार्यों ने कर्मसिद्धान्त के प्ररूपक साहित्य में प्रतिसमय होने वाले अच्छे-बुरे भावों के अनुसार तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र मन्द, मन्दतर और मन्दतम रूपों में कर्म की विपाक स्थिति का वर्णन किया है। क्योंकि संसारी आत्मा कर्म के उदय में चारित्र मोहवश सुख-दुःख का अनुभव करती है। कर्म और आत्मा के बन्धन का यह चक्र अनादिकाल से रहा है। अतः बन्ध का कारण मिथ्यात्व रूप रागादि वासनाओं का विनाश हेतु कर्म साहित्य सृजित किया है। इस प्रकार के साहित्य में प्रसंग-प्रसंग पर आध्यात्मवाद तत्त्व ज्ञान, आचार एवं अनेकान्तात्मक दृष्टिकोण को भी नहीं छोड़ा है।

जीव का मूल प्रयोजन अपनी आत्मा के जानने में ही है। और अपनी आत्मा के ज्ञान कराने में तत्पर साहित्य को अध्यात्म शास्त्र कहते हैं। अध्यात्म विद्या के प्रतिपादन में कुन्दकुन्द कृत समयसार आता है। सम्यग्दर्शन ज्ञान एवं चारित्र ही आत्म स्वातंत्र्य की प्राप्ति में कारण हैं, जो कि समयसार का प्रतिपाद्य है। नैतिक व्यक्तित्व के विकास के लिए अध्यात्मविद्या आवश्यक है। भोगवादी दृष्टिकोण, मानवजीवन में निराशा, अतृप्ति, अपराध एवं कुण्ठाओं को जन्म देता है। और अध्यात्म इन सब से परे रखता है। अध्यात्म विषयक साहित्यकारों में कुन्दकुन्द, पद्मप्रभ, जोइन्दु आदि मुख्य हैं, परन्तु सभी श्रमण साहित्यकारों ने अध्यात्म को अपने-अपने ग्रन्थों में विवेचित किया है,क्योंकि सभी का समान लक्ष्य आत्महित अर्थात् सच्चे सुख की प्राप्ति ही था।

जैन श्रमणों ने भाषाओं को सुव्यवस्थित स्वरूप देने के लिए विभिन्न भाषा के व्याकरण ग्रन्थों की भी रचना की है। आचार्य देवनन्दि ने अपने शब्दानुशासन में श्रीदत्त, यशोभद्र, भूतबलि, प्रभाचन्द्र,सिद्धसेन और समन्तभद्र इन छह वैयाकरणों के नाम दिये हैं। यापनीय संघ के आचार्य पाल्यकीर्ति ने शाकटायन व्याकरण की रचना की, जिस पर सात टीकाएँ-अमोघवृत्ति, शाकटायनन्यास, चिन्तामणि, मणिप्रकाशिका प्रक्रिया संग्रह, शाकटायनसिद्धि और रूपसिद्धि प्राप्त हैं। ये सभी महत्वपूर्ण टीकाएँ हैं। दयापाल मुनि ने लघु- सिद्धान्त कौमुदी की शैली पर रूपसिद्धि की रचना की है। कातन्त्ररूपमाला के रचयिता भावसेन त्रैविद्य है। शुभचन्द्र ने चिन्तामणि नामक प्राकृत व्याकरण लिखा है। श्रुतसागरसूरि का भी एक प्राकृत व्याकरण उपलब्ध है।[61] पूज्यपाद ने जैनेन्द्र व्याकरण के नाम से संस्कृत व्याकरण, अभयनन्दि ने महावृत्ति के रूप में जैन व्याकरण की टीका, प्रभाचन्द्र ने शाकटायन न्यास, भावसेन त्रैविद्य ने शाकटायन व्याकरण टीका, तमिल भाषा के प्रसिद्ध वैयाकरण भवनंदि ने "नन्नूल" व्याकरण का ग्रन्थ देकर अभूतपूर्व सेवा की। जो कि तमिल भापा का लोकप्रिय ग्रन्थ है तथा जो वहाँ के विद्यालयों एवं महाविद्यालयों में पाठ्यपुस्तक के रूप में नियत है। इसी प्रकार नयसेन ने कन्नड व्याकरण लिखकर अपना योगदान दिया। इस प्रकार व्याकरण क्षेत्र में भी जैन श्रमण सक्रिय रहे। यह एक पृथक रूप से विस्तृत शोध की अपेक्षा रखता है।

पुराणों के क्षेत्र में भी जैन श्रमणों का योगदान रहा है। जैनधर्म के परिप्रेक्ष्य में पुराण का अभिप्राय "त्रेसठ शलाका अथवा सम्यग्दृष्टि महान पुरुषों के जीवन चरित का वर्णन करके उनके शुभाशुभ भाव तथा उनका फल प्रदर्शित कर सन्मार्ग में लगाने अर्थात् वीतरागता की ओर ले जाने भावों के प्ररूपक साहित्य से है, जिसे प्रथमानुयोग कहते हैं। इसमें पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, महापुराण, शान्तिनाथ पुराण, चंदप्पह चरिउ, पार्श्वनाथ चरित्र, कुमुदेंदु मुनि कृत "रामकथा", भद्रबाहु चरित्र, एवं हरिषेण कृत वृहद्कथाकोष मुख्य है।

काव्य/स्तोत्र -

इस क्षेत्र में जैन श्रमणों ने पर्याप्त लिखा है, जिनमें भक्तामर स्तोत्र, कल्याणमन्दिर, सहस्रनामस्तोत्र आदि साहित्य है, जो रस, गुण समन्वित है। आदिपुराण, हरिवंशपुराण, यशस्तिलक आदि उच्च काव्य की कोटि में आते हैं।

कोष साहित्य में पूज्यपाद ने शब्दावतार, तेरहवीं शताब्दी के धरसेन ने विश्वालोचन कोष, दिवाकर मुनि कृत "दिवाकर निघंटु" पिंगल मुनि कृत "पिंगलनिघंटु आदि, वैद्यक साहित्य में उग्रादित्याचार्य कृत "कल्याणकारकं" नामक वृहदकाय आयुर्वेद का प्रसिद्ध ग्रन्थ, ज्योतिष में आचार्य गर्ग कृत निमित्त शास्त्र, आचार्य ऋषिपुत्र कृत पाशकेवली, श्रीधराचार्य कृत ज्योतिर्ज्ञानविधिकरण विषयक ज्योतिष ग्रन्थ, आचार्य भट्टवोसरि कृत "आयज्ञानतिलक" लाभ का लाक्षणिक ग्रन्थ इसी प्रकार भद्रबाहु संहिता आदि निमित्तशास्त्र, सूर्यप्रज्ञप्ति आदि श्रमणों द्वारा प्रणीत है, जिनके अवदानों को गौण नहीं किया जा सकता है। ज्योतिप ग्रन्थों के प्रणयन का उद्देश्व था कि मानव समूह लाक्षणिक आदि ग्रन्थों से पूर्वकृत शुभाशुभ भावों के फल का विचार कर, एवं शुद्धोपयोग रूप एक धर्म मात्र को ही सच्चा शरण जानकर उसके प्रति प्रेरित हो सके, अथवा शारीरिक लक्षणों से अपनी आयु का विचार कर तदनुसार समाधिमरण हेतु उद्यत हो सके। इसी प्रकार ग्रह नक्षत्रों एवं अष्टांगों के वर्णन करने का उद्देश्य रहा है। ज्योतिप आदि विद्याएँ स्वर्ग, नरक, पुण्यपाप, एवं आत्मा के अनादि अनन्तता की भी सिद्धि करती हैं।

इसके अतिरिक्त जैन श्रमणों द्वारा गणित, **बीजगणित** लोक-विभाग, राज्यनीति, नाटक, छन्दशास्त्र, तर्कशास्त्र, कथा साहित्य, तथा पार्श्वदेव कृत "संगीत समयसार" के रूप में संगीत शास्त्र, आदि एवं कुछ श्रमणों के द्वारा मन्त्र- तन्त्र के साहित्य भी लिखे गये हैं। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि जैन श्रमण इन सब का ज्ञान तो कर सकता है, क्योंकि ये सब द्वादशांग के अंग हैं, और ज्ञान का स्वभाव "जानना" है। अतः सब विद्याओं का ज्ञाता तो हो सकता है; परन्तु इन सब में उसकी आसक्ति नहीं होती, और ज्योतिष, मन्त्र-तन्त्र एवं वैद्यक का प्रयोग अथवा उसकी प्रेरणा जैन श्रमण नहीं करते हैं। तथा उसको अपनी आजीविका किं वा यश का साधन नहीं बनाते हैं। जैन श्रमण की अध्यात्म विद्या में आसक्ति होती है, एवं उसी के उपदेश एवं प्रचार की भावना भाते हैं।

जैन श्रमणों ने भारत की प्रत्येक संस्कृति एवं क्षेत्र को अपना योगदान दिया ही है, परन्तु "दक्षिण भारत की संस्कृति में उनका महत्वपूर्ण स्थान रहा है। तमिल और कन्नड भाषा की प्रारम्भिक साहित्यिक उन्नति का अधिकांश श्रेय जैन संतों के परिश्रम को है[62] एवं कन्नड के गद्य का सर्वप्रथम रूप भी "वड्डराधने" जो कि जैन श्रमण की देन है - में प्राप्त होता है।[63]

जैन श्रमणों ने सभी भाषाओं में एवं सभी विद्याओं में साहित्य लिखकर अपनी विद्वत्ता व विशालता का परिचय देकर सम्पूर्ण राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधकर, दैनन्दिन राष्ट्र एवं समाज की साहित्यिक एवं आध्यात्मिक सेवा तो करते ही रहे, साथ ही उनसे विभिन्न राजवंश समय-समय पर प्रभावित होकर सन्मार्ग पाकर अहिंसात्मक कार्य में सक्रिय रहे। मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त आचार्य भद्रबाहु से ही प्रभावित होकर दीक्षाग्रहण कर दक्षिण प्रदेश के प्रति प्रस्थान किया। सम्भवतः मौर्यवंश के अहिंसक होने का कारण श्रमणों से प्रभावित होना ही है। अशोक जीवन के पूर्वार्द्ध में जैन था, स्पष्ट है कि वह श्रमण चर्या से प्रभावित था, उत्तरार्द्ध में वह बौद्ध धर्म में दीक्षित हुआ। सम्राट सम्प्रति ने तो जैन शासन की उन्नति हेतु अनेक स्तम्भ, स्तूप एवं स्मारकों का निर्माण कराया। सम्राट खारवेल ने भी श्रमणों के लिए गुफाएँ एवं चैत्य बनवाएँ । वीर चामुण्डराय तो स्पष्ट रूप से श्रमणों से प्रभावित थे जिन्होंने "श्रवणबेलगोला" में विश्ववंद्य भगवान बाहुबलि की प्रतिमा स्थापित की थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रमणों का साहित्य की प्रत्येक विद्या में एवं संस्कृति के उन्नयन में महत्वपूर्ण योगदान रहा। जैन श्रमण आत्मकल्याण तो करते ही हैं, साथ ही पर-कल्याण भी उनसे कम न हुआ। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनका महत्त्वपूर्ण अविस्मरणीय अवदान है।

सन्दर्भ सूची

1. प्र.सा.ता.वृ. 2/4/20, श्रमणशब्दवाच्यानाचार्योपाध्यायसाधूंश्च।
2. भा.पा. मूल. व.टी. 122/273-74, "साधु शब्देनाचार्योपाध्यायसर्वसाधवोलभ्यन्ते।
3. पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध - 629-644 श्लोक।
4. पंचाध्यामी उत्तरार्द्ध 709-713.
5. वही, श्लोक 638.
6. भ.आ.गा. 418 आवश्यक निर्युक्ति (श्वे.) 994.
7. ध. 1/11, 1/29-31, 48 मूलाचार 158 नियमसार गा. 73.
8. "आचारन्ति तस्माद् व्रतानित्याचार्याः। स.सि. 9/24, रा.वा. 9/24.3, भ.आ.गा. 419-आचारं पण्चविहिं ----- आयारवं णाम, पंचाध्यायी उ. 64.
9. भ.आ.गा. 419.
10. बो.पा.टी. में उद्धृत 1/72.
11. द्वादशतप दशधर्मजुत, पालें पंचाचार।
    षट् आवश्य त्रयगुप्ति गुण, आचारज पदसार।। 19।। इष्ट छत्तीसी।
12. ध. 1/1, 1, 1/32/50.
13. वही 1/1, 1, 1/50/1.
14. मूलाचार गा. 511.
15. रा.वा. 9/24/4; स.सि. 9/24.

16. (मूलाराधना-629,831/4-पवत्ती अल्पश्रुतः सन्सर्वसंघमर्यादाचरितज्ञः प्रवर्तकः)

17. मूलाचार आचारवृत्ति गा. 156
18. ति.पं. 4/967.
19. ध. 9/4, 1, 44/127/7.
20. त.सू. 9/18.
21. अथवा सावद्यं कर्म हिंसादिभेदेन विकल्पनिर्वृत्ति छेदोपस्थापना - तत्वार्थवा. पृ. 617.
22. सर्व सावद्यनिवृत्ति लक्षण सामायिकापेक्षया एकं व्रतं, तदेव छेदोपस्थापनापेक्ष्या पंचविधम्। स.सि.अ. 7.
23. व्रत समिति गुप्ति ----- स्वस्थितिक्रिया।। 6।। आचारसार
24. तीसं वासो जम्मे, वासुपुधत्तं खु तित्थयर मूले।
पच्चक्खाणं पढिदो, संक्षूणदुगाउयविहारो।। 473।। गो.जी.का.
25. भ.आ.वि. 155.
26. गो.क.जी.प्र. 527.
27. वही
28. स.सि. 9/46; श्वे. स्थानांग के 194 सूत्र में भी श्रमणों के इतने ही भेद मिलते हैं। मिलते हैं।
29. रा.वा. 9/46/6-12.
30. स.सि. 9/47, फुटनोट में अन्य पुस्तक से निम्न उपलब्ध पाठ-"कृष्णलेश्यादित्रयं तयोः कथमिति **चेदुच्यते**"
31. वही, तत्वार्थ वृत्ति 9/47.
32. स.सि. 9/46; रा.वा. 9/46/1.
33. रा.वा. 9/47, चा.सा. 104
34. **सवार्थ** सिद्धि - मोहशबलयुक्ता बकुशा, 9/46.
35. **सवार्थ** सिद्धि 9/47, एवं त.सू. रामजीभाई टीका के आधार पर।
36. न्या.वि.टी. 2/1/1/8 साध्याविनाभावनियमनिर्णायकलक्षणं वक्ष्यमाणं लिंगम।
37. धवल 13/5, 5, 43/245/6, - किंलक्खणंलिंग/अण्णहाणुववतिलक्खणं।
38. मूलाचार गा. 908.
39. प्रवचनसार गा. 205-6.
40. भावपाहुड - गा. 56, कुन्दकुन्दकृत
41. रयणसार गा. 87.
42. रा.वा. 9/46/11 दृष्ट्या सह यत्र रूपं तत्र निर्ग्रन्थ व्यपदेशः न रूपमात्र इति।
43. भ.आ.गा. 770; शीलपाहुड गा. 5.
44. स.सा.गा. 410 ण वि एस -------- जिणा वेंति।
45. **लिंगपाहुड**, गा. 2.

46. भावपाहुड गा. 2, 74; 100, योगसार 5/57.
47. मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय 9, पृ. 462, (सस्ती ग्रन्थमाला, देहली, द्वितीय संस्करण)
48. समयसार गा. 408-410.
49. मूलाचार गा. 900.
50. भावपाहुड गा. 72.
51. समाधिशतक श्लोक 87.
52. मो. पा. गा. 57.
53. भा. पा. गा. 6, 68, 111.
54. मो. पा. गा. 61.
55. भा. पा. गा. 49, 69, 71, 90.
56. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. 431 की टीका, पृष्ठ 324.
57. समयसार गा. 436, तात्पर्य वृत्ति टी. (जैन समाज सोलापुर प्रकाशन 1983)
58. वही
59. प्रवचनसार गा. 20, आदाय तं पि लिंगं गुरुणा परमेण तं णमंसित्ता।
60. भा. पा. टी. गा. 73, भावलिंगेन द्रव्यलिंगं द्रव्यलिंगेन भावलिंग भवतीत्युभयमेव प्रमाणीकर्तव्यं। एकान्तमतेन तेन सर्व नष्टं भवतीति वेदितव्यम्।
61. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग 4 पृ. 338 के आधार पर
62. प्राचीन भारत पृ. 66, ले. प्रो. ई. जे. रायसेन।
63. कन्नड साहित्य की रूपरेखा पृ. 4, ले. डॉ. हिरण्यमय।

उपसंहार

पूर्व अध्यायों में प्रस्तुत जैन श्रमणाचार का अनुसन्धानात्मक अध्ययन उनकी आचार संहिता को स्पष्ट करता ही है, साथ ही उनकी सर्वमान्यता, लोकप्रियता,व श्रेष्ठता की भी सहज सिद्धि कर देता है। एवं कुछ ऐसे समाधान भी प्रस्तुत करता है .जो कि जैन धर्म/दर्शन और विशेषतः जैन आचार संहिता को लेकर उठते हैं।

जैन धर्म के पारम्परिक ऐतिहासिक दृष्टिकोण, प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को इतना प्राचीन सिद्ध करते हैं, जिसका कि उपलब्ध ऐतिहासिक अनुसन्धान के आधार पर उसकी कालगणना अशक्य है। चूंकि जैन श्रमणाचार ऋषभदेव से जुड़ता है, अतः इस चर्या को किसी काल में बाँधना न्यायोचित नहीं है। वेदों में प्राप्त ऋषभदेव के सम्माननीय संदर्भ नग्न जैन मुनि की सार्वजनिकता, लोकमान्यता तो सिद्ध करता ही है, साथ ही वेदों से नग्न वृत्ति रूप धर्म संस्कृति की सिद्धि भी होती है। निश्चित रूप से वैदिक पुरूष जैन मुनि से अत्यन्त प्रभावित रहे हैं, तभी उन्होंने जैन श्रमण को भगवान की तरह स्थान दिया। परन्तु परवर्ती वेदानुयायी लोगों ने साम्प्रदायिकतावश इन तथ्यों को या तो गौण किया या फिर अभाव। तथापि जैन श्रमणों ने अपनी अहिंसक प्रवृत्ति से सम्पूर्ण देश, काल की परम्परा को प्रभावित किया, और आज सम्पूर्ण विश्व के लोगों की अहिंसा के प्रति रुचि सच्चे जैन श्रमणों की ही देन है।

जैन श्रमण के यद्यपि विशेषणों की अपेक्षा से विभिन्न पर्यायवाची नाम हैं तथापि उनके पुरुषार्थ साहसिकता एवं आध्यात्मिक अभिरुचि के द्योतक के रूप में "श्रमण" शब्द ही निर्दोष लक्षण युक्त अर्थात् अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, एवं असंभव लक्षण के दोषों से रहित, श्रेष्ठ नाम है। जैन श्रमणों के पौरुष से हिन्दु संस्कृति तो प्रभावित रही ही, इस्लामी संस्कृति भी प्रभावित हुयी है।

प्राचीन भारतीय पुरातत्व तो मानों जैन श्रमणों के गीत ही गा रहा है, उसकी एक-एक ईंट जैन श्रमण की अहिंसक एवं अपरिग्रह चर्या से अर्चित व चर्चित हैं, मोहन जोडारो, अशोक के शासन लेख, अहिच्छेत्र के पुरातत्व, कौशाम्बी, कुहाऊं का गुप्त कालीन पुरातत्व, राजगृह एवं वंगाल का पुरातत्व, कादम्ब राजाओं के प्रसिद्ध एलोरा की गुफाऐं इसके लिए जीवन्त प्रमाण हैं।

पुरातात्विक सामग्री के अतिरिक्त नन्द, मौर्य, एवं सिकन्दर महान् सम्राट जैन श्रमणों से बहुत प्रभावित थे। भारतीय साहित्यिकता भी जैन श्रमणाचार से प्रभावित हुयी है, संस्कृत, तमिल, कन्नड साहित्य तो जैन श्रमणों के यशोगान में ही लीन हैं।

जैन श्रमणचर्या यद्यपि अव्याबाध रूप से वहती रही है, तथापि इस श्रमणाचार में भी विभिन्न विजाति शाखाऐं प्रस्फुटित होती रही हैं, और यह एक लम्बी अवधि को तय करने वाले के लिए अनहोनी नहीं है। महावीर के पश्चात् एक विकट परिस्थिति में वस्त्र के विवाद ने श्वेताम्बर सम्प्रदाय को जन्म दिया। जो अब तक विद्यमान और पल्लवित एवं पुष्पित है। सचमुच में समस्त विवाद तो वस्त्र किंवा परिग्रह में हैं, और यही विभिन्न सम्प्रदायों का जनक भी, कोई गेरूआवस्त्र में विश्वास तो कोई श्वेतवस्त्र में जबकि वस्त्रों के अन्दर सभी समान एवं एक से हैं, और जिससे सभी में समानता आती है। भेद-भाव का अन्त व ऊंच-नीच की प्रवृत्ति की समाधि हो वही सन्तों का धर्म है, और यह मात्र नग्न वेष की स्वीकृति में ही है। वस्त्र पश्चातवर्ती जबकि नग्नता सहज एवं अनादि कालीन है, अतः उस वृत्ति को स्वीकारने वाला प्रकृति प्रेमी ही सत्यान्वेषी है। इस तरह नग्न वेष रूप दिगम्बरत्व प्राचीन एवं श्रेष्ठ है। और यही समभाव का द्योतक होने से सन्तों का धर्म हो सकता है। जहाँ समभाव नहीं वह सन्त नहीं है। सन्तों में भी कथंचित् सामाजिकता होने के कारण, सत्य की सुरक्षा के अभिप्राय से विभिन्न गणों, गच्छों, और अन्वयों का सहज अभ्युदय हुआ जिससे यदि एक तरफ उत्थान हुआ, तो दूसरी तरफ पतन भी और सन्त तथा समाज एक जातीय संकीर्णता में बंध से गये, तथापि सच्चे निर्दोष श्रमण समय-समय पर होते रहे।

जैनधर्म में व्यक्तिवाद को कोई स्थान नहीं है और न ही किसी भेष विशेष की कोई महत्ता। जैसे भारत, धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र है और उसका राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री अथवा अन्य कोई महत्वपूर्ण राजकीय व्यक्ति धर्म निरपेक्ष होगा, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उनके व्यक्तिगत जीवन में कोई धर्म विशेष का स्थान न रहे। चूंकि भारत धर्म-निरपेक्ष है और वह यदि किन्हीं मानवीय गुणों के आधार पर अहिंसा, अपरिग्रह आदि तथ्यों को प्रोत्साहित करता है अथवा शराब, माँस, आदि आहार विकृतियों के निवारणार्थ विशेष कदम उठाता है जो कि किसी धर्म के विशेष लक्षण हैं, और उससे कोई विशेष धर्म/सम्प्रदाय, विशेष रूप से प्रकाश में आता है अथवा वैचारिक गुत्थियों के सुलझाने में समर्थ अनेकान्त स्याद्वाद का नामोल्लेख पूर्वक विशेष प्रचारित करता है, जिससे राष्ट्र एवं समाज का विशेष हित हो रहा हो, परन्तु ये सब किसी धर्म विशेष में ही पाये जाते हों, तो इससे वह राष्ट्र, धर्म सापेक्ष नहीं कह दिया जाएगा। इसी प्रकार से यद्यपि जैनधर्म में किसी भेष विशेष का कोई स्थान नहीं, तथापि आध्यात्मिकता का आधार वीतरागता को महत्ता मिली है, और वह

वीतरागता नग्नता में ही सम्भव है, अतः नग्न भेष में ही मुक्ति शक्य है। णमोकार मंत्र में जो "णमोलोए सव्वसाहूणं" आता है उसका भी अर्थ वीतरागता लिए नग्न दिगम्बर स्वरुप से युक्त लोक के सर्व साधुओं को नमस्कार किया गया है, न कि यद्रा-तद्रा किसी भी नामधारी साधु को नमस्कार है। यह कैसी विडम्बना है कि साधुता के नाम पर किसी भेषधारी को उसके गुण-अवगुण की पहिचान किये बिना सत्कार - नमस्कार आदि किया जाता है। जबकि गुणों की प्राप्ति के लिए ही किसी को सम्मान दिया जाता है जैसा कि तत्त्वार्थ सूत्र के मंगलाचरण में "वन्दे तद् गुणलब्धये" आता है, जब किसी में उसके आवश्यक अपेक्षित गुण/विशेषताएँ होवे ही नहीं, तो उसके सम्मान का क्या औचित्य हो सकता है? यह तो छलावा मात्र है।

हम प्रयोजनवश ही किसी को अपना सम्मान देते हैं, फिर चाहे वह लौकिक प्रयोजन हो या पारलौकिक, परन्तु विश्व के समस्त प्राणी जगत का एक मुख्य प्रयोजन रहता है जिसके लिए ही वह समस्त व्यवसाय करता है और वह प्रयोज़न है दुःख के परिहार रूप सुख की प्राप्ति, और वह यथार्थ समझ से मिलती है। वस्तु की सही जानकारी व तद्नुसार परिणति होने पर सुख प्राप्त होता है। वस्तु के स्वभाव का ज्ञान श्रद्धान एवं आचरण ही धर्म है। इस वस्तु तत्त्व में मैं स्वयं भी एक आत्म-वस्तु हूँ, सुख प्राप्ति के लिए यह परिज्ञान आवश्यक है, क्योंकि दुःख स्वयं में है, और उसके अभावपूर्वक सुख भी स्वयं में ही करना है। इन सब कार्य की प्रमुखता श्रमणों में होती है अतः वे धर्मात्मा कहलाते हैं। ये श्रमण "तीन गुप्ति रूपी गुप्ति का आश्रय लेते हैं, अनशन आदि तप रूपी राज्य का पालन करने में उनकी बुद्धि लगी रहती है, 'पूर्ण व्रत रूपी कवच धारण करते हैं शील रूपी खेट में' बसते हैं, ध्यान रूपी अत्यन्त तीक्ष्ण तलवार रखते हैं, उसके द्वारा कर्मरूपी शत्रुओं की सेना को वश में करने के लिए तत्पर रहते हैं। इस प्रकार श्रमणों का माहात्म्य है।[1] जैन धर्म में जीव-अजीव आस्रव-बंध, संवर-निर्जरा, मोक्ष ये सात तत्त्व कहे गये हैं, यदि इस तात्विक अवस्था के अन्तर्गत ही श्रमण का स्वरूप कहें, तो निरन्तर संसार के कारण रूप कर्म को आने से रोकते हैं और संचित कर्मों की निर्जरा करते हैं यही उनकी अहोरात्रि चर्या है, व्यवसाय है, इसके अलावा वे कुछ नहीं करते हैं, अतः सवंरनिर्जरा की मूर्ति मुनि हैं। यही उनका मुख्य धर्म है। तदनुसार पंचमहाव्रत, गुप्ति-समिति, पंचेन्द्रिय जय, षडावश्यक एवं शेष सात गुण के पालन रूप वृत्ति भी उनके जीवन में देखी जाती है, जिसे धर्म भाषा में 28 मूलगुण कहते हैं। यहाँ यह कहना कि इन अट्ठाइस मूलगुणों का आविष्कार किसने किया, यह प्रश्न-पद्धति न्यायोचित नहीं है। हाँ, यह प्रश्न कि किसने साहित्यिक रूप में प्रथम कहा, उपलब्ध साहित्य के आधार पर आचार्य कुन्दकुन्द या वट्टकेर को कह सकते हैं, परन्तु यह उनकी देन नहीं कही जा सकती है। सन्तों की अहिंसक वृत्ति इस प्रकार 28 भेदों से होती है। सज्जनों का ऐसा स्वभाव ही है, जैसे जल का त्रिकालवर्ती स्वभाव शीतल और अग्नि का गर्म वैसे ही श्रमणों का भी उक्त प्रकार से भेदाभेद रूप स्वभाव है।

1. भ.आ.पृ. 90

जैन श्रमण का अत्यन्त पवित्र जीवन और उनका ईश्वर के रूप में स्थान है और वे अष्टद्रव्य से पूज्य हैं। अतः इस जीवन शैली की प्राप्ति हेतु उत्कृष्ट पात्रता की आवश्यकता होती है। अतः सामान्यतः, अपराधी, लोक विरुद्ध, अतिकामी पुरुषों को प्रोत्साहित नहीं किया है। अत्यन्त संवेगी, संसार, शरीर, भोगों से उदासीन, ज्ञानवान व्यक्ति को जिनलिंग के धारण के योग्य कहा गया है। साथ ही जो लूला, लंगड़ा, अन्धा, काना, पारिवारिक जनों से अनुमति न लाया हुआ और शूद्रवर्ण को पात्रता के अयोग्य कहा गया है, तथा जो बाल्यावस्था युक्त है उसको भी दीक्षा के लिए अपात्र कहा है। जितनी आवश्यकता दीक्षा के लिए पात्र जीवन की है, उतनी ही आवश्यक सावधानी दीक्षादाता के जीवन पद्धति की परीक्षा की है। दीक्षा लेने वाले को, धीर-गम्भीर सुयोग्य आचार्य से ही दीक्षा लेना चाहिए। आचार्य भी नवागन्तुक के सुयोग्य जीवन को देखकर अति सावधानीपूर्वक दीक्षा देते हैं।

मोक्ष का मार्ग तो यद्यपि सर्व परिग्रह के उत्सर्ग (त्याग) रूप ही है, तथापि सीमित संयम के उपकरण रूप पिच्छि, कमण्डलु एवं शास्त्र को अपवाद मार्ग में स्वीकारा है। तथापि यह भी सूक्ष्म दोष ही है जिसका भी त्याग आवश्यक है। उत्सर्ग एवं अपवाद के समुचित समन्वय रूप मार्ग से साधक को चलना चाहिए। श्वेताम्बरीय सम्प्रदाय में अपवाद की आड़ में एक लम्बी परिग्रह की सूची एवं आहार व्यवस्था प्ररूपित की है वह सही नहीं है। **जिस अपवाद मार्ग से शिथिलाचार प्रसूत हो वह जैन शासन में स्वीकृत नहीं है।**

अट्ठाइस मूलगुण युक्त श्रमण की सम्पूर्ण आचार-संहिता को आचार्य वट्टकेर ने समाचार अधिकार में प्ररुपित किया है। रागद्वेष रहित आचार को समाचार कहते हैं, जो श्रमणाचार का वैशिष्ट्य है। यह औघिक और पद विभागादिक के भेद से दो प्रकार का होता है। श्रमण का प्रातः काल षडावश्यकों से प्रारम्भ होता है। श्रमणों का निश्चय नय से आवश्यक अर्थात् अवश्य करने योग्य कार्य तो आत्मिक स्थिरता बनाये रखना ही है, तथापि व्यवहार नय से, सामयिक, वंदना, चतुर्विंशांतिस्तव, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान एवं कायोत्सर्ग है। यह ही उनकी नित्य क्रिया है, परन्तु समय-समय पर विशिष्ट धार्मिक पर्व, निर्वाण दिवस आदि पर नैमित्तिक क्रियाओं में सोत्साह प्रवर्तित होते हैं।

जैन श्रमण की आहार-चर्या भी कर्म निर्जरार्थ होती है। उनका भोजन शरीर की पुष्टि के लिए नहीं अपितु आत्म-साधना के लिए होता है, और वे आत्म- साधना के आधार पर इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करते हैं। वे इन्द्रियों से अधिक आत्म-स्वरूप पर उपयोग लगाते हैं। अतः इन्द्रिय -जयी स्वतः हो जाते हैं। इन्द्रियों को जीतने का सीधा मार्ग यह है कि उनको महत्व देना बन्द कर दिया जाए। वे समस्त शक्ति अपनी आत्मा पर लगाते हैं, अतः वे इन्द्रियों पर पूर्ण विजयी हो जाते हैं। जो दूसरों पर शक्ति का प्रयोग करके विजय प्राप्त *करता है, वह तो अपने शत्रु पर अपूर्ण विजय ही प्राप्त करता है, पूर्ण नहीं।* जैन श्रमण पूर्ण विजयी होने के लिए अल्पाहार लेकर उससे कठोर तपस्या करते हैं। शुद्ध आहार लेकर

भी उसकी परवशता में खेद व्यक्त कर वन की ओर प्रस्थान कर जाते हैं। इनकी भिक्षाचर्या को अक्षमृक्षण, गोचरी, भ्रामरी आदि विभिन्न नामों से सम्बोधित किया गया है। इनका आहार सूर्योदय के तीन घड़ी बाद और सूर्यास्त के तीन घड़ी शेष रहते एक बार खड़े-खड़े हाथ में लेकर ही होता है जो कि आहार के प्रति उत्कृष्ट, निस्पृह वृत्ति एवं स्वाभिमानता की द्योतक है। आहारार्थ गमन भी विभिन्न प्रतिज्ञाओं को लेकर होता है। अपने लिए बनाये गये आहार को त्याग कर अनुद्दिष्ट आहार को ग्रहण करते हैं। जो कि अपने आप में एक श्लाघनीय नियम है और सर्व सावद्य एवं सर्व आरम्भ से मुक्त आहार है।

आहार का ग्रहण भी यद्रा-यद्रा किसी के घर पर नहीं अपितु उच्चकुल में, सीधी पंक्ति से तीन अथवा सात घर से आया हुआ प्रासुक आहार दाता की नवधा भक्ति देखकर ग्रहण करते हैं।

दिगम्बर श्रमण की आहार- चर्या में जितना आहार शुद्धि पर ध्यान दिया गया है, उतना श्वेताम्बर परम्परा में श्रमण की आहार शुद्धि पर ध्यान नहीं दिया गया है। वहाँ पर श्रमण के माँसाहार तक का उल्लेख है, इस सम्बन्ध में दिल्ली विश्वविद्यालय से वीणा जैन ने जैन मुनियों के माँसाहार का उल्लेख कर सर्वप्रथम इस क्षेत्र में अपने साहस एवं निष्पक्षता का परिचय दिया था। जर्मन के विद्वान याकोबी ने इस तरह की चर्चा की थी जिसका जैन समाज ने काफी विरोध किया था। किन्तु इनका खोखला, बेबुनियाद विरोध कुछ न कर सका। क्योंकि माँसाहार के उल्लेख जब श्वे. जैन साहित्य में है, तो उनका संकेत करना कौनसा अपराध है। अनुसन्धानकर्ता के उल्लेख न करने पर वे प्रसंग समाप्त तो नहीं हो जाएँगे। परन्तु वहाँ शोध कर्ती वीणा जैन ने एक भ्रमपूर्ण गलती यह की कि उन माँसाहार का उल्लेख विस्तृत शोध की समीक्षा किये बिना सम्पूर्ण जैन धर्म के साथ जोड़ा, जो कि सही न था। दिगम्बर सम्प्रदाय माँसाहार का सर्वथा विरोध करता है। जबकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय एक विशिष्ट परिस्थिति जन्य- जन्म है। अतः उनके यहाँ इस प्रकार के काफी प्रसंग पाये जाते हैं। यतः इस प्रकार का भेद समझना अति आवश्यक है। भगवान महावीर अहिंसक थे और उन्हीं की परम्परा में दिगम्बर श्रमण संघ (नग्नवृत्ति सहित) आता है, श्वेताम्बर सम्प्रदाय महावीर की मूल परम्परा से भिन्न है। अतः श्वेताम्बर के साहित्य का एवं आगमों का इसी कारण बहिष्कार एवं अमान्य एक वर्ग ने किया। यद्यपि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के परवर्ती विद्वानों एवं श्रमणों ने इन माँस परक शब्दों का अर्थ वनस्पति परक करना शुरू कर दिया है, परन्तु उससे कुछ स्पष्ट न हो सका। हाँ, यह बात भी सत्य है कि वर्तमान में जहाँ तक मैंने जानकारी प्राप्त की, कोई भी श्वेताम्बरीय श्रमण मद्य, माँस, का प्रयोग नहीं करता, और प्रबल रूप से उसका विरोध ही करता है। तथापि इस सम्प्रदाय के इस तरह के साहित्यिक उल्लेख इनके जन्म समय की घटनाओं को मान्यता देने के लिए ही हैं, मैं ऐसा मानता हूँ।

दिगम्बर श्रमण 32 अन्तरायों को टालकर आहार लेते हैं, और तत्पश्चात् वन की ओर प्रस्थान कर जाते हैं। एक स्थान पर ज्यादा समय नहीं रहते, और शहर को अपना आवास स्थल नहीं बनाते हैं। अनियत विहारी होकर भव्य जीवों को धर्मोपदेश दिया करते हैं। पैदल ही विहार करते हैं एवं ईर्या- समिति का पालन करते हैं, सूर्य के द्वारा अच्छी तरह भूमि तप्त होने पर एवं भूमि के प्रासुक होने पर गमन करते हैं। गमन करते हुए इधर-उधर जिज्ञासा भाव से न देखकर मौनपूर्वक बिना किसी को बताये, धर्म प्रचार, तीर्थवन्दना अथवा ज्ञान लाभ के लिए विहार करते हैं।

जैन धर्म में एकल विहार का निषेध किया है, अतः अकेले विहार नहीं करते हैं जो कि उचित है। एकल विहार में अनेक दोष सम्भव है। अतिपुरूषार्थी, उत्तम संहनन युक्त श्रमण भी, आचार्य की आज्ञा से एकल विहारी होते हैं। अपना सम्पूर्ण जीवन धर्माराधना पूर्वक व्यतीत कर अन्त समय शरीर को धीरता, एवं वीरता पूर्वक पण्डितमरण करते हैं। आचार्य का यदि मरण हो तो वे आचार्य पद त्याग करके समाधिमरण करते हैं, क्योंकि आचार्य पदवी भी उपाधि है और औपाधिक भाव से मोक्ष नहीं है, मोक्ष तो साधु अवस्था से कहा है। आचार्य अपना समाधिमरण अन्य संघ में जाकर करतें हैं, क्योंकि अपने संघ में समाधि मरण मोह की खान है। अपने संघ को त्याग कर अन्य संघ में सामान्य साधु बनकर स्वीकृत समाधिमरण ही योग्य है। समाधिमरण कराने वाले श्रमणों को निर्यापकाचार्य कहते हैं, योग्य निर्यापक की खोज करना अति महत्व पूर्ण कहा गया है। निर्यापक योग्यायोग्य आहार को जानने में कुशल, क्षपक के मन को जानने वाले और उसका समाधान देने वाले, प्रायश्चित्त ग्रन्थ के रहस्य को जानने वाले, एवं स्व-पर उपकार में कुशल होते हैं। अधिकतम 48 निर्यापक और कम से कम दो, निर्यापक समाधि मरण करा सकते हैं।

यद्यपि जैन श्रमण निरतिचारतः अपने स्वरूप का पालन करते ही हैं, और उनके निरतिचार पालन कराने में बहुत बड़ा योगदान आचार्य का होता है, तथापि कुछ श्रमण अपने मार्ग एवं उद्देश्य से भ्रष्ट हो जाते हैं, जिनको जैन धर्म में अवंदनीक ही कहा है। भ्रष्ट करने में बहुत बड़ा योगदान श्रावकों का है। परन्तु योग्य आचार्य एवं उनके अनुशासन के अभाव में भी श्रमण अपने पथ से भ्रष्ट हो जाते हैं। यदि आचार्य ही स्वयं भ्रष्ट एवं जड़वत् हो तो उसके संघ की भ्रष्टता की स्थिति का अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता है। श्रमण धर्म मोक्षमार्ग है अतः इसमें थोड़ी सी भी शिथिलता सम्भव नहीं। जो की गयी प्रतिज्ञा को तोड़े वह बहुत बड़ा अपराधी है। क्योंकि चारित्र एक सफेद कागज है। एक बार कलंकित हो जाने पर इसका पूर्ववत् उज्ज्वल होना कठिन है। श्रमण-धर्म को अंगीकार बहुत सोच समझकर किया जाता है। श्वेताम्बर श्रमण का चिन्ह भी महावीर के उपदेशानुसार नहीं है, परन्तु जो नग्न रहकर भी मर्यादित जीवन व्यतीत नहीं करते हैं, वे भी भ्रष्ट ही कहे गये हैं। जैनधर्म में गुणों की महत्ता है। चिन्ह विशेष की कोई महत्ता नहीं

है। वर्तमान काल में मेरे द्वारा किये गये श्रमण पर्यवेक्षण में मैंने पाया कि आज लगभग कोई भी ऐसा श्रमण नहीं दिखता जो जैनधर्म में कथित श्रमण स्वरूप में समाहित हो सके। यह बढ़ते हुए शिथिलाचार का परिणाम है। भक्तों की स्थिति यह है कि यह सब जानते हुए भी पूजते हैं एवं सम्मान देते हैं। इसके पीछे उनका तर्क यह रहता है कि ये "औरों से तो अच्छे हैं" या "पंचम काल" है इससे भ्रष्टाचारी श्रमणों को सम्मान मिल जाता है। जबकि इन तर्कों का जैनधर्म में कोई स्थान नहीं है। यहाँ तो गुण ही पूज्य हैं।

जैन श्रमणों के कहीं आंशिक दोष की अपेक्षा पुलाक, वकुश, कुशील आदि भेद किये हैं, तो आन्तरिक प्रशासन, शिक्षा, दीक्षा की अपेक्षा से आचार्य, उपाध्याय, भेद कर दिये गये हैं। इसी प्रकार विशिष्ट पुण्योदय अथवा पौरुष की अपेक्षा तीर्थंकर-श्रमण, गणधर, जिनकल्पी, स्थविर कल्पी आदि भेद किये गये हैं। इसी प्रकार निर्यापकाचार्य, बालाचार्य, आदि से भेद हो जाते हैं। गुणस्थानों की अपेक्षा, निर्जरा की अपेक्षा आदि से भेद हो जाते हैं। परन्तु इस सब में श्रामण्य की अपेक्षा भेद नहीं हे। वे सभी समान रूप से पूज्यनीक एवं वंदनीक हैं। जैन श्रमण "श्रद्धा को नगर बना और तप एवं संवर को उसकी आगल, क्षमा को दृढ परकोटा बना, और मन वचन काय की गुप्ति को किला, खाई और तोप बना आत्म- शक्ति को धनुष और ईर्या समिति को उसकी डोरी, धैर्य को उसकी मूंठ और सत्य रूपी प्रयत्न से उसे खीच कर, फिर तप रूपी बाण ले कर्म कवच को भेदते, इस प्रकार युद्ध करने वाला मुनि सदा के लिए संग्राम का अन्त कर देता है और संसार से छूट जाते है।

जैन श्रमण यद्यपि आत्मकल्याण की भावना में ही प्रवृत्त रहते हैं अतः आन्तरिक व्यक्तित्व के धनी तो होते ही हैं; तथापि उनका बाह्य व्यक्तित्व किसी से भी कम न रहा है। विशेष रूप से साहित्यिक विद्या में; उन्होंने साहित्य के हर क्षेत्र में संस्कृत साहित्य, तमिल, कन्नड, अपभ्रंश, प्राकृत तथा इन भाषाओं में न्याय, व्याकरण, धर्म, दर्शन, कर्म, आचार, पुराण, ज्योतिष, यन्त्र-मन्त्र, आयुर्वेद आदि सभी विषयों पर लोकोपकार की भावना से लिखा।

अतः हम देखते हैं कि जैन श्रमण- परम्परा श्रावकों के लिए, आत्महित की दृष्टि से तो उपकारी रही ही है, तथापि जीवन के हर क्षेत्र में राष्ट्रीय, सामाजिक एवं वैयक्तिक जीवन में उनका श्रावकों के लिए योगदान रहा है। अतः जीवन की प्रत्येक विद्या में सच्चे श्रमण हर किसी के आदर्श हो सकते हैं।

1. उत्तराध्ययन 9,20,22

—❀—

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अष्टपाहुड - ले. कुन्दकुन्द, सोनगढ संस्करण
1B. अष्टपाहुड़ - श्रुतसागरीय कृत टीका
2. अमितगति श्रावकाचार - पं. वंशीधर शोलापुर, प्रथम संस्करण, वि.सं. 1979
3. अंग सुत्ताणि, (श्वे.)
4. अनगार धर्मामृत, आशाधर कृत भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, सन् 1977
5. आत्मानुशासन् - गुणभद्राचार्य कृत, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर सन् 1980
6. आचारांग सूत्र - (श्वे.) व्याबर संस्करण -1980
7. आचारांग सूत्र - प्रो. रावजीभाई देवराज द्वारा प्रकाशित, मोरवी काठियावाड़, वि.सं. 1962
8. आचारांग चूर्णि (श्वे.) - जिनदास गणि, श्रृषभदास केशरीमल संस्था, रतलाम -1941
9. आचारांग - अमोलक श्रृषि कृत अनुवाद - (श्वे.) हैदरावाद, दक्षिण संस्करण
10. आचारसार - वीरनन्दि कृत, प्रका. दिगम्बर जैन समाज (अजमेर) वीर निर्वाण सं. 2506
11. आवश्यक चूर्णि (श्वे.)-जिनदास गणि, **ऋषभदेव** केशरीमल संस्था, रतलाम 1928
12. आचारांग - शीलांक टीका (श्वे.)-सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, सूरत 1935
13. आदिपुराण - हस्तलिखित, अलीगंज जैन मन्दिर
14. इष्टोपदेश - पूज्यपाद, सम्पादक धन्यकुमार जैन, रायचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, 1954 ई. ।
15. ईशादिविंशोत्तर शतोपनिषद
16. उपासकाध्ययन - सोमदेव, सम्पा. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्र.सं. 1964ई.
17. एकीभाव स्तोत्र - आचार्य वादिराज
18. उत्तराध्ययन - जैन पुस्तकोद्धार समिति, सूरत 1916
19. औपपातिक सूत्र
20. उत्तराध्ययन - नेमीचन्द्र वृत्ति (श्वे.)
21. उत्तराध्ययन सूत्र एक परिशीलन - ले. डॉ. सुदर्शन लाल जी, प्रका. सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति अमृतसर, 1970
22. कल्पसूत्र - प्रकाशक भीमसिंह माणेक बम्बई, गुजराती टीका, संस्करण वि.सं. 1962
23. कार्तिकेयानुप्रेक्षा - प्रकाशक राजचन्द्र ग्रन्थमाला, प्र.सं. सन् 1960
24. क्रियाकोश - पं. दौलतराम, जैन साहित्य प्रकाशन कार्यालय, बम्बई 1918

25. क्रियाकलाप - पन्नालाल सोनी शास्त्री, आगरा वि.सं. 1913
26. किरातर्जुनीय - ले. महाकवि भारवि
27. कल्याणमुनि और सम्राट सिकन्दर -ले. पार्श्वकीर्तिवर्णी, जैन साहित्य सदन, चांदनी चौक दिल्ली
28. कन्नड साहित्य की रूपरेखा - ले. डॉ. हिरण्यमय।
29. गोम्मटसार जीवकाण्ड - नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, राजचन्द्रग्रन्थमाला, आगास, तृ.सं. 1971
30. चर्चा संग्रह - व्र. रायमल्लकृत, अप्रकाशित, अलीगंज जैन मन्दिर
31. चारित्रसार - चामुण्डराय कृत,मा.च.दि.जैन ग्रन्थमाला,बम्बई वि.सं. 1974
32. चारित्रधर्मप्रकाश - चारित्रसार पर मुनि विवेक सागर कृत टीका, जैन समाज सीकर द्वारा प्रकाशित वी.नि. 2501
33. जैन साहित्य में विकार - पं॰ बेचरदास दोशी, अहमदाबाद
34. जैन दर्शन - ले.न्या.न्या. मुनि न्यायविजय (श्वे.) प्रका. हेमचन्द्राचार्य जैन सभा
35. जावालोपनिषद, पाटण, संस्करण, द्वितीय संस्करण 1968
36. जैनधर्म के प्रभावक आचार्य - ले. साध्वी संघमित्रा, जैन विश्व भारती लाडनूँ, संस्करण
37. जिनेन्द्रमत दर्पण - संपादक व्र. श्री शीतलप्रसाद, जैन मित्र मण्डल देहली, 1926
38. जैन साहित्य का वृहद इतिहास - सम्पा. दलसुख मालवणिया, डॉ. मोहनलाल मेहता, प्रका. (पार्श्वनाथ विद्याश्रम बनारस)
39. जैनधर्म का उद्गम और विकास
40. जैन शिलालेख संग्रह भाग-2 सम्पादक विजयमूर्ति, बम्बई 1952
41. जैन शिलालेख संग्रह भाग-3 - संग्रहकर्ता पं. विजयमूर्ति, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई, वी.नि. 2483
42. जैन शिलालेख संग्रह भाग-4, सम्पा. डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर, ज्ञानपीठ काशी, वी.नि.सं. 2431
43. जैन आचार - ले. मोहनलाल मेहता, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान वाराणसी 1966
44. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भाग 1,2,3,4 - ज्ञानपीठ प्रकाशन,प्रथम संस्करण
45. जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास - डॉ. भागचन्द्र जी भास्कर, नागपुर विद्यापीठ प्रकाशन, सन् 1977
46. जैन निबन्ध रत्नावली - पं. मिलापचन्द्र जी कटारिया एवं पं. रतनलाल कटारिया, वीर शासन संघ, कलकत्ता।
47. जैन साहित्य और इतिहास - नाथूराम प्रेमी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई- 1942

48. जैन साहित्य का इतिहास पूर्व पीठिका - कैलाशचन्द्र शास्त्री,वर्णी जैन ग्रन्थमाला वाराणसी वी.नि.सं. 2489।
49. ठाणांग सूत्र (श्वे.) - अमोलक ऋषिकृत हिन्दी अनुवाद, हैदराबाद संस्करण
50. तत्त्वार्थ सूत्र - उमास्वामि कृत।
51. त्यागमीमांसा - ले.पं. दीपचन्द वर्णी, प्रका. जौहरीमल सर्राफ दरीवाकला देहली, द्वितीय संस्करण 1931
52. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग 1,2,3,4, - ले. डॉ. नेमीचन्द्र शास्त्री, अखिल भारतीय दि. जैन विद्वत्परिषद द्वारा प्रकाशित प्रथम संस्करण।
53. **तत्त्वार्थ** भाष्य टीका (सिद्धसेन कृत) - सम्पादक पं. महेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी प्र.सं. 1953
54. तत्त्वार्थ संग्रह - सम्पादक - स्वामी द्वारिका दास शास्त्री वाराणसी
55. तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक- विद्यानन्दि कृत, कुन्थुसागर ग्रन्थमाला शोलापुर, प्र.सं. 1949-56
56. तत्त्वार्थ राजवार्तिक - अकलंक कृत, सम्पा. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, ज्ञानपीठ काशी, 1953
57. तत्त्वार्थ सूत्र - **रामजीभाई** टीका, दि. जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ वी.नि. 2502
58. तत्त्वार्थसार - अमृतचन्द्राचार्य ग्रन्थमाला, वाराणसी 1970
59. तिलोयपण्णत्ति - जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, प्र.सं., 1999
60. दसवैकालिक - तत्वावधान हस्तीमल महाराज, सम्यक् ज्ञान प्रचार मंडल जयपुर सन् 1983
61. दसवैकालिक, (श्वे.) हरिभद्र सूरि टीका, देवचन्द्र लालभाई जैन ग्रन्थमाला भावनगर, वि.सं. 2011
62. दर्शन पाहुड टीका - प्रकाशक माणिक चन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई, प्र.सं. वि.सं. 1977
63. दशाश्रुत स्कन्ध - (श्वे.) निर्युक्ति व चूर्ण सहित पंन्यास मणिविजय गणिवर ग्रन्थमाला, भावनगर वि.सं. 2011
64. दशवैकालिक - जिनदास कृत चूर्णि, दे. ल. जवेरी, सूरत 1933.
65. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि - ले. कामताप्रसाद जैन,चम्पावती जैन पुस्तकमाला अम्बाला छावनी,1932
66. दशवैकालिक - अगस्त्य सिंह कृत चूर्णि
67. दिगम्बर मुनि - ले. आर्यिका ज्ञानमति, त्रिलोकशोधसंस्थान हस्तिनापुर वी.नि.सं. 2507।
68. दर्शनसार - सम्पादक नाथूराम प्रेमी, बम्बई, प्र.सं.वि. 1974
69. दक्षिण भारत में जैन धर्म - ले. कैलाशचन्द्र शास्त्री, ज्ञानपीठ सन् 1967

70. धर्म के दशलक्षण -
ले. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल टोडरमलस्मारक ट्रस्ट, जयपुर
71. धवल भाग 1,9,8,13 - अमरावती, प्रथम संस्करण
72. निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय और उसके प्राचीन आचार-विचारों पर ऐतिहासिक दृष्टिपात - ले.पं. सुखलाल संघवी।
73. नियमसार - कुन्दकुन्द,
74. निशीथ सूत्र (श्वे.)
75. न्याय विनिश्चय टीका = सम्पा. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, ज्ञानपीठ बनारस 1949-1954 ई.
76. पद्मपुराण हिन्दी भाषा स्व.पं. दौलतराम जी, सस्ती ग्रन्थमाला, धर्मपुरा दिल्ली सन् 1984
77. पद्मपुराण - रविषेणाचार्य, सम्पादक पं. पन्नालाल साहित्याचार्य ज्ञानपीठ काशी, 1959
78. पद्मनन्दि पंचविंशति - जीवराज ग्रन्थमाला, सोलापुर वि.सं. 2018
79. प्रवचनसार - वी.स.सा. प्रसारक ट्रस्ट भावनगर प्रकाशन वि.सं. 2035
80. प्रवचनसार - आ. कुन्दकुन्द, प्रकाशक-शान्तिवीर नगर, महावीर जी वी.नि.सं. 2495
81. प्रश्न व्याकरण सूत्र (श्वे.) आगमोदय समिति,बम्बई 1919
82. प्रतिक्रमण अध्ययन (श्वे.)
83. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय - आचार्य अमृतचन्द्र, अनु. वैद्य गम्भीर चन्द्र जैन, स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ वी.सं. 2499
84. परमात्म प्रकाश - राजचन्द्र ग्रन्थमाला, सन् 1978
85. प्रवचनसारोद्धार (श्वे.) (नेमिचन्द्र) - सिद्धसेन टीका सहित, बम्बई, 1922
86. पद्मपुराण - हिन्दु
87. पंचास्तिकाय - आ. कुन्कुन्द कृत
88. प्रायश्चित्त समुच्चय -ले.पं.गुरुदास,प्रा.भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशनी संस्था कलकत्ता 1926
89. पंचाध्यायी - टीकाकार - पं. देवकीनन्दन सन् 1932
90. प्राचीन भारत - ले.प्रो.ई. रायसेन
91. पिच्छि कमण्डलु - ले. मुनिविद्यानन्द, राजस्थान जैन सभा जयपुर सन् 1964
92. पिण्ड निर्युक्ति - भद्रवाहु, देवचन्द्र लालभाई जैन ग्रन्थमाला, बम्बई 1918
93. बोध पाहुड - माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई प्रथम संस्करण वि.सं. 1966
94. बम्बई प्रान्त के जैन स्मारक - ब्र. शीतल प्रसाद कृत, सूरत, 1925
95. बंगाल बिहार, उड़ीसा के जैन स्मारक - ब्र. शीतल प्रसाद
96. विशेषावश्यक भाष्य - जिनभद्र, आगमोदय सं. बम्बई 1924-27

97. भगवती आराधना - प्रकाशक चांदमल सरावगी चेरीटेबिल ट्रस्ट गौहाटी, (आसाम)
98. भगवती आराधना - सम्पादक कैलाश चन्द्र जी शास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर सन् 1978
99. भावदीपिका- दीप चन्द कासलीवाल।
100. भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध - ले. बाबू. कामता प्रसाद जैन, दि. जैन पुस्तकालय सूरत, 1926
101. भक्तामर स्तोत्र- ले. मानतुंगाचार्य
102. भगवती सूत्र (श्वे.)
103. भगवत स्कन्ध
104. भिक्षु विचार दर्शन
105. भगवान पार्श्वनाथ - लेखक कामता प्रसाद, सूरत संस्करण संवत् 1450
106. भारतीय संस्कृति में जैन दर्शन का योगदान - डॉ. हीरालाल जैन, मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद भोपाल सन् 1962
107. भद्रबाहु चरित्र - जैन भारती भवन बनारस सिटी, प्रथम् संस्करण वी. नि. सं. 2436
108. भारतीय जन का इतिहास - सम्पादक डॉ. रमेशचन्द्र मजूमदार एवं डॉ. अनन्त सदाशिव अल्तेकर प्रका. मोतीलाल बनारसीदास, 1968
109. भागवत पुराण - ज्वालाप्रसाद भाष्य
110. भाव संग्रह (प्राकृत) - सम्पा. पन्नालाल सोनी, माणिक चन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई वि. सं. 1978
111. भगवान महावीर का अचेलक धर्म - ले. कैलाशचन्द शास्त्री, भा. दि. जैन संघ मथुरा, वी. नि. सं. 2474
112. मूलाचार - ज्ञानपीठ प्रकाशन, आर्यिका ज्ञानमती कृत अनुवाद
113. भाव संग्रह - ले. वामदेव
114. मूलाचार - वट्टकेर कृत, फलटण प्रकाशनः अनंतकीर्ति ग्रन्थमाला बम्बई प्रकाशन 1919
115. मोक्षपाहुड - प्रकाशक माणिक चन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र. सं. वि. सं. 1977
116. महापुराण - जिनसेन-गुणभद्र, सं. पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, 1951-54 प्रथम संस्करण
117. मुनि जिनविजय अभिनन्दन ग्रन्थ - प्रकाशक मुनि जिनविजय सम्मान समिति किशोर निवास, त्रिपोलिया बाजार, जयपुर।
118. **मज्झिमनिकाय**- संपादक : जगदीश काश्यप, नालन्दा 1956
119. मध्य प्रान्त जैन स्मारक, ब्र. शीतल प्रसाद कृत, सूरत संस्करण - 1926
120. मोक्षमार्गप्रकाशक - टोडरमल स्मारक प्रकाशन, सन् 1980

121. मोक्षमार्ग प्रकाशक - सरस्ती ग्रन्थमाला देहली, द्वितीय संस्करण
122. योगसार अमितगति - जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता ई. सन् 1918
123. योग दर्शन
124. योग शास्त्र वृत्ति - आ. हेमचन्द्र, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, 1926
125. यति क्रिया मंजरी - श्री दि. जैन सेनगण मंदिर नागपुर सन् 1982
126. रत्नकरण्ड श्रावकाचार - समन्तभद्र आचार्य
127. रयणसार - संपादन वलभद्र जैन, सन् 1979
128. ऋग्वेद
129. लघुसिद्धान्त कौमुदी - पाणिनी कृत
130. वाल्मीकि रामायण
131. वृहद् जैन शब्दार्णव भाग-1- ले. श्री बिहारीलालजी चैतन्य, बारावंकी, 1925 ई.
132. वृहत्कल्प भाष्य
133. वराह मिहिर
134. वेद पुराणादि ग्रन्थों में जैन धर्म का अस्तित्व - ले. मक्खन लाल जी दिल्ली, 1930
135. विशेषावश्यक भाष्य
136. सर्वार्थसिद्धि - भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, सन् 1955
137. सज्जनचित्तवल्लभ - टीका एवं सम्पादन-योगशचन्द्र जैन, जैन स्वाध्याय समिति मुरार 1986
138. समयसार – कुन्दकुन्दाचार्य, वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट भावनगर वी. नि. 2505
139. समयसार कलश -अमृतचन्द्राचार्य
140. स्याद्वाद मंजरी-परमश्रुत प्रभावक मण्डल, प्र.सं. 1991
141. सागर धर्मामृत-आशाधर कृत
142. साधु सम्मेलन का इतिहास - ले. दुलभ भाई जौहरी, प्रका. महावीर प्रिन्टिंग प्रेस ब्यावर वी. सं. 2473
143. सम्बोध सत्तर - ले. आचार्य हरिभद्र सूरि
144. संघ पट्टक-ले. आचार्य जिनवल्लभ सूरि
145. संबोध प्रकरण - हरिभद्र सूरि, जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा, अहमदाबाद
146. स्थानांग सूत्र - आगम प्रकाशन समिति ब्यावर, सन् 1981
147. समाधि शतक- इष्टोपदेश युक्त - वीर सेवा मन्दिर, देहली, प्र.सं. 2021
148. समयसार तात्पर्यवृत्ति टीका - सोलापुर प्रकाशन, 1983
149. सन्यासोपनिषद
150. सूत्र कृतांग - अमरसुख बोधिनी व्याख्या, आत्मज्ञानपीठ, मसामण्डी, पंजाब

151. सूत्र कृतांग - सम्पादक मधुकर मुनि, ब्यावर प्रकाशन, सन् 1982
152. सप्तम गुजरार्ती साहित्य परिषद रिपोर्ट
153. सम्यक प्रकाश - हस्तलिखित, दि. जैन मन्दिर मौ. जि. भिण्ड में विद्यमान
154. समाधि तन्त्र - पूज्यपाद, प्रकाशक वीर सेवा **मन्दिर सरसावा**
155. श्वेताम्बर मत समीक्षा - ले. अजित प्रसाद जैन, प्रका. बंशीधर पंडित, भवानी पेठ सोलापुर सन् 1974
156. षट्खण्डागम
157. श्रमण महावीर - ले. मुनि नथमल (श्वे.) जैन विश्व भारतीय लाडनूं सन् 1974
158. श्रमण भगवान महावीर - ले. मुनि कल्याण विजय (श्वे.) 1941
159. शान्तिनाथ पुराण - असंग कवि कृत, जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर सन् 1977
160. हरिवंश पुराण (जैन)- भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, **प्रथम** संस्करण
161. ज्ञाताधर्मकथा (श्वे.) ब्यावर प्रकाशन
162. ज्ञानार्णव - राजचन्द्र ग्रन्थमाला, प्र.सं. सन् 1907

अंग्रेजी साहित्य

क्र.	संकेत	पुस्तक का नाम
1.	x	The Sacred book of the East Val XXII
2.	x	Religious Attitude and life in Islam.
3.	x	Cambridge History of India by Prof. E.J. Rapson
4.	x	History of Aryan Rule in India by E.B. Havell.
5.	x	Mysticism and Magic in Turkey-N.J.
6.	(I.H.Q)	Indian Historical Quarterly, ed. Dr. N.N. Law (Calcutta)
7.	(K.K)	Key of knowledge" by Mr. C.R. Jain (3rd ed. 1928)
8.	(S.P.C.I.C.)	Survival of the Prehistoric civilisation of the Indusvally" by R.B. Ramprasad Chanda B.A. (Calcutta 1929)
9.	(I.A.)	Indian Antiquary (Bombay)
10.	(J.R.A.S.)	Journal of the Royal Asiatic Society (London)
11.	(N.J.)	Nudity of the Jaina Saints" by Mr. C.R. Jain (Delhi 1931)

12	(J.B.O.R.S.)	Journal of Bihar and Orissa Research Society, ed. K.P. Jayaswal M.A. (Patna)
13	(S.S.I.J.)	Studies in South Jainism" by Prof. M.S. Ramaswami Ayyangar and Seshagiri Rao (Madras 1922)
14	(S.C.)	Some constributions of South Indian Culture" by Prof. S.K. Aiyangar (1923)

विभिन्न पत्र-पत्रिकाएँ

1. अनेकान्त - वर्ष 1, मासिक पत्र, संपादक श्री जुगल किशोर मुख्तार (दिल्ली)
2. जैन सिद्धान्त भास्कर - भाग-2 किरण 4 संपादक श्री पद्मराज जैन
3. वीर वाणी - संपादक पं. चैनसुख दास जैन, जयपुर।
4. समन्वय वाणी - **अखिल बंसल, लाल कोठी, जयपुर।**
5. वीर - वर्ष 4, भा.दि.जैन परिषद का मुखपत्र, सं. कामता प्रसाद जैन
6. पुरातत्व - वर्ष 2 अंक 4, गुजराती त्रैमासिक पत्र, सं. श्री जिनविजय जी (अहमदाबाद)
7. जैन मित्र - 10 वाँ वर्ष, बम्बई प्रान्त दि. जैन सभा का मुख पत्र सूरत
8. श्रमण - (मासिक) सम्पा. डॉ. मोहनलाल मेहता, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बनारस।
9. जैन सन्देश - संपादक पं. कैलाशचन्द्र जी शास्त्री, दि. जैन संघ मथुरा।
10. आज -(दैनिक समाचार पत्र) कानपुर संस्करण।
11. तरुण -(मासिक) वर्ष 3 अंक 7,
12. जैन पथ प्रदर्शक (पाक्षिक)-सम्पादक रतनचन्द्र भारिल्ल, टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर।
13. जैन संस्कृति संशोधन मण्डल पत्रिका नं. 14
14. मनु टाइम्स - संपादक मदन मोदी, उदयपुर।

निसंग हैं जो वायुसम निर्लेप हैं आकाश से,
निज आत्म में ही विहरते जीवन न पर की आस से।
जिनके निकट सिंहादि पशु भी भूल जाते क्रूरता,
उन दिव्य गुरूओं की अहो ! कैसी अलौकिक शूरता।।

अज्ञात

समकित सहित आचार ही संसार में बस सार है,
जिनने किया आचरण उनको नमन शत-शत बार है।
उनके गुणों के कथन से गुण ग्रहण करना चाहिए,
और पापियों के हाल सुनकर पाप तजना चाहिए।।

ब्र. हरिभाई

मनीषियों की दृष्टि में प्रस्तुत प्रकाशन

मुनियों की आचार संहिता

इस शोधग्रन्थ को देखने पर ऐसा निर्णय किया जा सकता है कि दीक्षार्थी जैन-श्रमण यदि दीक्षा के पूर्व इसका अध्ययन करें तो या तो जैनश्रमण की चर्या का काठिन्य देखकर वे उसे बिना अपनी पूरी तैयारी के दीक्षा नहीं लेंगे; और यदि साहस कर सकें तो वे कभी शिथिलाचारी न बनेंगे। प्रकारान्तर से यह जैन मुनियों की एक आचार संहिता बन गई है।

ग्रन्थ में देश-देशान्तरों, काल-कालान्तरों तथा मत-मतान्तरों की दृष्टि से जैन श्रमण का स्वरूप प्रदर्शित किया गया है। यह एक अच्छी उपलब्धि है।

वर्तमान में जैन श्रमणों के भीतर जो शिथिलाचार आया है उसे भी लेखक ने निबद्ध किया है; तथा उनके नामों का संकेत भी दिया है। मेरी दृष्टि में शिथिलाचार को दूर करने का यह उपाय है कि, जिन साधुओं का चरित्र उज्जवल है या वे अपनी गलती का अनुभव करते हुये उन्हें दूर कर सकने की पात्रता रखते हैं, तो उन्हें सम्मान देकर स्थिर किया जावे और समाज उन्हें मान्यता दे तो शिथिलाचारी अवश्य आत्मनिरीक्षण करेंगे और शिथिलाचार दूर होगा।

शोध-प्रबंध के लेखक डॉ. योगेशचन्द्र स्वयं विद्वान हैं और एक विद्वान के पुत्र हैं। उन्होंने बहुत श्रम कर इस ग्रन्थ को सांगोपांग निबद्ध किया। मेरी उनके प्रति मंगलमय कल्याण की भावना है।

जगन्मोहनलाल शास्त्री
मु. कुण्डलपुर (दमोह)

'एक आलोक-स्तम्भ'

डॉ. योगेश जैन का प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध "जैन श्रमण : स्वरूप एवं समीक्षा" आज के युग की एक महती आवश्यकता है। इस युग में, जब दिगम्बर श्रमण का स्वरूप लुप्त-सा हो गया है; और श्रमण संस्था में निरकुंशता एवं स्वेच्छाचार पनप रहे हैं। विद्वान लेखक ने सच्चे दिगम्बर श्रमण का अन्तरंग एवं बहिरंग स्वरूप प्रस्तुत कर श्रावक एवं मुनिराजों को पूरी तरह सजग कर दिया है। साथ ही पूर्वाचार्यों के गवेषणात्मक उद्धरणों द्वारा पुस्तक को पूरी प्रामाणिकता व उपादेयता प्रदान की है।

सचमुच में, यह कृति एक आलोक-स्तम्भ की तरह श्रमण संस्था को युग-युग तक दिशादान करती रहेगी। समाज को इस अनुपम कृति के उपहार के लिये विद्वान लेखक कोटिशः बधाई के पात्र हैं।

- बाबू जुगल किशोर "युगल"
एम.ए., साहित्यरत्न, कोटा, (राज.)

यथार्थ मार्गदर्शक

आपने इस विषय का आर्षप्रणीत जिनागमों से कठोर अभ्यास किया है। अतः आचार्य प्रणीत आगम का सार-संक्षेप आपने अपनी प्रतिध्वनि रूप सें पुस्तक द्वारा प्रकाशित किया है; इसका यद्यपि संपादन आपके शब्दों में है, तथापि उसका अन्तरंग स्वरूप, भावभासना आचार्य प्रणीत होने से निर्दोष है। वर्तमान में जो आजकल श्रमण दीक्षा लेते हैं, उनको भी श्रमण का यथार्थ स्वरूप क्या है, इसका मार्गदर्शन करने में अत्यन्त उपयोगी है।

समीक्षा दृष्टि से आपका प्रयत्न प्रशंसनीय है, तथा वर्तमान युग में यथार्थ मार्गदर्शन करने वाला है।

नरेन्द्र कुमार भिसीकर, शास्त्री
न्यायतीर्थ, महामहिमोपाध्याय, सोलापुर (महा.)

मुनिधर्म की आचार सहिंता

प्रस्तुत समीक्ष्य प्रकाशन को मुनिधर्म की आगम प्ररूपित आचार-संहिता कहना अधिक उपयुक्त होगा। इसमें चरणानुयोग की प्रधानता से सांगोपांग मुनिधर्म के व्यवहारचारित्र का दिग्दर्शन कराया गया है। शिथिलाचार और शिथिलाचारियों की आगम सम्मत समीक्षा की गयी है। श्रमणाचार की आगमिक ऐतिहासिक एवं पौराणिक परम्परा का ज्ञान कराया गया है। शिथिलाचार के पोषक संघ भेदों की उत्पत्ति का इतिहास भी विशेष पठनीय है।

यह शोध-निबन्ध आगमिक एवं आध्यात्मिक श्रमणचर्या की पावन परंपरा का ज्ञान कराने में समर्थ होगा - ऐसी आशा है। विद्वान लेखक ने आर्ष ग्रन्थों का आलोडन करके एक आवश्यक कमी की पूर्ति की है। उनकी साहित्य साधना विशेष प्रशंसनीय है।

- प्रकाशचन्द "हितैषी"
"सम्पादक" - सन्मति सन्देश (मासिक) दिल्ली

एक युग कृति

डॉ. योगेश जैन की इस कृति का सांगोपांग अवलोकन किया। पढ़ने के पश्चात् यह कहने में संकोच नहीं कि इस कृति ने युगानुरूप आवश्यकता की पूर्ति की है, और यह एक स्ववैशिष्ट्यपूर्ण "युगकृति" के रूप में प्रशंसित होगी; यह मेरा दृढ़तम विश्वास है। भाषा की सरलता व उसका अटूट प्रवाह तथा तार्किक/दृष्टान्तिक शैली के अतिरिक्त विषय की स्पष्टता, निर्भीकता व निष्पक्षता के साथ प्रस्तुतीकरण अत्यधिक प्रशंसनीय है। इस लेखक की विद्यार्थी जीवन से ज्ञानार्जन की बुभुक्षा रही है, उसमें निरन्तर वृद्धि होती रहे, ऐसी मंगल कामना है।

यह प्रबन्ध शोधार्थी व आत्मार्थी दोनों के लिए समान रूप से मननीय व पठनीय होगा, ऐसी मुझे आशा है।

प्रो. महादेव [illegible]नष्कर
अध्यक्ष - जैनदर्शन विभाग, जैन संस्कृत कालेज, [illegible]पुर

कठिन परिश्रम की स्पष्ट झलक

इस शोध-प्रबन्ध में विषय का प्रतिपादन सप्रमाण और अच्छा किया गया है। कठिन परिश्रम के बिना इस प्रकार का लेखन असम्भव होता है - यह एक लेखक ही जान पाता है, और इसकी स्पष्ट झलक इसमें है। इस हेतु आप बधाई के पात्र हैं।

श्रमणाचार विषयक अध्ययन को आगे बढ़ाने वालों के प्रति मेरी आत्मीयता स्वाभाविक है। इसीलिए साहित्यिक अभिरुचि, जैनधर्म दर्शन के प्रसार की तीव्र भावना, निर्भीकता और उत्साह आदि के कारण आपके प्रति मेरे मन में गहन आत्मीयता के साथ यह अपेक्षा है कि आप सदा इसी तरह जैन साहित्य के अनेकों अछूते विषयों के लेखन/प्रकाशन में लगे रहें ताकि जैनधर्म, संस्कृति, साहित्य और दर्शन के सही मूल्यांकन का मार्ग सभी को प्रशस्त हो सके। पुनः आपके प्रयास के प्रति अपनी शुभकामनाओं सहित

डॉ. फूलचन्द जैन 'प्रेमी'
अध्यक्ष - जैनदर्शन विभाग, सं. संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

अधिक प्रासंगिक व उपयोगी कृति

"जैन श्रमण : स्वरूप और समीक्षा" को पढ़ा, न केवल पढ़ा, अपितु उसे गम्भीरता पूर्वक देखा और विचारा भी। निस्सन्देह आपने जहाँ अत्यन्त निर्भीकतापूर्वक स्पष्टरीत्या सत्य को प्रस्तुत किया है, वहीं तथ्यों की प्रामाणिकता व विषय के प्रस्तुतीकरण में भी आपका प्रचुर श्रम व समर्पण स्पष्टतः परिलक्षित होता है। दो-दो बार पूरी कृति का आद्योपान्त अवलोकन व अध्ययन किया, जो कि प्रस्तुतीकरण व विषय की रुचिकरता का तो द्योतक है ही, साथ ही बांधकर रखपाने की क्षमता भी इसमें है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अत्यन्त आवश्यक और अपरिहार्य इस श्रेष्ठ कृति की निर्मिति आपके द्वारा सम्पन्न हुयी, इसके लिए आपका प्रयास स्फुटतया अभिनन्दनीय है। क्योंकि व्याधि जब भयंकरता को प्राप्त हो, तो उपयुक्त औषधि उतनी अधिक प्रासंगिक व उपयोगी हो जाती है।

सुदीप जैन
शास्त्री, एम.ए. (संस्कृत, प्राकृत) गोल्डमेडलिस्ट,
व्याख्याता - जैन दर्शन, केन्द्रीय विद्यापीठ, नयी दिल्ली

एक अभिनन्दनीय कृति

श्रमण परम्परा के अस्त-व्यस्त हो रहे आज के इस सन्धिकाल में डॉ. योगेशचन्द्र जी जैन ने 'जैन श्रमण : स्वरूप और समीक्षा' जैसा शोध-प्रबन्ध लिखकर सम्पूर्ण श्रमण-श्रावक परम्परा के ऊपर बहुत ही उपकार किया है। भ्रष्ट हो रहा साधु समाज निर्मल होकर पहले जैसे आदर्श होवे और समाज को दिशाबोध करे, ऐसे उदात्त भाव से और धर्म प्रेम से इस कृति की रचना की है। लेखक ने अपनी कलम पर योग्य संयम रखकर भी सत्य को अत्यन्त स्पष्ट और निर्भय होकर व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि

"कुछ श्रमण अपने मार्ग एवं उद्देश्य से भ्रष्ट हो जाते हैं, जिनको जैनधर्म में अवंदनीय ही कहा है। भ्रष्ट करने में बहुत बड़ा योगदान श्रावकों का है, यदि वे ऐसे श्रमणों को संरक्षण देना बन्द कर दें, तो वह अंकुश में आ सकता है।" और साधुचरित्र के विषय पर उन्होंने अत्यन्त करुणाभाव से बताया है "चरित्र एक सफेद कागज है। एक बार कलंकित हो जाने पर इसका पूर्ववत् उज्जवल होना कठिन है।" इस तरह लेखक अपनी इस कृति को अत्यन्त परिश्रम से लिखकर सबके अभिनन्दन के योग्य हुए हैं। इस प्रकार की अनेक कृतियाँ डॉ. योगेश द्वारा रचित होकर प्रकाशित होवें, इस तरह हार्दिक इच्छा रखता हूँ।

एम. वी. पाटिल,
बेलगांव (कर्नाटक)

सराहनीय श्रम

एक विहंगावलोकन से कह सकता हूँ कि आपका श्रम सराहनीय है। श्रमण के क्रिया-कलापों पर प्रस्तुत किया गया चिन्तन मुनिचर्या को प्रभावित करेगा। आशा है बढ़ती हुई शिथिलता में सुधार होगा। मैं आपके उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ।

डॉ. कस्तूरचन्द जैन "सुमन"
जैन विद्या शोध-संस्थान, महावीर जी (राज.)

ननु नच की गुंजाइश नहीं

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध आद्योपान्त पढ़ा। लेखक ने जैन श्रमण के स्वरूप की जो आगम सम्मत व्याख्या/समीक्षा प्रस्तुत की है; उसमें तो ननु नच की कोई गुंजाइश है ही नहीं; किन्तु वर्तमान सन्दर्भों में भी जो कुछ लिखा है वह भी अत्यन्त पठनीय एवं मननीय है।

लेखक की निर्भीकता एवं साहस के लिए बधाई। उज्ज्वल भविष्य की शुभकामनाएं।

नरेन्द्र कुमार जैन
शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य, एम. ए. (द्वय) बी. एड,
केन्द्रीय विद्यालय, खरगोन (म. प्र.)

कलम की पहरेदारी

उत्थापन से लेकर उपसंहार तक लेखक ने विषय पर बहुत सजगता से परिक्रमा की है। इस परिक्रमा ने प्रज्ञा की गरिमा का उत्कृष्ट परिचय भी दिया है। भयावह गहन अंधकार में निष्ठा से पहरा देते सिपाही की तरह लेखक ने कहीं-कहीं तो अज्ञानांधकार व पाखण्ड के विरुद्ध हाथ में मजबूती से कलम पकड़कर विषय पर निष्ठापूर्ण पहरेदारी की है, जो श्लाघनीय व सराहनीय है।

भानुकुमार शास्त्री,
एम. ए. (दर्शनशास्त्र), ललितपुर

समयानुकूल कृति

विद्वान लेखक ने श्रमण के समग्र जीवन पर बहुत वैज्ञानिक विश्लेषण किया है। श्रमणों की ऐतिहासिकता, संघभेद आदि पर अच्छा प्रकाश डाला है। अट्ठाइस मूलगुण, द्रव्यलिंग/भावलिंग आदि पर स्पष्ट विवेचन हुआ है। पुस्तक की भाषा-शैली बहुत सुन्दर है। कुछ स्थलों पर तो बहुत साहस का परिचय दिया। जिसकी आज अत्यधिक आवश्यकता थी। आखिर, कड़वी दवा तो कभी न कभी मरीज को देनी ही पड़ेगी। अतः यह एक समयानुकूल कृति बन गयी है।

ब्र. कैलाशचन्द "अचल" शास्त्री, ललितपुर

आज का अति आवश्यक/उपयोगी विषय

जैन श्रमण के यथार्थ स्वरूप की विवेचना, अनेक पहलुओं को स्पर्श करते हुए बड़ी शोध-खोज पूर्ण दृष्टि से इस पुस्तक में की गई है।

बहुत निर्भीक होकर अथक परिश्रम पूर्वक जो विषय इस पुस्तक में प्रस्तुत किया गया है, वह निश्चित ही पठनीय/मननीय है। इसमें डॉ. साहब ने जो ईमानदारी और रुचिपूर्वक जैन समाज को एक अपूर्व विषय व्यवस्थित रूप से दिया है, उसकी वर्तमान में अत्यन्त आवश्यकता एवं उपयोगिता थी, उसके लिए निश्चित ही वे प्रशंसा के योग्य हैं।

भविष्य में भी वह इसी प्रकार आत्मकल्याण करते हुए माँ जिनवाणी की सेवा करते रहेंगे - ऐसी मंगल कामना है।

ज्ञानधारा (मासिक)
संपादक, मुकेश तन्मय 'शास्त्री' विदिशा

प्रामाणिक, श्रमसाध्य, साहित्यिक शोधग्रन्थ

श्रमण संस्था के स्वरूप एवं विकास के संबंध में डॉ. योगेशचन्द्र जैन का शोधप्रबंध "जैन श्रमण : स्वरूप और समीक्षा" एक प्रामाणिक, साधार, श्रमसाध्य, साहित्यिक एवं वर्तमान परिप्रेक्ष्य में महत्वपूर्ण शोध-ग्रन्थ है। इसमें न केवल श्रमण संस्कृति किन्तु सम्पूर्ण जैनदर्शन का सार एवं उसका आचरण पक्ष समाहित हो गया है, जो मूलतः भावात्मक है।

शोध-प्रबन्ध में श्रमण-स्वरूप का अन्तर-बाह्य पक्ष अपने ऐतिहासिक विकास के तथ्यों को व्यक्त करते हुए साधार वर्णित हुआ है। फिर भी उसके अन्तरंग भावात्मक विशुद्ध निर्मल पक्ष का विस्तृत विवेचन इसकी उपयोगिता को द्विगुणित करता है। इससे श्रमणत्व में वीतरागता के अंशों की विद्यमानता के अन्तरंग पक्ष के साथ ही उसके समष्टिपरक-प्रभाव ध्वनित होते हैं जो वर्तमान में गौण हो गये हैं।

समग्ररूप से श्रमशील विद्वान लेखक का श्रम सार्थक हुआ है जिसके लिये वह बधाई का पात्र है। यह ग्रन्थ जैन साहित्य की श्री वृद्धि तो करेगा ही, निर्मल चित्त के

श्रमण-श्रावक अनायास ही उससे लाभान्वित हुये बिना नहीं रहेंगे। लेखक ने विद्यमान श्रमण संस्था की विकृतियों को उनके परिष्कार की भावना से उजागर करने का साहस किया है। आशा है, लेखक के प्रयास सार्थक सिद्ध होंगे और वीतराग धर्म को, वीतरागमार्ग-वीतरागत्व को पुनस्थापित करने का परम पुरूषार्थ प्रदर्शित करेगा।

डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल
कार्मिक प्रबन्धक
ओरियन्ट पेपर मिल्स अमलाई (मध्यप्रदेश)

तथ्यात्मक विवेचना

डॉ. योगेश चन्द्र जैन द्वारा लिखित "जैन श्रमणः स्वरूप और समीक्षा के अध्ययन से जैन श्रमणों के अन्तो बाह्य व्यक्तित्व को समझने की प्रेरणा मिलती है, श्रमण संस्कृति का गौरव पुरःस्थापित होता है। मुक्ति साधना के लिये स्वावलम्बन ही परम आवश्यक तत्व है। वस्तुतः श्रमणों का सारा जीवन अपने अन्तोबाह्य व्यक्तित्व से स्वावलम्बन की जीती-जागती मिसाल प्रस्तुत करता है। स्वालम्बन या स्वाधीनता के बिना मुक्ति की कल्पना भी नहीं हो सकती है अतः सिद्ध होता है कि मुक्तिमार्ग केवल स्वावलम्बी साधना के सहारे ही अधिगत हो सकता है। भारतीय संस्कृति में स्वावलम्बन पूर्ण साधना का मुखरित रूप हमें जैन श्रमणों के जीवन में दृष्टिगोचर होता है। अतएव उन्हें मुक्ति का सच्चा अधिकारी अथवा अग्रगण्य मुक्ति साधक मानने में कोई बाधा नहीं है। डॉ. जैन ने जैनश्रमण की तथ्यात्मक विवेचना प्रस्तुत कर अपनी निर्भीक एवं शास्त्रनिष्ठ बुद्रि को उजागर किया है। एतदर्थ वे साधुवादार्ह हैं।

डॉ. श्रीयांस कुमार सिंघई
अध्यक्ष - जैनदर्शन विभाग, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जयपुर।

स्पष्ट विवेचना

"जैन श्रमणः स्वरूप और समीक्षा" एक खोजपूर्ण कृति लेखक की लगन और साधना को प्रमाणित करती है। प्रस्तुत कृति में जैन श्रमण के धार्मिक ऐतिहासिक और साहित्यिक परिप्रेक्ष्य में प्रामाणिक तथ्यों को प्रस्तुत किया गया है। तथा जैन श्रमण का स्वरूप उनकी आचार-संहिता और भेद-प्रभेदों को पांच अध्यायों में समावेश करके अपनी स्पष्ट विवेचना से पाठकोपयोगी बनाया है।

डॉ. योगेशचन्द जैन के इस प्रयास से शुद्ध आम्नाय में श्रमण परम्परा का आगमानुकूल विकास हो सकेगा।

डॉ. सनतकुमार जैन
प्रवक्ता - संस्कृत
श्री दिगम्बर जैन आ. संस्कृत महाविद्यालय, जयपुर (राज.)

मुनि भक्ति की प्रतीक

जैनधर्म के मोक्षमार्ग में मुनिधर्म का महत्वपूर्ण स्थान है। मुनिधर्म का ज्ञान व उसको अंगीकार किए बिना मुक्ति नहीं, यह एक निर्विवाद सत्य है। परन्तु आज जैन समाज का उपद्रवग्रस्त वातावरण मुनिधर्म पर विचार-विमर्श के लिए अप्रत्यक्ष रोक लगाए हुए है, ताकि कुछ कलहप्रिय लोगों का अनाचार पनपता रहे। ऐसे लोगों की अज्ञानता को खुली चुनौती देते हुए मुनिधर्म का सांगोपांग व स्पष्ट विवेचन प्रस्तुत शोध-प्रबंध में किया गया है। इस कृति का सम्पूर्ण समाज में समादर होगा ऐसा विश्वास है।

लेखक की मुनिभक्ति की प्रतीक इस पुस्तक का अधिकाधिक प्रचार-प्रसार होना चाहिए।

सुन्दर व श्रेष्ठ कृति के लिए लेखक को कोटिशः बधाई।

अखिल बंसल, सम्पादक, समन्वय-वाणी,

ज्ञानवर्द्धन का पर्याप्त प्रमेय

"जैनश्रमण : स्वरूप और समीक्षा" पुस्तक पढ़ी; पढ़कर आनन्द आ गया। आपने यह पुस्तक सुन्दर और मौलिक लिखी है; परिश्रम भी बहुत किया है। साध्वाचार पर दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रन्थों का जगह-जगह तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है - यह अच्छी बात है। ज्ञानवर्द्धन का पर्याप्त प्रमेय भी दिया है। आज जो साधुओं में शिथिलाचार/अनाचार व्याप्त है, उस पर भी नामोल्लेख पूर्वक प्रकाश डाला है, यह साहसिक कदम है।

व्यवहारधर्म के तत्वार्थसूत्र में 2 भेद किये हैं, सागर, अनगार (वनवास)। आज तो यह दूसरा भेद लुप्त ही हो गया है। उसकी जगह महागार (महाधिपति, मोटरादि परिग्रही) प्रचलित हो गया है। दूसरे भेद की प्रथम शर्त वनवास थी, इस केन्द्र/धुरी से श्रमण च्युत होने के कारण आचार भ्रष्ट हो गया है, और भ्रष्ट होता जाएगा।

इन विचारणीय विषयों पर भी लिखकर यह लेखक बधाई का पात्र है। एतदर्थ शुभकामनाओं सहित।

रतनलाल कटारिया
केकड़ी
भूतपूर्व सम्पादक, "जैन सन्देश"

एक महान् प्रयास

, डॉ. योगेशचन्द्र जैन का "जैनश्रमण : स्वरूप और समीक्षा" शोध-ग्रन्थ पढ़ा, व पढ़कर हार्दिक प्रसन्नता हुयी। वास्तव में इस समय में ऐसे पुस्तकों के प्रकाशन की अत्यधिक

आवश्यकता है। क्योंकि यदि मुनिधर्म के सत्य स्वरूप को उजागर नहीं किया गया, तो कुछ दिनों में मुनिधर्म नाम की वस्तु ही नहीं रह जायेगी।

इस प्रबन्ध की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें विभिन्न प्रकरणों में तुलनात्मक अध्ययन करने पर अपना स्पष्ट निर्णय भी दिया है, जिससे पाठक भ्रमित नहीं हुआ है। तथा मुनिधर्म के सही स्वरूप का दिग्दर्श कराते हुए उसकी शिथिलताओं का भी स्पष्ट रूप से बड़े साहस के साथ विवेचन किया है, जिससे लेखक को खतरा भी हो सकता है, लेकिन इसकी तनिक भी परवाह किये बिना अपना कर्तव्य निभाया है।

लेखक अभी उदीयमान नक्षत्र है। यदि इसी प्रकार कठोर परिश्रम व निर्भीकता द्वारा कार्य करता गया, तो एक दिन सूर्य बनकर समाज को प्रकाश देगा - इसमें सन्देह नहीं। इनका यह महान प्रयास स्तुत्य व प्रशंसा के योग्य है।

पं. रूपचंद जैन, सेवानिवृत्त प्र. अ.
एम. ए., बी. टी. साहित्यरत्न, जयपुर।

प्रशंसनीय सफल प्रयास

"अहो ! देव-गुरु-धर्म तो सर्वोत्कृष्ट पदार्थ हैं।" इनमें शिथिलता रखने से अन्य धर्म किस प्रकार होगा ?" पण्डित प्रवर टोडरमलजी के ये वाक्य बारम्बार चित्त को आन्दोलित करते हुए आगमालोक में इन तीनों के स्वरूप को हस्तामलवत स्पष्ट बताने वाले साहित्य सृजन की आवश्यकता का सतत बोध दे रहे हैं।

इस सन्दर्भ में "जैन श्रमण : स्वरूप और समीक्षा" शोध-प्रबन्ध के माध्यम से भाई श्री डॉ. योगेश जी का यह सफल प्रयास भूरि-भूरि प्रशंसनीय है तथा साधुओं की आचारवृत्ति के बोधार्थ प्रस्तुत प्रबन्ध पूर्णतया सक्षम है। मुखपृष्ठ व अन्तिम कवरपृष्ठ के दृश्य भी वीतरागी गुरुओं के प्रति चित्त को स्वयमेव श्रद्धावनत बनाते हैं।

सर्व सुखार्थी जन निष्पक्ष भाव से वीतरागी श्रमणों का स्वरूप समझने हेतु इसका अध्ययन करें - आलोडन करें - इस भावना से अभिभूत होती हुयी लेखक के वृद्धिंगत उज्जवल भविष्य की कामना करती हूं।

ब्र. कल्पना बेन एम. ए.
ए- 4, बापूनगर, जयपुर

समाधि महोत्सव